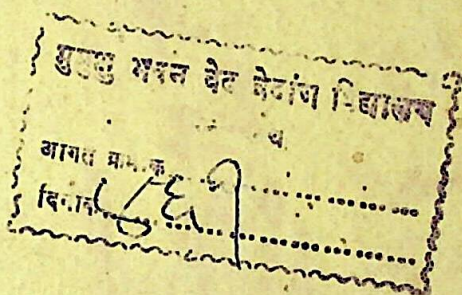


श्री पातञ्जलयोगदर्शन

(ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका सहित)



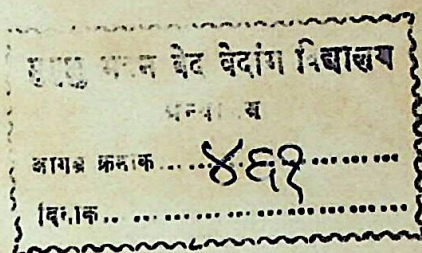
टीकाकार

पं० मनोहरलाल शर्मा



श्री पातञ्जलयोगदर्शन

[ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका सहित]



‘तस्मात् सम्यग्दर्शनार्थमेवेदं शास्त्रं,

न ज्ञानैश्वर्यविभूतिप्रयोजनम् ।’—शंकरभगवत्पाद

—इसलिये यह योगशास्त्र सम्यक् दर्शन (आत्मसाक्षात्कार)
के लिये है, ज्ञानैश्वर्य सिद्धियों के प्रयोजन के लिये नहीं है ।

टीकाकार

पं० मनोहरलाल शर्मा, एम० ए०

‘गुरुभक्तरत्न’, ‘अभिनव जनक’

प्रकाशक
रामविलास अग्रवाल
श्री कृष्ण कम्पनी
१५ जैबोर्न रोड
कलकत्ता ७००००१
फोन : २६०६१४

प्रथम संस्करण : १९८७

मूल्य : चालीस रुपये

मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

॥ श्रीः ॥
॥ पातञ्जलयोगदर्शन ॥

[टीकाकारकृत]

मङ्गलाचरणम्

ओंकारं परमानन्दं विद्यावारिधिमद्वयम् ।
मोहध्वान्तविनाशायऽहंस्करं तं नमाम्यहम् ॥ १ ॥
यस्य कारुण्यदृष्ट्यैव जडो भवति बोधवान् ।
महावेदान्तपञ्चास्यं यतिवर्यं नतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥
स्तुवे पतञ्जलिं व्यासं शङ्करं च मुनित्रयम् ।
कर्तुं सूत्रस्य भाष्यस्य क्रमाद् विवरणस्य च ॥ ३ ॥

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वेद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां,
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥ ४ ॥

मैं (मनोहरलाल शर्मा) अपने श्री गुरुदेव ओंकाराश्रमजी, महाराज दण्डी को, जो ब्रह्मविद्या के अगाध सागर हैं, ब्रह्मवित् होने से जो शुद्ध परमानन्द ब्रह्म ही हैं तथा जो अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के तुल्य हैं, प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

जिनके कृपाकटाक्षमात्र से मूढ़ भी ज्ञानवान् हो जाता है, ऐसे 'महावेदान्तकेसरी' श्रेष्ठ संन्यासी अपने गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

मैं पतञ्जलि, भगवान् वेदव्यास तथा शंकरभगवत्पाद, इन तीन मुनियों को प्रणाम करता हूँ, क्योंकि इन्होंने क्रमशः लोककल्याणकारी योगसूत्र, उन पर भाष्य तथा उस भाष्य पर विवरण (विशेष वर्णन) की रचना की है ॥ ३ ॥

'पातञ्जल योगसूत्रों की रचना करके चित्त के मल का, पाणिनि व्याकरण पर महाभाष्य की रचना करके वाणी के मल का तथा वेद्यक-शास्त्र (चरकसंहिता) की रचना करके शरीर के मल का, जिन मुनियों में श्रेष्ठ पतञ्जलिमुनि ने निवारण किया है, उनको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

श्री गुरुदेव के प्रति

आपके सतत एवं महान् प्रसाद और प्रेरणा से ब्रह्मविद्या के सच्चे बन्धु पातञ्जल योगदर्शन पर ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका लिखकर योग के शुद्ध पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित किया है। यह टीका मुमुक्षु-हितैषिणी, योग साधक पथप्रदर्शिनी तथा हठ-मन्त्र-लय योगियों की नेत्रोन्मीलिनी है। आपकी अंकुशवत् तीक्ष्ण प्रेरणा से यह सम्भव हो सका है। यह टीका आपके परम पावन पदारविन्दों में ससंकोच सश्रद्धा समर्पित है। यदि इसमें कुछ गुणगरिमा हो तो श्रेय आपका है, यदि त्रुटि हो तो दोष इस शरीरधारी का है।

सर्वकाल चरणचञ्चरीक

आपका आत्मा

मनोहरलाल शर्मा

सेवा में,

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मीभूत) अनन्तश्रीविभूषित स्वामी ओंकाराश्रम जी महाराज दण्डी।

टीकाकार पं० मनोहरलाल शर्मा, M. A.

‘गुरुभक्तवत्’, ‘अभिनव जनक’

ओंकार ग्रन्थावली का द्वादश पुष्प

सर्वज्ञ भगवान् पतञ्जलिमुनि को मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास को मैं घुटने टेककर प्रणाम करता हूँ।

सर्वज्ञ शंकरभगवत्पाद को मैं हृदय से प्रणाम करता हूँ।

श्री गुरुदेव को मैं रोम-रोम से प्रणाम करता हूँ।

अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ के स्थायी अध्यक्ष

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूर्वस्मिन्नाय गोवर्धनपोठाधोद्वर
जगद्गुरु अनन्तश्रीविभूषित शंकराचार्य
निरञ्जनदेवतीर्थ स्वामी, जगन्नाथपुरी

दिनांक १-१०-८५.

उपाधि-पत्र

जगन्नियन्ता भगवान् श्री नारायण, की, जो शाश्वत शान्ति, ज्ञान और माधुर्य के सनातन स्रोत हैं, असौम अनुकम्पा से तथा अनुल्लङ्घनीया प्रेरणा से हम श्री पण्डित मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तस्त' को ज्ञान, भक्ति तथा योगक्षेत्र में उनकी विपुल सेवा को मान्यता देते हुए 'अभिनव जनक' उपाधि से अलंकृत करते हैं।

पण्डितजी ने अपने श्रीगुरुदेव ओंकाराश्रमजी दंडो संन्यासी (ब्रह्मोभूत) के आदेश तथा प्रसाद से 'ओंकार ग्रन्थावली' की परम्परा आरम्भ की और आदिगुरु भगवान् शंकराचार्य के 'विवेकचूडामणि', 'अपरोक्षानुभूति' आदि आठ ग्रन्थों, भगवान् वेदव्यासप्रणीत 'रामगीता' तथा 'कैवल्योपनिषद्', 'हंसोपनिषद्', 'माण्डूक्योपनिषद्', 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'पंचदशो', 'जोवन्मुक्ति-विवेक', 'पातञ्जलयोगदर्शन' पर प्रामाणिक, स्पष्ट, सरल हिन्दी टीकायें तथा लक्ष्मीधर कविप्रणीत 'अद्वैत मकरन्द' पर अंग्रेजी टीका समस्त जीवन के अविश्रान्त प्रयास से मुमुक्षुओं के लिए लिखी हैं। बीस वर्ष तक ये ग्रन्थ संन्यासियों, विद्वानों तथा अधिकारियों में निःशुल्क वितरण किये हैं। पण्डितजी ने इन ग्रन्थों से धन नहीं कमाया।

पण्डितजी ने गृहस्थ-धर्म असंगल्प से पालन किया है। इन निरीह, निरपेक्ष, स्वगुणगोपनदक्ष मूर्धन्य विद्वान् को सम्मानित करके हमने सकल विद्वद्गोष्ठी का सत्कार किया है।

हम हृदय से पण्डितजी के अभ्युदय-निःश्रेयस की भगवान् से मंगल कामना करते हैं।

(जगद्गुरु श्री निरञ्जनदेवतीर्थ स्वामी शंकराचार्य, पुरी)



श्री रामविलासजी अग्रवाल

जन्म :
मार्गशीर्ष कृष्ण ७
संवत् १९८६
रविवार

स्वर्गवास :
आषाढ कृष्ण १०
संवत् २०४४
रविवार

ओंकार ग्रन्थावली के सत्रह पुष्प

लेखक के अन्य ग्रन्थ—शांकर-पंचरत्न

श्रीमच्छंकर भगवत्पादप्रणीत ग्रन्थों की सरल प्रामाणिक टीकाएँ :—

१. विवेकचूडामणि पर सप्तप्रकरणो ओंकारी प्रदीपिका
(अद्वैतवेदान्त का सर्वविख्यात ग्रन्थ) द्वितीय संस्करण ३०.००
२. अपरोक्षानुभूति पर चन्द्रकान्त प्रदीपिका
(अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थराज—परम उपयोगी) द्वि० सं० ११.००
३. आत्मबोध पर ओंकारी प्रदीपिका
(अद्वैतवेदान्त का सरल सुबोध ग्रन्थ) द्वि० सं० ११.००
४. वाक्यवृत्ति पर संजीवनी प्रदीपिका (सजिल्द)
(इस ग्रन्थ में महावाक्य का अर्थ-निरूपण है ।) द्वि० सं० ११.००
५. स्वात्मनिरूपण पर स्वयंसिद्धा प्रदीपिका
(अद्वैतवेदान्त का अद्भुत ग्रन्थ) ८.००
अन्य शांकर ग्रन्थ
६. ब्रह्मानुचिन्तन पर ओंकारी प्रदीपिका
(संन्यासियों, ज्ञान की तीसरी भूमिकावालों के लिए एवं
प्रौढ़ मुमुक्षुओं के लिए परम उपयोगी लघु ग्रन्थ) द्वि० सं० २.००
अन्य ग्रन्थ
७. भगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीरामगीता
पर ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका द्वितीय संस्करण
(भगवान् राम द्वारा लक्ष्मण को ब्रह्मज्ञान-दान) तृ० सं० ११.००
८. हंसविद्या-हंसोपनिषद् पर टीका, हंसोपनिषद् तत्त्वप्रकाशिका
(सोहं विद्या का हिन्दी में अद्वितीय ग्रन्थ) ६.००
९. कैवल्योपनिषद्भाष्यम्—ब्रह्मज्ञान का ललित ग्रन्थ ६.००
१०. श्रीमद्भगवद्गीता पर मुमुक्षुरंजनी प्रदीपिका
(मुमुक्षुओं की अमरबेलि, पितृपोषिणी, देवतोषिणी, विद्वज्जन-
विनोदिनी, सिद्धों की विश्रामभूमि यह अद्भुत टीका कृष्णार्जुन
तेजप्रदीप्त पाठकों की मातृवत् हितैषिणी है) ४०.००

११. अद्वैत मकरन्द, लक्ष्मीधर कविप्रणीत, पर पुरुषोत्तम प्रदीपिका
(English Commentary) अद्वैत वेदान्त का निदिध्यासन
ग्रन्थ । ३.००
१२. पातञ्जल योगदर्शन पर 'ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका'
(मुमुक्षुओं के लिये) योग का शुद्ध स्वरूप—यह प्रयोग संसिद्ध
ब्रह्मविद्या है । ४०.००
१३. विद्यारण्य मुनिप्रणीत—पंचदशी पर षोडशी टीका
वेदान्त का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ [अमुद्रित]
१४. विद्यारण्य मुनिप्रणीत—जीवन्मुक्तिविवेक पर ओंकारी प्रदीपिका
पंचदशी से अगला सोपान, जीवन्मुक्ति की गम्भीर
आनन्दानुभूति का पञ्चप्रकरणीय अमूल्य ग्रन्थ [अमुद्रित]
१५. स्वात्म-प्रकाशिका पर विवेकशीला प्रदीपिका
(आत्म-साक्षात्कार के लिए लघु अभ्यास ग्रन्थ) [अमुद्रित]
१६. शतश्लोकी पर गूढार्थप्रकाशिनी प्रदीपिका
(अद्वैत वेदान्त सम्बद्ध श्रुतियों का अर्थप्रकाशक ग्रन्थ) [अमुद्रित]
१७. माण्डूक्योपनिषद् (आगम प्रकरण) पर ओंकारी प्रदीपिका

प्राक्कथन

(विषय)

१. विषय-प्रवेश	१७
२. योग क्या है ?	१८
३. योग के तीन प्रकार के अधिकारी	१९
४. पातञ्जलयोग के विषय	२१
५. चार प्रकार के योग	२२
६. पातञ्जल-दर्शन की विशेषता	२३
७. क्या योगदर्शन वेदवाह्य है ?	२४
८. योग और वेदान्त में अविरोध	२७
९. योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि तथा ज्ञानियों की त्रिविकल्प समाधि	२९
१०. वेदान्तियों के लिए पातञ्जल समाधि की उपयोगिता	३०
११. गीता और योग	३१
१२. ईश्वर-प्रणिधान से समाधि	३७
१३. वेदान्त-ग्रन्थों में चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय	३८
१४. विविध	३९
१५. उपसंहार	४०

सूत्रविषयानुक्रमणिका

प्रथम : समाधिपाद

१. योगशास्त्रारम्भ १ २. योगलक्षण ७ ३. योग का फल ११ ४. वृत्तियों का स्वरूप १५ ५. पाँच प्रकार की वृत्तियाँ १८ ६. उनके नाम २० ७. तीन प्रकार के प्रमाण २० ८. विपर्यय के लक्षण २२ ९. विकल्पलक्षण २३ १०. निद्रालक्षण २४ ११. स्मृतिलक्षण २५ १२. वृत्तियों के निरोधोपाय २७ १३. अभ्यासलक्षण २९ १४. अभ्यास की दृढ़भूमि के उपाय ३० १५. वैराग्यलक्षण ३० १६. परवैराग्यलक्षण ३३ १७. सम्प्रज्ञात समाधि के भेद ३५ १८. असम्प्रज्ञात समाधि के लक्षण ३९ १९. विदेह और प्रकृतिलय योगियों की समाधि का कारण ४१ २०. अन्य योगियों के लिए असम्प्रज्ञात समाधि के उपाय ४३ २१. तीव्रसंवेग से शीघ्र ही असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि ४४ २२. उपायों की तारतम्यता से असम्प्रज्ञात समाधि-सिद्धि में	२३. ईश्वर-प्रणिधान से असम्प्रज्ञात समाधि की शीघ्र सिद्धि ४६ २४. ईश्वरलक्षण ४८ २५. ईश्वर में सर्वज्ञता ५१ २६. ईश्वर ही सबका गुण ५५ २७. ईश्वर का नाम 'ओम्' ५५ २८. ईश्वरप्रणिधान का उपाय ५८ २९. ईश्वरप्रणिधान का फल ६२ ३०. समाधि के अन्तराय ६४ ३१. समाधि के दूसरे विघ्न ६५ ३२. विघ्नोपशमन के उपाय ६६ ३३. चित्तप्रसादन के उपाय ६७ ३४. प्रसन्नचित्त की स्थिरता के छह उपाय, इनके सेवन से निर्मल चित्त स्थिर हो जाता है— १. प्राण के प्रच्छेदन और विधारण से (सूत्र ३४) ६९ २. विषयवती प्रवृत्ति से (सूत्र ३५) ७० ३. विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से (सूत्र ३६) ७२ ४. वीतराग महात्मा के ध्यान से (सूत्र ३७) ७४ ५. स्वप्न सुषुप्ति के अनुभवों पर विचार से (सूत्र ३८) ७४ ६. यथेष्टध्यान से (सूत्र ३९) ७५
--	---

४०. निर्मल एकाग्रचित्त का सामर्थ्य	७५	४६. ये चारों समापत्ति सबीज हैं	८१
४१. निर्मल स्थिर चित्त की समापत्ति स्वरूप का लक्षण	७७	४७. निर्विचार समापत्ति के उत्कर्ष का फल—अध्यात्मप्रसाद	८२
४२. सवितर्क समापत्ति के लक्षण	७८	४८. ऋतम्भरा प्रज्ञा कथन	८३
४३. निर्वितर्क समापत्ति के लक्षण	७९	४९. ऋतम्भरा प्रज्ञा का विशेष विषय	८४
४४. सविचारा निर्विचारा समापत्ति के लक्षण	८०	५०. ऋतम्भरा प्रज्ञा का संस्कार, अन्य संस्कारों का बाधक	८५
४५. सूक्ष्म विषयों की अवधि	८०	५१. निर्बीज समाधि	८६

द्वितीय : साधनपाद

१. क्रियायोग का स्वरूप-कथन	९७	१५. विवेकी के लिए सुख भी दुःखात्मक होने से हेय है	१११
२. क्रियायोग का फल	९८	१६. हेय का स्वरूप	११४
३. पाँच प्रकार के क्लेश	१००	१७. हेयहेतु का स्वरूप	११५
४. अविद्या सब क्लेशों का मूल, क्लेशों की चार अवस्था	१००	१८. दृश्य का स्वरूप	११६
५. अविद्यालक्षण	१०१	१९. गुणरूपी बाँस की चार पोरियाँ	१२१
६. अस्मितालक्षण	१०२	२०. द्रष्टा का स्वरूप	१२३
७. रागलक्षण	१०३	२१. द्रष्टा के लिए दृश्य होता है	१२५
८. द्वेषलक्षण	१०४	२२. मुक्त पुरुष के लिए नष्ट होने पर भी अमुक्त पुरुष के लिए माया अनष्ट	१२६
९. अभिनिवेश लक्षण	१०४	२३. संयोग का प्रयोजन, प्रकृति और पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि कराना	१३३
१०. सूक्ष्म क्लेश चित्तनाश से नष्ट होते हैं	१०५	२४. संयोग का कारण अविद्या	१३५
११. क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ ध्यान से नष्ट होती हैं	१०५	२५. हान का स्वरूप कैवल्य	१३६
१२. क्लेशों का कारण कर्माशय होता है	१०६	२६. हान का उपाय कथन करना	१३७
१३. कर्म का फल—जन्म, आयु, भोग	१०७	२७. अविप्लवा विवेकख्याति प्रज्ञा के सात प्रकार	१३८
१४. पुण्यकर्मों का फल सुख पापकर्मों का फल दुःख	१११		

२८. विवेकख्याति-प्राप्ति के साधन	१४२	४३. तपःफल	१५५
२९. योग के आठ अंग	१४३	४४. स्वाध्यायफल	१५६
३०. यम का स्वरूप	१४३	४५. ईश्वरप्रणिधानफल	१५६
३१. यमों का विशेष स्वरूप	१४६	४६. आसनस्वरूप	१५७
३२. नियम का स्वरूप	१४७	४७. धामनसाधन-कथन	१५९
३३. यम-नियम के प्रतिबन्धकों के बाध का उपाय	१४८	४८. आसनसिद्धि-फल	१५९
३४. प्रतिपक्षियों में दोष-दर्शन	१४९	४९. प्राणायाम का सामान्य स्वरूप	१६०
३५. पहले नियम । अहिंसा-प्रतिष्ठा का फल	१५१	५०. प्राणायाम का विशेष स्वरूप	१६१
३६. सत्य-प्रतिष्ठा का फल	१५१	५१. चतुर्थ प्राणायाम का स्वरूप	१६५
३७. अस्तेय-प्रतिष्ठा का फल	१५२	५२. प्राणायाम से प्रकाशावरण क्षीण	१६६
३८. ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा का फल	१५२	५३. प्राणायाम से धारणा की योग्यता	१६७
३९. अपरिग्रह-प्रतिष्ठा का फल	१५३	५४. प्रत्याहार का स्वरूप	१६८
४०. नियम शौच का फल	१५३	५५. प्रत्याहार का फल	१६९
४१. "....." अन्तःशौच का फल	१५४		
४२. सन्तोषफल	१५४		

तृतीय : विभूतिपाद

१. धारणालक्षण	१७३	११. समाधिपरिणामलक्षण	१८२
२. ध्यानलक्षण	१७४	१२. एकाग्रतापरिणामलक्षण	१८२
३. समाधिलक्षण	१७५	१३. धर्मादि तीन परिणामों का व्याख्यान	१८४
४. संयमस्वरूप	१७६	१४. धर्मों का लक्षण	१८६
५. संयमजय का फल	१७६	१५. परिणाम के अन्य होने में कारण	१८७
६. संयमप्रयोग-मर्यादा	१७८	१६. परिणामत्रय में संयम का फल	१८९
७. धारणाध्यानसमाधि अन्तरंग साधन	१७९	१७. शब्द-अर्थ-प्रत्ययविवेक में संयम का फल	१९०
८. निर्बीजसमाधि की अपेक्षा से धारणादि बहिरंग साधन	१७९	१८. संस्कारों के साक्षात् से पूर्वजन्म का ज्ञान	१९१
९. निरोध-परिणाम का लक्षण	१८०		
१०. निरोध-परिणाम से चित्त की शान्त प्रवाहिता	१८१		

१९. २०. परचित्त में
संयम से परचित्तज्ञान, परन्तु
उस चित्त के विषय का ज्ञान
नहीं होता १९२-१९३
२१. काया के रूप में संयम का
फल-अन्तर्धान होना १९४
२२. कर्म में संयम का फल—
मृत्यु का ज्ञान १९४
२३. मैत्री आदि में संयम का
फल-बलप्राप्ति १९६
२४. बल में संयम का फल १९६
२५. ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के
प्रकाश डालने से योगी
को सूक्ष्म, छिपी हुई दूरस्थ
वस्तु का ज्ञान १९७
२६. सूर्य में संयम से भुवनज्ञान १९७
२७. चन्द्रमा में संयम से तारा-
व्यूहज्ञान २०१
२८. ध्रुव में संयम से ताराओं
की गति का ज्ञान २०१
२९. नाभिचक्र में संयम से
कायव्यूहज्ञान २०२
३०. कण्ठकूप में संयम में भूख
प्यास की निवृत्ति २०२
३१. कूर्मनाडी में संयम से
स्थिरता २०३
३२. मूर्धा की ज्योति में संयम
से सिद्धों के दर्शन २०३
३३. प्रातिभज्ञान उत्पन्न होने
पर सर्व का ज्ञान २०३
३४. हृदयदेश में संयम करने
से चित्त के स्वरूप का ज्ञान २०४
३५. पुरुषज्ञान के साधक संयम
का कथन २०५
३६. स्वार्थ संयम से छः सिद्धियाँ २०८
३७. ये सिद्धियाँ समाधि में
विघ्न होती हैं २०८
३८. चित्त का परदेह में प्रवेशो-
पाय २०९
३९. उदानवायु-जय का फल—
भूमि से असंगता २१०
४०. समानवायु-जय का फल—
दीप्तिमान् होना २११
४१. श्रोत्र और आकाश-संबंध
में संयम का फल-दिव्य
श्रोत्र २१२
४२. काया और आकाश के
संबंध में संयम से आकाश-
गमन २१२
४३. महाविदेहा वृत्ति से प्रकाशा-
वरण-क्षय २१३
४४. पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों
के जय का उपाय २१४
४५. अणिमादि सिद्धियों का
प्रादुर्भाव तथा कायसम्पत्-
प्राप्ति २१५
४६. कायसम्पत्-स्वरूप २१८
४७. इन्द्रियजय का उपाय २१८
४८. इन्द्रियजय से तीन सिद्धियाँ २१९
४९. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र
से योगी सबका स्वामी
और सर्वज्ञ हो जाता है २२०
५०. ऊपर कथित सिद्धि से भी
वैराग्य होने पर कैवल्य २२१

५१. योगसाधना में देवताओं द्वारा विघ्न उपस्थित २२२
 ५२. क्षण और उसके क्रम में संयम से विवेकज्ञान २२४
 ५३. विवेकज्ञान का उपयोग २२६
 ५४. विवेकज्ञान का स्वरूप २२८
 ५५. सत्त्वपुरुष की शुद्धिसमानता से कैवल्यम् २२९

चतुर्थ : कैवल्यपाद

१. सिद्धियों के विविध कारण २३४
 २. सिद्धियों में शरीर इन्द्रियादिकों में अलौकिक परिणाम कहाँ से आता है ? इसका उत्तर २३५
 ३. धर्मादियों में प्रकृति-प्रयोजकता नहीं होती २३८
 ४. अस्मितामात्र से निर्माण-चित्त २४०
 ५. योगी का मुख्यचित्त ही निर्माणचित्तों का प्रयोजक होता है २४१
 ६. ध्यानज चित्त कमशिय-शून्य होता है २४२
 ७. योगी और अयोगी के कर्म-भेद २४३
 ८. कर्मफलभोगानुकूल ही-वासनाओं की अभिव्यक्ति २४५
 ९. स्मृति और संस्कारों की एकरूपता २४६
 १०. वासना अनादि होती है २४७
 ११. परन्तु उनका अन्त हो सकता है २४७
 १२. वासना स्वरूप से रहती है २४९
 १३. प्रकट और सूक्ष्म धर्म गुण-रूप ही होते हैं २५०
 १४. परिणाम की एकता से वस्तु-स्वरूप २५१
 १५. चित्त और वस्तु भिन्न हैं २५२
 १६. वस्तु चित्त के अधीन नहीं होती २५२
 १७. विषय से उपरंजित चित्त विषय का ज्ञाता होता है, अन्यथा नहीं २५३
 १८. पुरुष अपरिणामी होने से चित्त की सब वृत्तियों का सर्वकाल में ज्ञाता होता है २५४
 १९. दृश्य होने से चित्त स्वप्रकाश नहीं होता २५५
 २०. एक ही काल में चित्त को अपना और विषय का ज्ञान नहीं हो सकता २५५
 २१. एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानने से दो दोष २५६
 २२. अपरिणामी होते हुए भी चित्त बुद्धिवृत्ति को जानती है २५७
 २३. द्रष्टा और दृश्य से रंगा हुआ चित्त सर्वार्थक होता है यानी पुरुष को भोग अपवर्ग देनेवाला होता है २५९

२४. चित्त दूसरे के लिये यानी पुरुष के लिये होता है, क्योंकि वह संहत्यकारी है	२६०	२८. विवेकी के व्युत्थानसंस्कारों के नाश का उपाय	२६५
२५. आत्मज्ञानाधिकारी की पह- चान	२६१	२९. धर्ममेघसमाधि	२६६
२६. आत्मज्ञानाधिकारी का चित्तस्वरूप	२६३	३०. धर्ममेघसमाधि से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति	२६७
२७. विवेकी के चित्तव्युत्थान में हेतु	२६४	३१. धर्ममेघसमाधि-काल में चित्त की अवस्था-कथन	२६८
		३२. गुणपरिणामक्रम-समाप्ति	२६९
		३३. क्रमलक्षणम्	२७०
		३४. कैवल्यस्वरूप	२७२



प्राक्कथन

(१) विषय-प्रवेश

पातञ्जल योगसूत्रों पर एकमात्र मुख्य भाष्य सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास-रचित है । शंकरभगवत्पाद ने उस भाष्य पर विवरण लिखा है । वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी व्याख्या लिखी । विज्ञानभिक्षु ने भाष्य पर योगवार्त्तिक लिखा है । विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र की टीका का सहारा लिया है । मुख्य तो ये ३ ही हैं ।

हमारी ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका में ब्रह्मविद्या तरंगित होती है, अतः इसका ऐसा ही नामकरण किया है । पातञ्जल योगदर्शन एक स्वतंत्र दर्शन है, परन्तु उसका प्रयोजन अपने लिये नहीं है, ब्रह्मविद्या के लिये है । शंकरभगवत्पाद अपने भाष्यविवरण में लिखते हैं, 'तस्मात् सम्यग्दर्शनार्थमेवेदं शास्त्रं, न ज्ञानैश्वर्यविभूतिप्रयोजनम् ।' इसलिये ब्रह्मज्ञान के लिये ही पातञ्जलशास्त्र का प्रयोजन है, न कि ज्ञानैश्वर्य अणिमादि सिद्धियों के लिये इस शास्त्र का प्रयोजन है । योगवार्त्तिककार लिखते हैं, 'योगो मोक्षहेतुतया विहितः ।' 'ज्ञानसाधनमात्रस्तु योगः ।' (प्रथम पाद के प्रथम सूत्र की टीका से उद्धृत) मोक्ष के लिये योग कहा गया है । योग ज्ञान का साधनमात्र है । योग एक प्रकार से प्रयोगसिद्ध ब्रह्मविद्या है । योगदर्शन को आप वेदान्तशास्त्र का प्रकरणग्रन्थ कह सकते हैं, क्योंकि यह दर्शन मनोनाश के उपाय बताता है । निदिध्यासन में योग उपयोगी है । इतने मात्र से योग की स्वतंत्रदर्शनसत्ता क्षीण नहीं होती है । यह बात आगे स्पष्ट करेंगे ।

हमने अपना पुरुषार्थ इस प्रकार के प्रश्नों में नहीं लगाया है कि वेदव्यास कौन हैं ? कब हुए ? एक हैं कि अनेक हैं ? पातञ्जलि मुनि कौन हैं ? कब हुए ? एक हैं या अनेक हैं ? उन्होंने जो लिखा है, उस पर हमारी दृष्टि रही है । 'मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ।' सम्प्रदाय-परम्परा में जो वेदव्यास की मान्यता है वही हमने अङ्गीकार की है । भगवान् वेदव्यास द्वापर के अन्त में प्रकट हुए और भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार उनका समय आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व है । वे एक ही हैं । सर्वज्ञ कल्पजीवी भगवान् वेदव्यास पराशरात्मज शुक्तात तपोनिधि हैं । इन्होंने वेदराशि को चार भागों में विभक्त किया । ब्रह्मसूत्र, १८ पुराण, महाभारतादि ग्रंथों की रचना की । इन्होंने ही योगसूत्रों पर भाष्य लिखा है । ऐसा दिव्य भाष्य विश्व के

समस्त विद्वान् मिलकर भी नहीं लिख सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं हैं। पतञ्जलिमुनि अयोनिज शेषावतार सिद्ध पुरुष हैं। इन्होंने योगसूत्रों को रचा नहीं है, अपितु समाधि-अवस्था में ये सूत्र प्रकट हुए हैं, अतः ये चरम सत्य को प्रकाशित करते हैं। उन्हींको पतञ्जलिमुनि ने प्रकाशित किया है। इसीलिये ये पूर्ण हैं।

क्योंजी ! भगवान् वेदव्यास ने योगसूत्रों पर भाष्य क्यों लिखा ? श्रवण करो । भगवान् वेदव्यास ने सब उपनिषदों के समन्वयरूप ब्रह्मसूत्र लिखे तथा भगवान् कृष्ण और अर्जुन के सम्वाद को श्रीमद्भगवद्गीता रूप से ७०० श्लोकों में ग्रथित किया । ब्रह्मविद्या की यह निधि है । शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्र, गीता तथा दश मुख्य उपनिषदों पर भाष्य लिखकर ब्रह्मविद्या-परम्परा को सुस्थिर किया । यह विचार कर कि योगसूत्रों के अर्थ का कहीं कोई अनर्थ न कर दे, भगवान् वेदव्यास ने योगसूत्रों पर ब्रह्मविद्या के रक्षण के लिये स्वयं भाष्य लिखा और योगसूत्रों की दर्शनस्वतंत्रता की संकीर्णता को तोड़ने के लिये और उदारता भरने के लिये योग-परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में असम्प्रज्ञात समाधि को भी सम्मिलित कर दिया । अपने भाष्य में 'द्विविधः स योगः चित्तवृत्तिनिरोध इति' (१.२ सूत्र के भाष्य से उद्धृत) यह योग दो प्रकार का है—सम्प्रज्ञात योग तथा असम्प्रज्ञात योग । सर्ववृत्तिनिरोध से असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है । असम्प्रज्ञात समाधि वेद के महावाक्य से सिद्ध होती है । यदि पतञ्जलिमुनि सर्ववृत्तिनिरोध को योग कह देते तो सम्प्रज्ञात समाधि योगपरिधि में न आती और योगदर्शन की स्वतंत्रता भंग हो जाती । भगवान् वेदव्यास ने अपने भाष्य से योग को ब्रह्मपरक बनाया है । औपनिषद् ब्रह्मज्ञान और योगज ब्रह्मज्ञान के साधनों को एक तार में बाँधने के लिये भगवान् वेदव्यास ने योगसूत्रों पर भाष्य की रचना की है ।

(२) योग क्या है ?

पतञ्जलिमुनि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१.२)—चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है, ऐसा कहा है । परन्तु यह तो निषेधात्मक परिभाषा है । इसका प्रयोजन बताये बिना यह अधूरी है, अतः तीसरे सूत्र में कहते हैं—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१.३)—उस समय द्रष्टा (गौण द्रष्टा, जीवात्मा) की अपने स्वरूप (ब्रह्म) में स्थिति हो जाती है । इन दोनों सूत्रों के सहपाठ से मुख्य योग की परिभाषा हो जाती है । 'योगो नाम मुख्यो जीवस्य ब्रह्मणैक्यम् ।' (यतिधर्मसंग्रहः) किस प्रकार ?

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।

एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ॥

—मन को वृत्तियों से रहित करके परमात्मा के साथ एकीकरण करके साधक जन्म-मरणवन्धन से मुक्त हो जाता है । यही मुख्य योग है । योग का प्रयोजन भी स्वरूप-

स्थिति है। यहां ब्रह्मविद्या है। क्योंजी ! भगवान् कृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में दुःख के वियोग को योग कहा है (देखिये श्लोक ६.२२३)। श्रवण करो। भगवान् ने २०, २१, २२, २२½ साढ़े तीन श्लोकों में योग की परिभाषा की है। इसका तात्पर्य विधिमुख से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति तथा निषेधमुख से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति बताई है। परमानन्द ही ब्रह्मा का स्वरूप है। पातञ्जलयोग से कोई विरोध नहीं है।

क्योंजी ! पतञ्जलिमुनि द्वारा प्रस्तुत योग-परिभाषा अघूरी है, क्योंकि 'योग-चित्तवृत्तिनिरोधः' कहने से असम्प्रज्ञातयोग योग से बाहर रह जाता है। सर्ववृत्ति-निरोध होने पर असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। श्रवण करो। यह परिभाषा अघूरी नहीं है। यदि पतञ्जलिमुनि सर्ववृत्तिनिरोध को योग कह देते तो राजयोग और पातञ्जलयोग में कोई अन्तर ही नहीं रहता और योगदर्शन की स्वतन्त्रता ही रूस हो जाती।

चित्तवृत्तिनिरोध पुरुषार्थसाध्य है। चित्तनिरोध सिद्धि के लिये उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ साधकों के लिये क्रमशः अम्यासवैराग्य, क्रियायोग तथा अष्टांगयोग साधन बताये हैं। इन साधनों के सम्यक् अनुष्ठान से धर्ममेघ समाधि (सम्प्रज्ञात समाधि की सर्वोच्च अवस्था) प्राप्त हो जाती है। धर्ममेघसमाधिप्राप्त योग को 'ससंधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा' उपलब्ध हो जाती है। प्रथम चार प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा' को उपलब्धि के साथ योगसाधन समाप्त हो जाते हैं। इन चारों की चुगड़ी को कार्यविमुक्ति-अवस्था कहते हैं। ये चार अवस्थायें इस भाँति हैं—(१) जो जानना था सो जान लिया। (२) जो दोष हटाने थे वे हटा दिये। (३) जो प्राप्त करना था सो पा लिया। (४) जो करना था सो कर लिया। इससे आगे पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं। (देखिये सूत्र २.२७—तस्य ससंधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।)

इनसे आगे तीन अवस्थाओं को प्रज्ञा की चित्तविमुक्ति-अवस्था कहते हैं। ये तीन अवस्थायें, बिना प्रयत्न के, स्वतः उपलब्ध होती हैं। अब गुणों से सम्बन्ध छूट जाता है। ये तीन अवस्थायें योगफल हैं। जैसे वृक्ष लगाने में, उसके पोषण-रक्षण में तो पुरुषार्थ करना पड़ता है, परन्तु फल उत्पन्न करने में नहीं। फल तो स्वतः उत्पन्न होते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में, बिना पुरुषार्थ के ही, असम्प्रज्ञातयोग लाभ तथा योगफल यानी कैवल्यवस्था प्राप्त होते हैं। इसलिये पातञ्जलयोग-परिभाषा पूर्णतम है, अघूरी नहीं। इस परिभाषा से योगदर्शन की स्वतन्त्रता तथा ब्रह्मविद्या के साथ बन्धुत्व स्थापित रहता है।

(३) योग के तीन प्रकार के अधिकारी

सूत्रकार ने तथा भाष्यकार ने योगाधिकारियों का वर्गीकरण नहीं किया है,

परन्तु विज्ञानभिक्षु ने उत्तम, मध्यम तथा मन्द इन तीन श्रेणियों में योगसाधकों को विभाजित किया है। भगवान् वेदव्यास ने समाहितचित्त व व्युत्थितचित्त दो प्रकार के साधक कहे हैं। समाधिपाद, यानी प्रथमपाद समाहितचित्त योगाधिकारियों के लिये बताया और साधनपाद यानी दूसरा पाद व्युत्थितचित्तवालों के लिये कहा है। भाष्यकार (वेदव्यास) ने साधनपाद के आरम्भ में लिखा है, 'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यात् इति एतदारभ्यते।' समाहितचित्त साधक के लिये (प्रथम पाद में) योग कहा जा चुका है; अब व्युत्थितचित्त साधक भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकता है, यह बताने के लिये यह (दूसरे पाद का) प्रथम सूत्र कहा जाता है। इसमें क्रियायोग कहा गया है। इस क्रियायोग को विस्तार से २७वें सूत्र तक कहा है। यह क्रियायोग-साधन मध्यम श्रेणी के साधकों के लिये है। मन्दाधिकारियों के लिये २९वें सूत्र में कथित यमनियमासनादि अष्टांगयोग साधन बताया है। मन्दाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी दोनों ही व्युत्थितचित्त होते हैं। जिन्होंने पूर्वजन्मों में योग के बहिरंग साधनों को सिद्ध कर लिया है, वे इस जन्म में उन साधनों की अपेक्षा के बिना ही योगमार्ग पर आरुढ़ हो जाते हैं। वे योग के उत्तम साधक होते हैं। उनके लिये अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बताये हैं, चित्तवृत्ति निरोध के लिये। देखिये सूत्र अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१.१२) उन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। उनको क्रियायोग अथवा अष्टांगयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती।

वेदान्तियों की दृष्टि में जिनके कषाय पक चुके हैं, वे ब्रह्मविद्या के श्रवणमात्र से बोधवान् हो जाते हैं। उनके मनननिदिध्यासनादि श्रवण के साथ-साथ चलते हैं। राजा जनक, खट्वांग, अर्जुनादि साधक ज्ञान के उत्तम साधक हैं। जिनके कषाय अधपके हैं, उनको ब्रह्मविद्या के साथ योग का आश्रय लेना पड़ेगा, यानी वे ब्रह्माभ्यास भी करेंगे और योगाभ्यास भी करेंगे। ऐसे साधक ज्ञान के मध्यमसाधक हैं, परन्तु योग के लिये वे उत्तमसाधक होंगे। उनकी श्रवण की हुई ब्रह्मविद्या योगाभ्यास से जागृत हो जायेगी और उनको आत्मसाक्षात्कार हो जायेगा।

चित्तनाश' के दो उपाय हैं—सम्यक्-दर्शन और योग। सम्यक्-दर्शन का अर्थ है वेदान्त-विचार। योग का अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। विचार-सामर्थ्य से भी निर्विकल्प समाधि लगती है और योग से भी। किसीके लिए सम्यगीक्षण असाध्य है, किसीके

१. द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य, योगं ज्ञानं च राधवः। योगो वृत्तिनिरोधो हि, ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ असाध्यः कस्यचिद्योगो, कस्यचित्तत्वनिश्चयः। प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगद् परमः हि वः॥

लिए योग । उद्दालक मुनि ने निर्विकल्प समाधि के लिए योगालम्बन लिया था । योग-चासिष्ठ सुनकर रामजी समाहित हो गये थे । गीताज्ञान श्रवण कर अर्जुन समाधिस्थ हो गये थे । वे विचार से पार हुए हैं । राणी चुडाला योग से सिद्ध हुई और उसके पति शिखिबज्र राणी चुडाला के उपदेश से, विचारमात्र से प्रबुद्ध हुए थे ।

अत्र योग के मन्दाधिकारियों के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि इन आठ योगांगों को बताया है । इनके अभ्यास से वे मध्यम अधिकारी हो जायेंगे तथा अन्त में धारणा-ध्यान-समाधि के अभ्यास से उनको विवेक-ख्याति उदित होगी । इस श्रेणी में अधिकतर गृहस्थ साधक आते हैं । यमादि प्रथम पंच योगांगों के अभ्यास से शरीर, प्राण एवं इन्द्रियाँ बश में आती हैं । धारणा, ध्यान तथा समाधि से चित्त बश में आता है । चित्त और मन एकार्थक है । मन्द साधक को योग-सिद्धि में अधिक समय लगता है । मध्यम को उससे कम तथा उत्तम साधक को और भी कम । आत्मसाक्षात्कार अन्तिम जन्म में होता है । लक्ष्य की एकता से सारे प्रकार के साधक उत्तम हो हैं ।

(४) पातञ्जलयोग के विषय

पातञ्जल योगशास्त्र में चार पाद हैं । प्रथम पाद में ५१ (इक्यावन) सूत्र हैं । इसमें समाधि विशेष रूप से प्रतिपादित हुई है, इसलिये इस पाद का नाम समाधिपाद है । इस पाद में योग का उद्देश्य, उसके लक्षण, चित्तवृत्ति के भेद, चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय, अभ्यासवैराग्य, चित्त को स्थिर करने के उपाय, योग के दो भेद सम्प्रज्ञातयोग तथा असम्प्रज्ञातयोग, सम्प्रज्ञातयोग के अवान्तर भेद, ईश्वर का स्वरूप, प्रणवोपासना आदि विषय दिये गये हैं ।

द्वितीय पाद में ५५ (पचपन) सूत्र हैं—इस पाद में कैवल्यसाधक अथवा सम्यग्-दर्शनसाधक योगसाधनों का प्रधानता से वर्णन है, इसलिये इसका नाम साधनपाद है । इस पाद में क्लेशतनूकरण तथा समाधि में अभिनिधि के साधन क्रियायोग, क्लेशकर्म-विपाक, वे दुःखरूप होने से हेय हैं, हेयहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय—योग के चार व्यूहों का वर्णन, अष्टांगयोगसाधन, प्रथम यमादिपंचक योग के बहिरंग साधन दिये गये हैं ।

तृतीय पाद में ५५ (पचपन) सूत्र हैं । जो योगसाधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, उसको आनुषङ्गिक फलरूप योगविभूतियों की प्रधानता से प्रतिपादन होने के कारण इस पाद का नाम विभूतिपाद है । इसमें योग के अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों का संयम, संयम के लक्ष्य परिणामभेद, संयमसाध्य अतीतानागत ज्ञान-भुवनज्ञान-कायव्यूहज्ञानादिरूप विभूतियाँ, इन्द्रियजयादिरूप साक्षात् योगांगभूत सिद्धियाँ, योगफलरूप तारकसंज्ञितविवेकज्ञानसिद्धि इत्यादि विषय दिये हैं ।

चतुर्थ पाद में ३४ (चौतीस) सूत्र हैं। सकल योगैश्वर्य से विरक्त योगियों के लिए प्रधानरूप से इस पाद में कैवल्य का प्रतिपादन होने से इस पाद का नाम कैवल्य-पाद है। सिद्धिप्राप्ति के अन्य साधन, अस्मिता से निर्माणचित्त, योगी-अयोगी के कर्म, अनादिवासना, उसका अभाव, योगयोग्य चित्त, द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति, कैवल्य आदि विषय दिये हैं।

(५) चार प्रकार के योग

योगसाधन-प्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ योगप्रणाली का नाम राजयोग है। उन्नत अवस्था के त्रिविध साधकों को (हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग के साधकों को) अन्तिम लक्ष्य मोक्ष पर पहुँचने के लिए राजयोग की सहायता लेनी पड़ेगी।

राजयोग—केवल विचारशक्ति द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करने को जो योगविधि है, उसे राजयोग कहते हैं। राजयोग साक्षात् ब्रह्मविद्या का नाम है। सब योगों में यह राजा के सदृश है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।' (गीता १०.३२)—सब विद्याओं में मैं ब्रह्मविद्या हूँ। राजयोग सोलह अंगों में विभक्त है। इसमें ब्रह्मध्यान (आत्मध्यान) किया जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (यजुर्वेद-महावाक्य) इसका महामन्त्र है। मन्त्र-योग, हठयोग तथा लययोग से जो समाधि प्राप्त होती है, उसे सविकल्प समाधि कहते हैं। सविकल्प समाधि से कैवल्यमोक्ष नहीं होता, सिद्धियाँ मिल सकती हैं। राजयोग की समाधि ही निर्विकल्प समाधि है। निर्विकल्प समाधि में ही ब्रह्म का आत्मरूप से साक्षात्कार होता है।

मन्त्रयोग—नाम और रूप के अवलम्बन से जो साधन-प्रणाली निर्णीत हुई है, उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग भी सोलह अंगों में विभक्त है। किसी देवता के मन्त्र को उस देवता का वाङ्मय शरीर कहते हैं। गुह्य से मन्त्र पाकर उसकी चतुरंग साधना से देवता का दर्शन होता है। मन्त्रयोग में देवता और उपासक दो होते हैं, अतः मन्त्रयोगियों को सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य मोक्ष तो मिल सकते हैं, परन्तु कैवल्यमोक्ष नहीं मिल सकता। ध्रुवभक्त को मन्त्रयोग से ध्रुवपद तो मिल गया है, परन्तु कैवल्यमोक्ष नहीं। मन्त्रयोग में स्थूल ध्यान होता है। रावणादि दैत्यपतियों की मन्त्र-बल से सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँच हुई थी।

हठयोग—हठयोग में शरीर की शुद्धि से चित्तवृत्ति को निरोध किया जाता है। इसके सात अंग हैं। इसका ज्योतिर्ध्यान है। हठयोग के आचार्यों ने स्वीकार किया है कि हठयोग का प्रयोजन राजयोग की उपलब्धि है।

लययोग—लययोग के साधक जगत्-प्रसविनी भगवती कुलकुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके मूलाधार से लेकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए, सहस्रार में शिव के साथ मिलन कर चित्तवृत्तिनिरोध करते हैं। चित्तवृत्तिलय से सुख होता है। कुलकुण्डली के सहस्रार से उतरने पर पुनः द्वैत खड़ा हो जाता है। लययोग-साधकों को भी कैवल्यमोक्ष के लिए राजयोग की शरण लेनी पड़ेगी। जब तक पुष्प और प्रकृति की, ब्रह्माकार वृत्ति से, अहंरूप से एकत्वसिद्धि नहीं होगी, तब तक कैवल्यमोक्ष कहाँ ? कैवल्यमोक्ष पुरुषार्थसाध्य है, देवकृपासाध्य नहीं।

(६) पातञ्जल-दर्शन की विशेषता

ब्रह्माजी ने सृष्टि रचकर लोककल्याण के लिए वेद, धर्मशास्त्र, योगशास्त्रादि प्रकट किये। ब्रह्माजी (हिरण्यगर्भ) योग के आदिवक्ता हैं। उनसे उपदिष्ट योगशास्त्र वेदों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत, पुराणादि शास्त्रों में फैल गया। इतने विस्तृत क्षेत्र में से योगशास्त्र का मौलिक स्वरूप खोजना दुर्लभ हो गया। तब ईश्वरेच्छा से सर्वज्ञ पतञ्जलिमुनि ने समाहित होकर योग के स्वरूप का साक्षात्कार किया और चरम सत्य योगज्ञान को १९५ सूत्रों में लोकहित के लिए प्रकट किया।

अतीन्द्रिय विषयों में प्रवेश कराने के लिए दर्शनशास्त्र ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक साधन है। जो शास्त्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् का वास्तविक रहस्य समझा दे, उसीको दर्शनशास्त्र कहते हैं। योगदर्शन कठिन विषय है। इसका अतीन्द्रिय विषयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। योगदर्शन के आचार्य को स्वयं योगी होना चाहिए। इनके अभाव में यथार्थ योगशिक्षा का अभाव-सा हो गया है।

भारतीय दर्शनों में योगदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका किसीसे विरोध नहीं। यह सर्वप्रिय है। लौकिक कार्य, कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड सब जगह चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा है। योगशास्त्र चित्त को एकाग्र करने की विधि बताता है। जिस ब्रह्मतत्त्व की उपनिषदादि ग्रन्थ व्याख्या करते हैं, उस ब्रह्मतत्त्व के साक्षात् दर्शन के उपाय योगदर्शन कथन करता है। यह दर्शन वर्णाश्रमधर्म-निरपेक्ष स्त्री, पुष्प, बाल, वृद्ध सबके लिए प्रापणीय है। जो भी कोई साधक योगसाधनों का अनुष्ठान करेगा, उसी-को सफलता मिलेगी। इसमें क्रिया ही प्रधान है। शास्त्रमार्ग-अनुसरण से क्या उपलब्ध नहीं हो सकता ?

योगदर्शन में कहीं भी किसी शास्त्र अथवा मत का खण्डन-मण्डन नहीं। इसका कहीं भी आग्रह नहीं है। इसका यह कहना है कि आप साक्षात् करके देखो। इस दर्शन की वाणी साक्षात् किये हुए ज्ञान की ही प्रतिपादिका है। इस दर्शन में ब्रह्मविद्या का प्रयोगात्मक कथन है।

योगदर्शन के सूत्र अल्पाक्षर, निबिड, क्रमबद्ध तथा स्पष्ट अर्थकर्ता हैं। ब्रह्मसूत्र के रचयिता त्रिदेवतेजसम्पन्न सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास ने योगसूत्रों पर, अनर्थ-सम्भावना के निवारणार्थ, स्वयं भाष्य लिखा है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक सर्वज्ञ भगवान् शंकराचार्य ने व्यासभाष्य पर विवरण (विशेष वर्णन) लिखा है। इन दो ईश्वरकोटि आचार्यों के भाष्य और विवरण से योगसूत्र उज्ज्वल हो उठे हैं। पाठक योगदर्शन की महत्ता का स्वयं अनुमान लगायें। ऊँची श्रेणी के योगाचार्य योगसाधकों को पहले योग-सूत्र कण्ठ कराते हैं।

(७) क्या योगदर्शन वेदबाह्य है ?

योगदर्शन को वेदबाह्य क्यों कहा है ? श्रवण करो। पंचदशीकार कहते हैं कि योगदर्शनवाले आत्मा में भेद (नाना जीव), जगत् सत्य तथा ईश्वर को अन्य (जीव, जगत् से भिन्न) मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्तवाले जीव ब्रह्म की एकता, जगत् को असत्य, ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालन तथा संहारकर्ता मानते हैं। विद्यारण्यमुनि का पंचदशी में श्लोक इस प्रकार है—

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ।

त्यज्यते तैस्तदा सांख्य-योग-वेदान्तसंमतिः ॥ ६.२२८ ॥

—यदि योगवाले इन तीन बातों को—जीवों का नानात्व, जगत् की सत्यता तथा ईश्वर की तटस्थता—छोड़ दें तो सांख्य, योग तथा वेदान्त की एक सम्मति हो जाती है।

तृणाचंकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः ।

लोकायतादिसांख्यानता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ ६.२१६ ॥

—तृण को देवता मानकर पूजनेवाले आदि से लेकर योगदर्शनवालों तक ईश्वर-संबंध में भ्रान्त हैं। लोकायतादि से लेकर सांख्यमतावलम्बियों तक जीव-संबंध में भ्रान्त हैं। इसलिये इसे वेदबाह्य कहा है।

विद्यारण्यमुनि द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर विचार करना चाहिये। तथ्य यह है कि हिन्दू षट्दर्शनों में कहीं भी विरोध नहीं। आपात दृष्टि से जो भेद भासित होता है, वह विरोधाभासमात्र है। इसमें कई कारण हैं। ये दर्शन अधिकार-भेद से लिखे गये हैं। साधकवृन्द भिन्न रुचि और मानसिक विकासवाले होते हैं। उनकी योग्यता और अभिरुचि के अनुसार ही महर्षियों ने दर्शनों की रचना की है। साधकों में श्रद्धा उपजाने के लिए प्रत्येक दर्शन को स्वतंत्र और पूर्ण-सा दिखाया है। दर्शनटीकाकारों ने इनकी स्वतंत्रता और सम्पूर्णता को दृढ़ करने के लिए उत्कट उपक्रमण किया है, परन्तु सब दर्शनों का प्रयोजन चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धि में है और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष में है। सब-योगमार्ग ब्रह्म में विश्राम पाते हैं।

अब हम पहले जीवों के नानात्व तथा जगत्-सत्यता पर विचार करते हैं। वेदान्त-आचार्यों की यह एक उपदेश-प्रणाली^१ है कि पहले वे निष्प्रपञ्च ब्रह्म में सृष्टि का आरोपण करते हैं। इससे नाना जीवों की तथा उनकी भोग सामग्री के लिये जगत् और उसके पदार्थों की रचना बताते हैं। मनुष्य कर्म करते हैं, फिर फलभोग करते हैं, जीते हैं, मरते हैं, कष्ट पाते हैं। तब पुण्य कर्मों के परिपाक से उन्हें सद्गुरु की प्राप्ति होती है। उनसे ब्रह्मविद्या का श्रवण करते हैं और मुक्त हो जाते हैं। वेदान्ती विद्वान् सृष्टि की रचना दिखाकर फिर उसका अपवाद करते हैं। ब्रह्मविद्या का तात्पर्य जीव और ब्रह्म की एकता दिखाना है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'^२ यह उपदेश साधक को आत्मा-अनात्मा के भेद का सामान्य ज्ञान कराने के लिये है। ब्रह्म को सत्य बताने के लिये जगत् को असत्य कहा गया है। वेदान्तियों का यह सिद्धान्तपक्ष नहीं है। आत्मसाक्षात्कार होने के पश्चात् गुरु यह उपदेश करता है कि ब्रह्म अवाच्य पद है। समाधि से व्युत्थानकाल में यह जगत् ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मसिद्धि होने पर जगत् को मिथ्या नहीं बताया जाता। जब तक अर्जुन को बोध नहीं हुआ, तब तक भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहा। जब अर्जुन को ब्रह्मज्ञान हो गया तब भगवान् कृष्ण ने उसे युद्ध करने का उपदेश नहीं दिया, बल्कि स्पष्ट कह दिया, 'यथेच्छसि तथा कुरु।' (गीता १८.६३) — हे अर्जुन ! मैंने तुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दे दी है। उस पर विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। युद्ध करने से तुझ आत्मा को कोई लाभ नहीं है और न करने से आत्मा की रचमात्र भी क्षति नहीं है। यह वेदान्त का सिद्धान्तपक्ष है।

इसी प्रकार योगदर्शन में भी उपदेशकाल में आत्माओं में भेद है और जगत् सत्य है, परन्तु योग के परम सिद्धान्त में स्वरूपस्थिति, कैवल्यमोक्ष, चितिभगवती मात्र है। वहाँ न चित्त है, न प्रकृति, न ईश्वर और न ही जगत्।

योगदर्शन में सूत्र (२.२२) महत्त्वपूर्ण है। सूत्र इस भाँति है—'कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तद्अन्यसाधारणत्वात्।'—जिस योगी को आत्मसाक्षात्कार हो गया है,

१. 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।' सम्प्रदायवेत्ताओं का वचन है कि निष्प्रपञ्च ब्रह्म में सृष्टि का आरोपण करके, फिर उसके अपवाद से ब्रह्मविद्या सिखाई जाती है।

२. श्लोकार्थेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥—शंकरभगवत्पाद

जी बात कोटि-कोटि ग्रन्थों से कही गई है, वही बात मैं आगे श्लोक में कहता हूँ। ब्रह्म सत्य है। जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न दूसरा नहीं है।

यानी जो योगी कृतार्थ हो गया है, उसके लिए दृश्य वर्ग (जगत्) नष्ट-सा हुआ भी अकृतार्थों (अप्रबुद्धों) के लिए अनष्ट ही रहता है। माघवाचार्य ने सूतसंहिता की तात्पर्यदीपिका टीका में किसी प्रसंग में इस सूत्र का तात्पर्यार्थ बताया है। उनका कहना है कि एक ही काल में जगत् का नष्ट होना और न होना, जो कि इस सूत्र में बताया है, यह सिद्ध करता है कि जगत् मिथ्या है। माघवाचार्यजी ही संन्यास लेने के उपरान्त पंचदशीकार विद्यारण्यमुनि नाम से विख्यात हुए हैं। जो सत्य वस्तु होगी, उसकी सत्ता सबके लिए ही होगी। वह सबसे देखी जा सकती है। जिस वस्तु की सत्ता नहीं होगी, उसकी असत्ता सभी के लिए होगी और उसको कोई नहीं देख सकेगा। मिथ्या वस्तु वह होती है जो एक ही काल में किसीको दिखाई पड़े, किसीको नहीं। ईश्वर अन्वकार में जैसे रज्जु सर्परूप से अबोधों को भासित होती है, बोधवानों को नहीं। इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि पतञ्जलिमुनि को वेदान्तियों का 'जगन्मिथ्या' पूर्वपक्ष स्वीकृत है। सूत्रों में कहीं भी जगत् को सत्य नहीं कहा है।

क्योंजी ! यदि ऐसी बात है तो पतञ्जलि आदि योगाचार्यों ने स्पष्ट ही जगत् को मिथ्या क्यों नहीं कहा ? श्रवण करो। वेदान्त के उत्तम साधक से योग का उत्तम साधक कुछ हल्का पड़ता है। यदि उसको सहसा ही यह ज्ञान कराया जाय कि संसार मिथ्या है, तो वह व्याकुलितमानस हो जाता और योगविद्या में पुरुषार्थ करने के लिए उत्साहित नहीं होता। आचार्य का यह प्रयोजन रहा है कि योगारूढ़ होने पर साधक को स्वयं ही ज्ञान हो जायगा। दूसरी बात यह है कि सूत्रकार किसी प्रकार के विवाद में नहीं पड़ते। वे प्रत्यक्ष के आचार्य हैं। कृतार्थ और अकृतार्थ पुरुषों में भेद करने से जीवों का नानात्व सिद्ध हो जाता है। जीवों के नानात्व और जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर योग और वेदान्त में कोई भेद नहीं है।

इसी प्रकार जीव-ईश्वर का भेद-कथन भी मिथ्यात्व पक्ष में गिरेगा। असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर की सत्ता नहीं रहती, व्यवहार-दशा में जीव और ईश्वर का भेद भासित होता है। 'पुरुषविशेष ईश्वरः।' (१.२४ सूत्र)—ईश्वर पुरुषविशेष होता है। उसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि शक्तियाँ होती हैं। जो वस्तु एक काल में रहे और उसी काल में नहीं भी रहे वह प्रपञ्चवत् मिथ्या होती है। यह भेद भी पूर्वपक्ष है। यदि यह भेद न दिखाते तो ईश्वर के अभाव में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था करना कठिन हो जाता। यह पक्ष भी योगसाधकों के उत्साहवर्धन के लिये है। परमार्थ में आत्मस्वरूप की अद्वितीयता ही सिद्ध होती है। वेदान्तियों में भी पूर्वपक्ष में जीव-ईश्वर की भिन्न कल्पना है। उपाधि-व्यपोहन से जीवेश्वर की चैतन्यांश में एकता है।

क्योंजी ! जो माघवाचार्य हैं, वही विद्यारण्यमुनि कहलाये हैं, फिर माघवाचार्य तथा विद्यारण्य के मतों में भेद क्यों है ? विद्यारण्यमुनि ने जो कथन किया है, वह उनके

लिए है जो कि योगदर्शन को परम स्वतन्त्र दर्शन मानते हैं। माधवाचार्य ने उनके लिए कहा है जो योग को वेदान्त का सहायक और पूरक मानते हैं। दृष्टिभेदमात्र है, वास्तविक विरोध नहीं है। कैवल्यलक्ष्य तो दोनों पक्षों में समान ही है।

(८) योग और वेदान्त में अविरोध

यदि योग और वेदान्त में वास्तविक विरोध होता तो ब्रह्मसूत्र के रचयिता भगवान् वेदव्यास तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भगवान् आदिगुरु शंकराचार्य योगसूत्रों पर क्रमशः भाष्य और भाष्य का विवरण क्यों लिखते ? उनको योगसूत्र एकबारगी अमान्य नहीं हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य में कई स्थलों पर योगशास्त्र का उद्धरण हुआ है। 'स्मरन्ति च' (ब्रह्मसूत्र ४.१.१०) इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकरभगवत्पाद कहते हैं कि 'अत एव पद्मादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे।'—इसलिए पद्मादि आसनविशेषों का योगशास्त्र में उपदेश है। (यह बात भगवत्पाद ने उपासना के लिए आसन योगशास्त्र में खोजना चाहिए, इस प्रकार कहा है। 'प्रदीपवद्वेषस्तथा हि दर्शयति।' (ब्रह्मसूत्र ४.४.१५) इस सूत्र के भाष्य के अन्त में लिखते हैं, 'एषेव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरप्रयोगक्रिया।'—योगशास्त्रों में योगियों की अनेकशरीर धारण करने की यही प्रक्रिया है। 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।' (योगसूत्र ४.४) योगियों के योगप्रभाव से अस्मितामात्र से उत्पादित शरीर निर्माणचित्तों से युक्त होते हैं।

'एतेन योगः प्रयुक्तः।' ब्रह्मसूत्र (२.१.३) इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकरभगवत्पाद कहते हैं, सांख्यस्मृति के निराकरण से योगस्मृति भी निराकृत समझनी चाहिए। क्योंकि 'तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते।'—योग में भी प्रधान ही सृष्टि का स्वतन्त्र कारण है एवं लोक और वेद में अप्रसिद्ध महदादि कार्य हैं, ऐसी श्रुतिविरुद्ध कल्पना की गई है। 'सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः।' सम्यग्दर्शन का साधनभूत योग वेद में विहित है। इसलिए इसको अंगीकार किया है। वाचस्पति मिश्र इसको अधिक विशद करेंगे। योगशास्त्र में कथित आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योगांगों को तथा यम-नियम के अभ्यास को तत्त्वदर्शन में उपयोगी जानकर मान्यता दी है। कठ, श्वेताश्वतर उपनिषदों में जगह-जगह योग-सम्बन्ध में कहा है। 'तं दुर्दर्शमिति।' (कठ० १.२.१२) 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका' (कठ० २.३.१७) 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेशयेति।' (श्वेताश्व० २.८) 'प्राणाग्रपीडयेह संयुक्तचेष्टः इति।' (श्वेताश्व० २.९) 'पृथ्ग्याप्य-जोऽनिलखे समुत्थिते इति।' (श्वेताश्व० २.१२) 'लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसारं स्वरसौष्टवं चेति।' (श्वेताश्व० २.१३)

अब योगसूत्रों के भाष्य पर टीकाकार महापण्डित वाचस्पति मिश्र का मत भी श्रवण करो। 'हिरण्यगर्भ' पतञ्जलि आदि आचार्यों से प्रवर्तित और सेवित योगदर्शन वेदान्त का सहायक तथा पूरक है। जहाँ इन्होंने सृष्टि-रचना में प्रधान को तथा इसके विकार महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रादियों को स्वतन्त्र उपादान कारण कहा है, उतना पक्ष वेदविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं है। परन्तु इतने मात्र से योगदर्शन अप्रामाणिक नहीं हो जाता है। यदि योग के परम सिद्धान्त अप्रामाणिक होते तो योगदर्शन अप्रामाणिक हो जाता। योग का प्रयोजन प्रधानादिकों को योगसिद्धान्तरूप प्रमाणित करना नहीं है, बल्कि योगस्वरूप, उसके साधन, उसके योगैश्वर्यादि (विभूतियाँ, सिद्धियाँ) अवान्तरफल तथा उसका परमफल कैवल्य प्रतिपादन करना है। उसके लिये प्रधान और उसके विकारों को निमित्त बनाकर योगदर्शन खड़ा किया है। परन्तु कैवल्यलक्ष्य में प्रधान और उसके विकार नहीं रहते हैं। इसलिये प्रधानादि का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। कैवल्य में प्रधान की सत्ता नहीं रहती है। पतञ्जलिमुनि से पहले वार्हगण्याचार्य ने भी यही बात कही है।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमुच्छति।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सतुच्छकम् ॥

—गुणों का परमरूप दिखाई नहीं देता है और जो दिखाई पड़ता है, वह माया की भाँति तुच्छ, विनाशी, असत् है। इससे संसार का मिथ्यात्व स्वीकृत हुआ है। इसका यह अर्थ होता है कि प्रधान और उसके विकार मिथ्या हैं। योग का प्रयोजन प्रधानादि मिथ्या विषयों का प्रतिपादन करना नहीं है। योगदर्शन ब्रह्मविद्या के सानुकूल है। जो आचार्य प्रधान को प्रतिपादित करना योग का ध्येय कहते हैं, उनके कारण योगदर्शन को वेदबाह्य कहा है, क्योंकि वे आचार्य योग के परमार्थ लक्ष्य से भटके हुए होते हैं, अतः उपेक्षणीय है। वाचस्पति मिश्र आगे भी कहते हैं—

१. किन्तु जगदुपादान-स्वतन्त्रप्रधान-तद्विकारमहदहङ्कार-पञ्चतन्मात्रगोचरं प्रामाण्यं नास्तीत्युच्यते। न चैतावतैषामप्रामाण्यं भवितुमर्हति। यत्पराणि हि तानि तत्राप्रामाण्येऽप्रामाण्यमश्नुवीरन्। न चैतानि प्रधानादिसद्भावपराणि, किन्तु योगशास्त्रस्वरूप-तत्साधन-तदवान्तरफलविभूतितत्परमफल—कैवल्यव्युत्पादनपराणि। तच्च किञ्चिन्निमित्तीकृत्य व्युत्पाद्यमिति प्रधानं सविकारं निमित्तीकृतं तत्प्रतिपादनपरेषु, न तु तद्विवक्षितम्। अन्यपरादपि चान्यनिमित्तं तत्प्रतीयमानं अभ्युपेयेत यदि न मानान्तरेण विरुध्येत। अस्ति तु वेदान्तश्रुतिभिरस्य विरोधः इत्युक्तम्। तस्मात् प्रमाणभूतादपि योगशास्त्रान्न प्रधानादिसिद्धिः।

‘उपनिषदुपायस्य च तत्त्वज्ञानस्य योगापेक्षास्ति । न ज्ञातुं योगशास्त्रविहितं यम-
नियमादि-बहिरङ्गमुपायम् अन्तरङ्गं च धारणाविक्रमन्तरेण औपनिषदात्मतत्त्वसाक्षात्कार-
उद्देतुमर्हति । तस्मादौपनिषदेन तत्त्वज्ञानेन अपेक्षणात् योगस्मृतिः प्रमाणम् ।—तत्त्वज्ञान
का उपाय उपनिषदें हैं । उसको योग की अपेक्षा है । योगशास्त्रकथित यमनियमादि
बहिरङ्ग साधन तथा धारणाध्यानादि अन्तरङ्ग साधनों के बिना औपनिषद-आत्मतत्त्व
के साक्षात्कार का उदय नहीं हो सकता । इसलिये औपनिषद तत्त्वज्ञान को योग की
अपेक्षा होने के कारण योगस्मृति प्रमाण है ।

औपनिषद तत्त्व की विशद विस्तृत स्पष्टता योगशास्त्र है, अतः वेदान्त और
योगदर्शन में कोई संघर्ष नहीं है । प्रयोगयुक्त ब्रह्मविद्या ही योग है ।

क्योंजी ! चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा है, ब्रह्मात्मैक्य की साक्षात् अनुभूति
को ब्रह्मविद्या कहा है, तब आप योग को प्रयोगसिद्ध ब्रह्मविद्या कैसे कहते हैं ? श्रवण
करो । जीव में और ब्रह्म में आत्यन्तिक भेद नहीं है । साधक अतिशुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म-
बुद्धि से आत्मसाक्षात्कार कर सकता है । आत्मा नित्यप्राप्त अपरिणामी तत्त्व है ।
चित्तवृत्तियों की उछलकूद में आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता, अतः जब चित्तवृत्तियों-
का निरोध हो जाता है, तब नित्यप्राप्त आत्मा तो सदा से ही वर्तमान है, उसको कहीं-
बाहर से लाकर प्राप्त नहीं करना है, वह वहीं उपलब्ध होता है । जब आत्मसाक्षात्कार
हो जाता है, तभी श्रुति भगवती बता देती है ‘अयमात्मा ब्रह्म ।’—यही तेरा आत्मा ही-
ब्रह्म है । योग से चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, इसलिये
योग को प्रयोगसिद्ध ब्रह्मविद्या कहा है ।

(९) योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि तथा ज्ञानियों की निर्विकल्प समाधि

क्योंजी ! इन दोनों में क्या अन्तर है ? असम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तियों के संस्कार-
रहते हैं और निर्विकल्प समाधि में भी संस्कार रहते हैं । इसलिये समाधि से उठकर,
समाधि स्मरण कर, योगी विद्यानन्द का मुख लेता है । जब योगी कृतार्थ हो जाता
है तो चित्त, अपना प्रयोजन न देखकर, गुणों में लीन हो जाता है और संस्कार भी
चित्त के साथ ही लय हो जाते हैं । तब उसे समाधि का फल कैवल्य मिलता है ।
कैवल्यावस्था से कोई योगी नहीं उठ सकता । काल पाकर शरीरपात हो जाता है ।
ज्ञान की चौथी भूमि का ज्ञानी स्वेच्छा से समाधि से उठ सकता है । पाँचवीं भूमि का
ज्ञानी अनिच्छा से समाधि से उठता है । छठी भूमि में पहुँचा हुआ योगी परेच्छा से
समाधि से व्युत्थित हो सकता है । ज्ञान की सातवीं भूमि में पहुँचा हुआ योगी न-
स्वेच्छा से, न परेच्छा से समाधि से उठ सकता है । उद्दालक मुनि ज्ञान की सातवीं भूमि
में चढ़ गये थे । वे समाधि से नहीं उठे, देहपात हो गया ।

धर्ममेघसमाधि से सब संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं; वासनायें तनु हो जाती हैं । इसलिये योगी का पुनर्जन्म नहीं होता । धर्ममेघसमाधि अथवा अविप्लवा विवेकख्याति एक ही बात है । वेदान्तदर्शन में यह समाधि ज्ञान की चतुर्थभूमि के सदृश है । इससे भावो जन्म निवृत्त हो जाता है । परन्तु जीवन्मुक्ति का आनन्द नहीं मिलता । वह आनन्द ज्ञान की पाँचवीं-छठी भूमियों में मिलता है । इन दो ज्ञानभूमियों की तुलना योग की असम्प्रज्ञात समाधि से होती है । ज्ञान की सप्तमी भूमि तथा कैवल्यावस्था समान हैं । लीला राणी (राजा पद्मनाभ की महिषी) ज्ञान की सप्तम भूमि में चढ़ गयी थी । प्राणनिरोध से उसके शरीर में बड़ी गर्मी उत्पन्न हुई । उसे बहुत पसीना आया । 'तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनों में पसीने से तर होकर प्राणायाम से प्रदीप्त हुई जठराग्नि से तपकर भाप बन गया । तदनन्तर सूखे पल्लव के समान निर्जीव होकर भूमि में गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दीवार के समान निर्जीव और बर्फ के समान शीतल शव बन गया । तब मन्त्रियों ने आकर शिथिल अङ्ग-प्रत्यङ्ग, खुला मुख देखने से 'यह स्वयं ही मर गई, ऐसा निश्चय कर उस शव को घर से बाहर किया । उसे श्मशान में ले जाकर चन्दन के काष्ठों से बनी चिता में रखकर घृत के साथ भस्मसात् कर दिया ।' योगवासिष्ठ से उद्धृत । (उत्पत्ति प्रकरण, ५८वाँ सर्ग, श्लोक ४ से ८ तक)

ज्ञान की सातवीं भूमि को वही ज्ञानी प्राप्त करता है, जिसके प्रारब्धकर्म क्षीण हो गये हैं । यदि प्रारब्धकर्म शेष रहेंगे तो कैवल्यावस्था प्राप्त नहीं होगी । अभुक्त वासनायें समाधि-भंग कर देंगी । योगी लोग निर्माण शरीरों की रचना करके अवशिष्ट प्रारब्धकर्मों का फलभोग युगपत् कर सकते हैं और यथेच्छा शरीर-त्याग कर सकते हैं ।

(१०) वेदान्तियों के लिये पातञ्जल समाधि का उपयोगिता

मधुसूदन सरस्वती ने अपनी गीताटीका (६.२९) में लिखा है कि भगवत्पाद श्री शंकराचार्य के मत का आश्रय लेनेवाले प्रपञ्चमिथ्यावादी वेदान्ती योग से भिन्न दूसरे उपाय (ज्ञान) को ही स्वीकार करते हैं । उन्हें अधिष्ठान के ज्ञान की दृढ़ता होने पर उसमें कल्पित और बाधित चित्त तथा उसके दृश्य का अदर्शन अनायास ही सम्भव

१. श्रीमच्छङ्कर-भगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः प्रपञ्चानृतवादिनो द्वितीय-मेवोपायमुपेयुः । तेषां हि-अधिष्ठानज्ञानदाढ्ये सति तस्य कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेन एव उपपद्यते । अतएव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगपेक्षां न व्युत्पादयां बभूवुः । अतएव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रोते वेदान्तवाक्यविचार एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे । विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन ॥ ६.२९ गीताटीका ॥

हो जाता है। इसलिये शंकरभगवत्पाद ने कहीं भी ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये योग की अपेक्षा प्रतिपादित नहीं की है। इसीसे मुमुक्षु लोग वेदान्तनिष्ठ परमहंस गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये वेदान्तवाक्यों के विचार में ही प्रवृत्त होते हैं, योग में नहीं, क्योंकि विचार के द्वारा चित्त के दोषों का निराकरण होने पर आत्मदेव का स्वतः ही आविर्भाव होता है।

वेदान्त के मध्यम अधिकारियों के लिये योग-प्रक्रिया उपयोगी है। सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की चरम अवस्था का नाम धर्ममेघ समाधि है। इसमें स्थिति होने पर संचितकर्म दम्बबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वे जन्म के नये अंकुर नहीं पैदा कर सकते। उस योगी का पुनर्जन्म नहीं होता। असम्प्रज्ञात समाधि में जाये बिना जीवन्मुक्ति का आनन्द नहीं मिल सकता। वसिष्ठजी का कहना है कि तत्त्वाभ्यास, मनोनाश तथा वासनाक्षय, इन तीनों का समकाल में अभ्यास करना चाहिये। इससे, प्रारब्ध के रस्से कटते ही, ज्ञान की पाँचवीं भूमि की उपलब्धि होती है।

क्योंजी ! शंकरभगवत्पाद ने संन्यासियों के लिए योगमार्ग क्यों नहीं उपदिष्ट किया ? श्रवण करो। इसमें कई कारण हो सकते हैं। योग में कुछ ऐसे विषय हैं, जो आपात दृष्टि से वेदवाह्य-से प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में नहीं हैं, जैसे आत्मा नाना है, जीव और ईश्वर में भेद है, जगत्सत्य है। (इन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।) कहीं संन्यासीगण योग के पूर्वपक्षों में उलझकर भ्रान्त न हो जायें, इस विचार से उन्होंने यतियों के लिए सम्यगीक्षण, विचारमार्ग का ही उपदेश किया है। योगाचार्यों की दुर्लभता, योगाश्रमों की कमियाँ, योगमार्ग में सुविधाओं की अनुपलब्धि, सिद्धियों से अनर्थ (पुनःपतन) की आशंका, यतियों की आयु आदि की दृष्टि से भी भगवत्पाद ने संन्यासियों के लिए औपनिषद-मार्ग यानी विचार-मार्ग ही बताया है। शंकरभगवत्पाद स्वयं परिपूर्ण योगी थे। उनका जीवन-इतिहास योग-चमत्कारों से भरा पड़ा है। परन्तु जीवन-लक्ष्य तो मोक्ष है। सिद्धियों के धूमधड़ाके द्वैतप्रपञ्च तक सीमित हैं। अद्वैत तो सर्वप्रपञ्चरहित सर्वउत्पातरहित शान्त अवाच्य स्थिति है।

(११) गीता और योग

श्रीमद्भगवद्गीता ब्रह्मविद्या और योग का ग्रंथ है। यह बात प्रत्येक अध्याय के अन्त में समाप्तिसूचक संकल्प में कही है। 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे' 'अमुक अध्यायः।' गीताजी ब्रह्मविद्या और योग का शास्त्र है। हमें यह देखना है कि गीता में योग कहाँ है और वही बात योग-दर्शन में कहाँ है।

यद्यपि गीता में त्रिकाण्ड हैं, परन्तु कर्म, योग, भक्ति तथा ज्ञान मिल-जुलकर चलते हैं, क्योंकि गीता का एक-एक श्लोक ही पूर्ण गीता है। गीता का छठा अध्याय जिसका नाम आत्मसंयमयोग है, योग से बहुत सम्बद्ध है। पाँचवें अध्याय के अन्तिम तीन श्लोकों में श्री भगवान् ने ध्यानयोग का सूत्रपात किया है। उसकी विस्तार से व्याख्या करने के लिए छठा अध्याय आरम्भ हुआ है।

भगवान् ने गीता में योग के दो प्रकार के अधिकारी बताये हैं। आरुक्षु अधिकारी तथा योगारूढ अधिकारी। जो कर्मयोगी ध्यानयोग में आरूढ़ नहीं हुआ है, परन्तु जो ध्यानयोग के शिखर पर चढ़ने की इच्छावाला है, उसे आरुक्षु साधक कहते हैं। ऐसे साधक के लिए गीता में निष्काम कर्मयोग बताया है। पतञ्जलिमुनि ने क्रियायोग बताया है। 'तपःस्वाध्यायेदवरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (सूत्र २.१) इस क्रियायोग का फल बताते हैं, 'समाधिभावनायः क्लेशतनूकरणार्थश्चः।' (सूत्र २.२) —यह क्रियायोग समाधिसिद्धि करनेवाला है तथा अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है। 'आरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।' (गीता ६.३) —ध्यान में योगारूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए निष्काम कर्मयोग कारण है।

उत्तम साधक के लिए श्री भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य को मन वश में करने का उपाय बताया है। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' (गीता ६.३५) पतञ्जलिमुनि ने भी मनोनिरोध के लिए यही दो उपाय बताये हैं, 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (सूत्र १.१२) —उन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। श्री भगवान् ने अपने आरुक्षु प्रिय भक्त के लिए 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' (गीता १२.१३) —सब भूतों में निर्वैरता, मैत्रीभाव, करुणा, एव पद से मुदिता तथा च पद से उपेक्षा—इन सदगुणों का जो अभ्यास करता है, वह भक्त मुझे प्रिय है। पतञ्जलिमुनि ने इन गुणों के अभ्यास का फल चित्त की निर्मलता बताई है। (देखिये सूत्र १.३३) 'मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'।

श्री भगवान् ने मोक्ष के लिए दैवी सम्पदा बताई है, और बन्धन के लिए आसुरी सम्पदा। भगवान् ने २४ दैवी सम्पदाओं की गणना की है। उनमें तप, अहिंसा, सत्य, त्याग, शौच, स्वाध्यायादि यम-नियम भी सम्मिलित हैं। देखिये १६वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोक—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

दया भतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमब्रह्मो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं देवोमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

पतञ्जलिमुनि ने पाँच यम तथा पाँच नियम बताये हैं जिनके अनुष्ठान से योगसाधक को समाधि की योग्यता प्राप्त होती है । 'अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥' (सूत्र २.३०) 'शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेदवरप्रणिधानानि नियमाः ।' (सूत्र २.३२)

पतञ्जलिमुनि ने 'स्थिरसुखमासनम्' (सूत्र २.४६) में आसन का लक्षण बताया है । श्री भगवान् ने गीता में आसन के संबंध में ६.११ श्लोक में इस प्रकार कथन किया है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

—पवित्र देश में कुशा, उस पर मृगछाला और उस पर कोमल वस्त्र बिछाकर अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करे । ऐसे आसन पर बैठकर योगाभ्यास करे । आसन पर बैठकर शरीर को किस प्रकार धारण करे—

समं कार्याशरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ (गीता ६.१३)

—काया (शरीर का मध्यभाग) शिर और ग्रीवा को समान और अवचल धारण किये हुए दृढ़ होकर नासिका के अग्रभाग (अर्थात् उत्पत्तिस्थान यानी भ्रुवों के मध्य भाग) को देखता हुआ-सा अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ध्यानयोग में बैठे । ध्यान की विधि क्या है ?

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाम्यन्तरचारिणौ ॥ (गीता ५.२७)

बाह्य विषयभोगों को बाहर निकालकर यानी उनका चिन्तन न करता हुआ नेत्रों की दृष्टि को भ्रुकुटि के बीच में स्थिर करके तथा नासिका में विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायु को सम कर (ध्यान लगाये) ।

सूत्रकार ध्यान का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं—'तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम्' (सूत्र ३.२) जिस देश (विषय) में चित्त लगाया हो, उसीमें चित्तवृत्ति का एकतार चलना ध्यान है । पतञ्जलिमुनि के सूत्रों के बीच में गहरे अन्तराल है, जिनको गीताशास्त्र पूरा कर देता है । पतञ्जलि यह जानते हैं कि उनके दर्शन का मुख्य प्रयोजन मोक्ष है, इसलिये उन्होंने मोक्षभवन का ढाँचा (Steel Framework) खड़ा किया है । ईंट, चूना, काष्ठादि सामग्री गीतादि मोक्षग्रन्थों से उपलब्ध हो जाती है ।

सम्प्रज्ञात समाधि का कथन गीता के ६.१४ श्लोक में कथन किया है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

—जिसका आत्मा यानी अन्तःकरण रागादिदोषरहित होने से प्रकर्ष शान्त हो गया है, जो योगसाधन में दृढ़निश्चय होने के कारण निर्भय है, जो ब्रह्मचर्य-गुरुशुश्रूषादि व्रतों में स्थित है, जिसने अपने मन को संयमित यानी विषयों से आहृत्य कर रखा है, जिसने भुक्त परमेश्वर में, प्रत्यक् चेतन में, सगुण या निर्गुण में चित्त लगा रखा है, यानी जिसकी चित्त वृत्ति भुक्त परमेश्वर में धारावाहिक है, जो इस प्रकार वृत्तिनिरोध से भगवदाकार चित्तवृत्ति से युक्त यानी सम्प्रज्ञात समाधि में यथाशक्ति बैठा हुआ है, ऐसा योगी सम्प्रज्ञातसमाधि का भोग करता है । ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति का नाम यौगिक भाषा में सम्प्रज्ञात समाधि है । इस समाधि में योगी आनन्द भोगता है । परन्तु मुमुक्षुओं के लिए यह भी हेय है, क्योंकि इसमें सर्ववृत्तिनिरोध नहीं होता है । पतञ्जलिमुनि ने समाधि का वर्णन सूत्र ३.३ में इस प्रकार किया है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३.३

—जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही ध्यान ही समाधि हो जाता है ।

अब असम्प्रज्ञात समाधि को गीता के श्लोक ६.१८ से लेकर ६.२३ ई श्लोक तक बताते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवाऽत्मनाऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिप्राह्ममतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद्बुद्धिसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

—अब इनका अर्थ करते हैं। इस प्रकार एकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञात समाधि बताकर अब असम्प्रज्ञात समाधि बताने का उपक्रमण करते हैं। जिस काल में परवैराग्यवश से सर्ववृत्तिशून्य हुआ प्रत्यक् चेतन (आत्मा में) निश्चल हो जाता है, तब सर्वकामनाओं से स्पृहारहित हुआ योगी प्राप्तयोग कहा जाता है। यानी निर्विकल्प समाधि में चढ़ गया है, योगारूढ़ हो गया है ॥ १८ ॥ अब उस समाहित चित्त की उपमा देते हैं। आत्माकार से स्थित चित्त वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की भाँति चलायमान नहीं होता। निष्कम्प होने के कारण तथा घने प्रकाश के कारण यह उपमा दी गई है ॥ १९ ॥ सामान्यता से निरोधसमाधि बताकर अब विस्तार से बताते हैं। जिस काल में योगाभ्यास की पट्टा से चित्त एकाग्रभूमि त्यागकर सर्ववृत्तिनिरोध से उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में शुद्धसत्त्वमात्र चित्त से प्रत्यक् चेतन, परमात्मा से अभिन्न सच्चिदानन्दघन अनन्त अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ परमानन्दघन में हो रमण करता है, विषयों में नहीं, उस अन्तःकरणपरिणाम सर्वचित्तवृत्ति निरोधरूप योग को जान ॥ २० ॥ आत्मा में ही तोष का क्या कारण है? जिस अवस्थाविशेष में इन्द्रियों से अतीत केवल रजतमोमलरहित बुद्धि से ग्राह्य अनन्त निरतिशय ब्रह्मानन्द को योगी अनुभव करता है, जिसमें स्थित हुआ यह योगी आत्मस्वरूप से चलायमान नहीं होता है, उसको तू योग जान। आत्यन्तिक शब्द से ब्रह्मानन्द वर्णित है। अतीन्द्रिय पद से विषयसुख की व्यावृत्ति है, बुद्धिग्राह्य कहने से सुषुप्तिजनित सुख की व्यावृत्ति है ॥ २१ ॥ जिस निरतिशय आत्मसुख का व्यञ्जक निवृत्तिक चित्तावस्थाविशेष को प्राप्त करके, उससे अधिक अन्य कोई लाभ नहीं मानता है, जिस अवस्थाविशेष में आत्मतत्त्व में स्थित योगी भारी दुःख से, शस्त्राघातादि गुरु दुःख से चलायमान नहीं होता है उस दुःख के संयोग के वियोग को तू योग नाम से जान। उस योग का खेदरहित चित्त से अभ्यास करना कर्तव्य है ॥ २२, २३ ॥ विज्ञानभिक्षु ने १.१७ सूत्र की टीका करते हुए आनन्दानुगत समाधि के आनन्द में गीता के २१वें श्लोक का (जिसे ऊपर दिया है) प्रमाण दिया है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में अहंकारजनित आनन्द होता है, न कि ब्रह्मानन्द, क्योंकि वह 'आत्यन्तिक' निरतिशय आनन्द निर्विकल्प समाधि में होता है। पतञ्जलिमुनि ने 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।' १.१८ सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप बताया है। विराम प्रत्यय (परवैराग्य) जिसकी पूर्व अवस्था है और जिसमें चित्त का स्वरूप संस्कारमात्र ही शेष रहता है, वह असम्प्रज्ञातयोग दूसरा है यानी सम्प्रज्ञातयोग से भिन्न है। इस परिभाषा को समझने के लिए गीता परमशरण है। इसीलिये साधु-समाज में यह कहावत प्रचलित है कि 'जोगी (योगी) ताहि जानिये, जो गीता हि जान' आप उसीको योगी समझना जो गीता भी जानता हो। 'जोगी ताहि न जानिये, जो गीताहि न जान'—उसको आप योगी मत मानना, जो गीता न जानता हो।

अब असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति की विधि बताते हैं—

सङ्कल्पप्रभवान् कामास्त्यक्त्वा सर्वानिशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ (गीता ६.२४)

ज्ञानैः शनैरुपरमेदबुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (गीता ६.२४)

—संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सब वासनाओं को त्यागकर, बिना कोई भी वासना बाकी रहे, और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से अच्छे प्रकार वश में करके, धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को सब विषयों से उपरत करे। फिर मन को आत्मा में अचल करके कुछ भी चिन्तन न करे। मधुसूदन सरस्वती टीका में लिखते हैं कि भूमिका-जय के क्रम से मन को उपरत करे। वाणी का निरोध प्रथम भूमिका, बालक और मुग्धपुरुषों के समान निर्मनस्क होना दूसरी भूमिका, तन्द्रालु पुरुष की भाँति अहंकार से रहित होना तीसरी भूमिका है तथा सुषुप्तावस्था के समान सहस्रतत्त्व से शून्य होना चौथी भूमिका है। इन चारों भूमिकाओं को क्रम से मन को ज्ञानैः शनैः उपरत करे। ये चारों भूमियाँ कठ श्रुति पर आधारित हैं। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थारिति।' (कठ० १. ३. १०) 'महत्तः परमव्यक्तमिति।' (कठ० १. ३. ११) जब कभी मन आत्मस्वरूप से पलायन करे, तब-तब उसको वश में करके (अभ्यास और वैराग्य से। हठ से मन काबू में नहीं आता। हठ करने से मानसिक व्याधियाँ खड़ी हो जाती हैं।) पुनः आत्मस्वरूप में नियुक्त करे। इस प्रकार इस योगी का मन भली प्रकार प्रशान्त हो जाता है। उसका रजोगुण शान्त हो जाता है। इस प्रकार मन पाप से रहित होकर ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है और तब उस योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ (गीता ६.२८)

—इस भाँति निरन्तर मन को ब्रह्म में लगाता हुआ योगी सर्वपापरहित होकर ब्रह्म के साथ तादात्म्यैकरसरूप आत्यन्तिक ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है। (श्लोक ६.२४ से श्लोक ६.२८ तक श्री भगवान् ने निर्विकल्प समाधि की विधि बताई है। साधक इन पर ध्यान दें।)

सूत्र ३.३५ में बताया है कि 'स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।' स्वार्थ (द्रष्टा, आत्मा, चित्ति) पर संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है। परन्तु पुरुष का साक्षात्कार नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसलिये कि आत्मा चित्त का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह चित्त से अतीत है। वेदान्तियों के लिये इस सूत्र का प्रयोजन 'अहं ब्रह्मास्मि'

महावाक्य का जप करना है ।^१ अनुभव न होने पर भी इसका जप करता ही रहे, खेदरहित होकर । काल पाकर चेतनदेव अनुग्रह करेंगे और योगी को नित्यप्राप्त ब्रह्म की अनुभूति हो जायेगी । ब्रह्माकार वृत्ति का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है और ब्रह्माकार वृत्ति का फल असम्प्रज्ञात समाधि । असम्प्रज्ञात समाधि में वृत्ति ब्रह्मफल देकर स्वयं शान्त हो जाती है ।

(१२) ईश्वर-प्रणिधान से समाधि

‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।’ (सूत्र १.२३) तथा ‘समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।’ (सूत्र २.४५) में ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि शीघ्रता से होती है, यह बात बताई है । श्री भगवान् ने गीता में ईश्वर-प्रणिधान बताया है और ईश्वर-कृपा भी बताई है । श्री भगवान् बोले, हे अर्जुन ! गीता में सब रहस्यों में गुह्यतम जो रहस्य है, वह सुनो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (गीता १८.६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८.६६)

गीता में ये दोनों श्लोक महत्त्वपूर्ण हैं । ६५वें श्लोक में कर्मनिष्ठा (भक्तिसहित) का सार है । ६६वें श्लोक में ज्ञाननिष्ठा का सार है । ये दोनों श्लोक गीता की शक्ति तथा कीलक हैं । ईश-कृपा का नाम कीलक है । हे अर्जुन ! तुम मेरे में ही चित्त लगाओ । मेरी ही भक्ति करो, मेरे ही लिये कर्म करो, यदि धन के अभाव, अथवा स्त्री-सेवकादि के अभाव के कारण पूजा के उपकरण न जुट सकें तो श्रद्धा और विनय के साथ मुझे नमस्कार करो ? इसका फल क्या होगा ? तुम सर्वजगत्कारण मुझ परमात्मा वासुदेव को प्राप्त करोगे । इस श्लोक में भगवान् शपथ लेते हैं । मैं तेरे से सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूँ, तू मेरे को ही प्राप्त होगा । कर्मनिष्ठा का फल ब्रह्मजिज्ञासा होता है ॥ ६५ ॥ सब धर्मों को छोड़कर केवल मुझ एक वासुदेव की ही शरण में आओ । मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा ॥ ६६ ॥ तुम शोक मत करो । यह भगवत्शरणीकरण का फल है । श्री भगवान् ने यही बात १८.६२ श्लोक में अधिक स्पष्ट कही है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गीता १८.६१)

१. अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।

अप्यसत् प्राप्यते ध्यानाभित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥ (पञ्चदशी ९.१५५) ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ (गीता १८.६२)

—हे अर्जुन ! सब प्राणियों का ईश्वर हृदयपिण्ड में निवास करता है । वह अपनी माया से सब प्राणियों को भ्रमाता है जैसे कि सूत्रधार पट की ओट में होकर कठपुतलियों को यन्त्र पर आरुढ़ करके (डोरी से) नचाता है ॥ ६१ ॥ हे भारत ! सब प्रकार से, मनन-वाणी-कर्म से, छलछिद्र छोड़कर, परमेश्वर की ही शरण में जाओ । उस परमात्मा के प्रसाद (कृपा) से तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ क्योंजी ! यदि अन्तराय, योगसाधना में विघ्न-बाधाएँ हों तब तू किस प्रकार शरण में जा सकेगा ? श्रवण करो । ईश्वर अन्तरायों को भी मिटा देते हैं । श्लोक १८.५८ में श्री भगवान् ने प्रतिज्ञा कर रखी है—‘मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।’ हे अर्जुन ! जब तुम मेरे में चित्त लगाओगे तो मेरी कृपा से सब संकटों, विघ्न-बाधाओं को अनायास ही पार कर जाओगे ।

अब ईश्वर-प्रणिधान का (अनन्य भक्ति का) स्वरूप अतिसरल क्रियात्मक शब्दों में बताते हैं । इसके अनुष्ठान से भी सम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुर्वन्व मदर्पणम् ॥ (गीता ९.२७)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (गीता ९.२८)

—हे कुन्तीपुत्र ! देहयात्रा के लिये जो कुछ गमनादि लौकिक क्रिया तू करता है, देहधारण के लिये जो कुछ तू खाता है, जो भी तू श्रौत, स्मार्त, नित्य, नैमित्तिक हवन करता है, जो कुछ भी अन्न, हिरण्य, भूमि आदि ब्राह्मणों को दान करता है, जो शरीर-वाणी-मन का तपश्चरण करता है, उस सबको (कर्म, भोजन, हवन, दानादि को) मेरे समर्पण करता चल । यही राजयोग है । इसमें न तो कर्म का त्याग और न कर्मफल-त्याग करना पड़ता है, केवल कर्म-समर्पण करना पड़ता है । इसका फल श्रवण करो । इस प्रकार तू शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनों से छूट जायगा । यह संन्यास-योग नामक राजयोग-मार्ग है । इससे अपने अन्तःकरण को युक्त करके, तू अन्तःकरणशुद्धि-द्वार से जीते-जी जीवन्मुक्त हो जायगा तथा देहपात के उपरान्त विदेहकैवल्यमोक्ष प्राप्त करेगा ॥ २७, २८ ॥

(१३) वेदान्त-ग्रन्थों में चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय

क्योंजी ! योगसूत्रों में तो चित्तवृत्तिनिरोध के बहुत से उपाय बताये हैं । वेदान्त में कौन से उपाय बताये हैं ? श्रवण करो । पंचदशीकार ने इसके पाँच उपाय

बताये हैं। उनको हम संक्षेप से कथन करते हैं, क्योंकि ब्रह्मातरङ्गिणी प्रदीपिका भुमुक्षुओं की दृष्टि से लिखी गई है। तत्त्व-विवेक, पंचमहाभूत-विवेक पंचकोश-विवेक, द्वैत-विवेक तथा महावाक्य-विवेक, इन पाँच प्रकार के विवेकों से ब्रह्मतत्त्व जाना जाता है। 'नेति' श्रुति से अनात्म तत्त्वों का निराकरण किया जाता है। दश इन्द्रियों तथा मन द्वारा जो ग्राह्य हो वह अनात्म वस्तु होती है। आत्म तत्त्व मन-वाणी से अग्राह्य होता है। अनात्म तत्त्वों के निराकरण के पश्चात् जो भावरूप सत्ता अवशिष्ट रहती है, जो कि अनात्म वस्तु की अधिष्ठान और प्रकाशक होती है, जो स्वयं अपरिणामी रहती हुई भी सर्वविकारी वस्तुओं की साक्षी होती है, वह आत्मा, अपना आपा, चित्ति, ब्रह्म, अवाच्यपद, अभयपद, विष्णुधाम आदि नामों से शास्त्रों में कही जाती है। इस आत्मा-अनात्मा-विवेक को योगिक भाषा में विवेकख्याति कहते हैं, यानी आत्मा तथा अनात्मा के भेदज्ञान का विवेचन। अविप्लवा विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है।

क्योंजी ! गीताजी में ज्ञान के साधन कहाँ बताये हैं ? अध्याय १३ के श्लोक ७ 'अमानित्वमिति' से लेकर श्लोक ११ 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वमिति' तक पाँच श्लोकों में ज्ञानसाधन बताये हैं। गीताजी में इनको ज्ञान नाम से कहा है। पुनः १६वें अध्याय में प्रथम ३ श्लोकों में ज्ञानसाधन कहे हैं। वहाँ इनको दैवी संपद् नाम से अभिहित किया है। विचार कर देख लेना। दूसरे अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' (ज्ञानी) के लक्षण १८ श्लोकों (श्लोक ५५ से श्लोक ७२ तक) में बताये हैं। इसी प्रकार १२वें अध्याय में 'भक्त' (ज्ञानी) के लक्षण श्लोकों (श्लोक १३ से श्लोक २० तक) में बताये हैं। इनको अमृताष्टक भी कहते हैं, क्योंकि इनके अभ्यास और अनुष्ठान से अमरपद प्राप्त होता है। अध्याय १४ के ६ श्लोकों (श्लोक २२ से श्लोक २७ तक) में ज्ञानी को गुणातीत संज्ञा दी है। इन श्लोकों में कथित गुण जिज्ञासुओं के लिए अभ्यास के योग्य हैं। ज्ञानियों के ये गुण स्वभाव होते हैं। इन साधनों में योगसूत्रों में कथित अभ्यास-वैराग्य, क्रियायोग, यम-नियमादि अष्टांगयोगसाधन सम्मिलित हो जाते हैं।

(१४) विविध

योगसूत्रों में अपेक्षित सामग्री सांख्य-दर्शन तथा गीता में प्रचुरता से मिलती है। सूत्रदृष्टि से योगदर्शन पूर्ण है। इन सूत्रों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए गीताशास्त्र, शंकरभगवत्पादप्रणीत विवेकचूडामणि, योगवासिष्ठ, विद्यारण्यमुनिकृत पंचदशी आदि ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए तथा योगाचार्यों का सत्संग करना चाहिए। गीता को तो आप योग और ब्रह्मविद्या के प्राण ही समझना। 'योगस्तत्त्वज्ञानार्थः १' इति आचार्यैरुक्तम्।—योग तत्त्वज्ञान के लिए है। जो साधक योग को सिद्धियों के लिए सेवन करते हैं, उनका मोक्ष नहीं होता। देवता उनको पथभ्रष्ट कर देते हैं और उनकी सिद्धि-

शक्ति भी पलायन कर जाती है। जितेन्द्रिय पुरुषों के पास ही शक्ति विश्राम पाती है। भगवान् कृष्ण में योगैश्वर्य की चरम सीमा है। ऐसा योग और ज्ञान-उत्कर्ष न किसीमें हुआ है, न है, न होगा।

गीता पर मुमुक्षुरञ्जनी टीका लिखते हुए मुञ्जे योगसूत्रों पर ब्रह्मपरक टीका का अभाव प्रतीत हुआ। यद्यपि गीताटीका में भगवान् कृष्णप्रदत्त गुह्य योगक्रिया, जो कि उनके अन्तरंग शिष्यों की परम्परा से उपलब्ध होती है, के रहस्य योगटिप्पणियों में व्यक्त किये हैं, तो भी पूर्ण पुष्टि गुरुमुख से सीखने पर होती है। योगसूत्रों पर इसी-लिये ब्रह्मतरङ्गिणी टीका लिखने का पुरुषार्थ किया है। मेरी टीका से मुमुक्षुगण हर्षित होंगे। इसके पढ़ने से गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या तथा योगदर्शन में कथित योग-प्रक्रिया सुखसाध्य हो जायगी। यह टीका खण्डन-मण्डनरहित, विवादास्पद विषयों से—यह भी संभव है, यह भी हो सकता है—मुक्त है। यह टीका साधकों में बुद्धिभेद नहीं करती है। योगदर्शन की सब टीकाओं का आधार सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास का भाष्य है। यह शरीरधारी सभी योगटीकाकारों को सामान्य रूप से प्रणाम करता है। भगवान् वेदव्यास को भूमि पर घुटने टेककर प्रणाम करता है। महापण्डित वाचस्पति मिश्र को सस्नेह से सकृदज्ञता प्रणाम करता है। शंकरभगवत्पाद को रोम-रोम से प्रणाम करता है।

(१५) उपसंहार

केवल्यमोक्ष में पातञ्जलदर्शन कहाँ तक सहायक है, इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

शंकरभगवत्पाद ब्रह्मसूत्र के २.१.३ सूत्र 'एतेन योगः प्रत्युक्तः।' (सांख्यस्मृति के निराकरण से योगस्मृति भी निराकृत समझनी चाहिये।) पर भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि वेदनिरपेक्ष सांख्यज्ञान से अथवा योगमार्ग से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसमें उन्होंने इस श्रुति का प्रमाण दिया है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (श्वेता० ३.८) उस महान् पुरुष (ब्रह्म) को जानकर ही पुरुष मृत्यु को पार करता है। इसके अतिरिक्त परमपद की प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस श्रुति में 'एव' पद का अर्थ केवल उसी ब्रह्म को ही, (किसी अन्य देवता को नहीं) साक्षात् अहंरूप से, अनुभव से जानकर मृत्यु को तरता है। श्रुति के दूसरे चरण में अन्य मार्ग का (सांख्य, योग, हठ, मन्त्रादि मार्गों का) निषेध किया है। निषेधात्मक श्रुति सबसे बलवान् होती है। वेदान्त की दृष्टि से सांख्य और योग का अर्थ केवल वेदान्तज्ञान और ध्यान है।

एक अन्य श्रुति भी 'न अवेदवित् मनुते तं बृहन्तम्।' (तै० ब्रा० ३.१२.९.७) शब्द से तथा अर्थ से वेद को न जाननेवाला उस ब्रह्म को नहीं जानता। ब्रह्मविद्या की

सहायता के बिना केवल योग से ब्रह्म (चित्ति) को कोई नहीं जान सकता । यह भी निषेधात्मक श्रुति है ।

केवल्य उपनिषद् की दो अन्य श्रुतियों का उल्लेख करते हैं, जहाँ एकमात्र ब्रह्मज्ञान को मोक्ष का कारण बताया है—

स एव सर्वं यद्भूतं,
यच्च भव्यं सनातनम् ।
जात्वा तं मृत्युमत्येति
नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ९ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ १० ॥

—वह ब्रह्म ही ('एव' पद से ब्रह्म से भिन्न वस्तु का निवारण किया है) सब भूतकालीन, सब वर्तमान तथा भावी सृष्टियों के रूप में था, है, होगा । उसको अनुभव से साक्षात् अपना आपा जानकर मृत्यु (अज्ञान) को पार कर जाता है । मोक्ष का कोई अन्य उपाय (कर्मकाण्ड, उपासना, योग, सांख्य) नहीं है ॥ ९ ॥

—सब प्राणियों के हृदय में विराजमान आत्मा को तथा सर्व भूतों को आत्मा में अध्यस्त जानकर, (सर्वप्रकार संशयविपर्ययरहित अनुभव से जानकर) परम ब्रह्म को प्राप्त होता है । केवल्यमोक्ष का कोई अन्य कारण नहीं है । 'ज्ञानादेव तु केवल्यम् ।' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।'—केवल्यमोक्ष केवल ब्रह्मज्ञान से होता है । ब्रह्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं ।

इन प्रबल श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है । पतञ्जलिमुनि इस तथ्य को जानते थे, इसीलिये उन्होंने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है, मोक्ष को नहीं । योग के फल को द्रष्टा का स्वरूप-वस्थान कहा है । स्वरूपावस्थान में योगपुरुषार्थ नहीं करना पड़ता ।

क्योंजी ! योगबीज में तो ईश्वर ने कहा है कि योग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । गौरीश्वर सम्वाद से प्रमाण देते हैं ।

देवी उवाच

ज्ञानादेव हि मोक्षं वदन्ति ज्ञानिनः सदा ।
न कथं योगसिद्धेन, योगः किं मोक्षदा भवेत् ॥

ईश्वर उवाच

ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि, तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥

—देवी ने कहा—सब ज्ञानवान् सदा यही कहते हैं कि ज्ञान से ही कैवल्यमोक्ष होता है । योग सिद्ध होने से किसी प्रकार ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता । आप बतायें कि क्या केवल योग कभी मोक्षदाता हो सकता है ? ईश्वर बोले—ठीक ही कहा है कि ज्ञान से निश्चय ही मोक्ष होता है । उन ज्ञानाचार्यों के वचन अन्यथा नहीं हैं । आप तो जानती हैं कि सभी लोग यही कहते हैं कि तलवार से विजय मिलती है । परन्तु क्या यह ठीक है ? बिना युद्ध किये और शूरता दशायि किस प्रकार अकेली तलवार से विजय मिल सकती है ? उसी प्रकार योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्ष दे सकता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान और योग दोनों से मोक्ष मिलता है ।

योगशिखोपनिषद् में ब्रह्माजी ने भगवान् शंकर से ज्ञान का सरल मार्ग पूछा है । श्री शंकर भगवान् ने जो बताया उसमें से उद्धृत करते हैं—

सिद्धिमार्गेण लभते, नान्यथा पद्मसंभव !
 पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ४ ॥
 स्वात्मप्रकाशरूपं तर्किकं शास्त्रेण प्रकाशयते ।
 निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ॥ ५ ॥
 तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
 ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥ १२ ॥
 योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।
 योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥ १३ ॥
 तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षु दृढमभ्यसेत् ।
 ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम् ॥ १४ ॥

भगवान् शंकर बोले—हे ब्रह्माजी ! योग-सिद्धियों के मार्ग से मोक्ष प्राप्त होता है, दूसरे मार्ग से नहीं । जो लोग शास्त्रजाल में फँस जाते हैं, उनकी बुद्धि मोहित हो जाती है । भला विचार कर देखो कि जिस आत्मा का स्वरूप स्वयंप्रकाश है, उसको शास्त्र क्या प्रकाशित करेंगे ? कुछ विद्वान् कहते हैं कि केवल शास्त्रजनित ज्ञान मोक्ष का साधन है, परन्तु शास्त्रज्ञान मोक्षसिद्धि में पर्याप्त नहीं है । योगहीन (चित्तवृत्तिनिरोधरहित) को किस प्रकार ज्ञान मोक्षद हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता । इसी प्रकार ज्ञानहीन (ब्रह्मविद्याविहीन) को केवल योग मोक्षप्रदान में समर्थ नहीं हो सकता । इसलिए मुमुक्षु ज्ञान और योग दोनों का दृढता से अभ्यास करे । हे ब्रह्माजी ! शास्त्रज्ञान में निपुण विरक्त धर्मज्ञ जितेन्द्रिय साधक भी ज्ञान और योग के अभ्यास के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ।

श्रुति-वाक्यों में तथा आप द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों में विरोध नहीं है । श्रवण करो । एक उदाहरण देते हैं । एक व्यक्ति कहता है कि धनुर्वारी ने लक्ष्य-भेदन किया ।

दूसरा कहता है, नहीं, धनुष ने लक्ष्य वीधा । तीसरा कहता है, बाण ने लक्ष्य वीधा । चौथा कहता है कि बाण के मुख पर लगे हुए लोहफलक ने लक्ष्य-भेद किया । पाँचवाँ कहता है, फलक ने नहीं, फलक के अग्रभाग ने लक्ष्य-भेद किया । ये सब अपने-अपने दृष्टिकोण से यथार्थ हैं । यदि धनुर्धर, धनुष, बाण, लोहफलक न होते तो फलक का अग्रभाग कैसे लक्ष्य-भेदन करता ? वेद भगवान् ने अन्तिम सूक्ष्म तथ्य कहा है । तन्त्रों में कुछ पूर्वावस्था की भी बात कही है । दोनों पक्षों में विरोध नहीं है ।

विद्यारण्य मुनि ने जीवन्मुक्तिविवेक ग्रन्थ में एक बात कही है कि ब्रह्म नित्यप्राप्त वस्तु है । उसके प्राप्त करने में किसी साधना की अपेक्षा नहीं होती । समस्त अध्यात्म-साधनाओं का प्रयोजन ब्रह्मदर्शन-अवरोधक तत्त्वों को दूर करना है, यानी चित्त को शुद्ध (तमोगुणरहित), स्थिर (रजोगुणरहित) तथा सूक्ष्म (प्रबल शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त) करना है । ऐसा होने पर नित्यप्राप्त ब्रह्म तो सदा वर्तमान ही रहता है, वह आपको तत्क्षण अनुभव में आ जायेगा । विद्यारण्यमुनि ने घट का उदाहरण दिया है । घट के जन्म के साथ आकाश उसमें भर जाता है । चावल भरने के लिए आप आकाश को खाली नहीं कर सकते और न ही चावल निकालने के बाद आपको आकाश भरना पड़ेगा । वह नित्य-प्राप्त है ।

मनोनाश के दो ही उपाय हैं—विचार तथा योग । उत्तम साधक राजयोग (ब्रह्म-विद्या) की विचार-पद्धति से मन को निश्चल कर लेता है । यह संसार नाशवान् है, देह भी नाशवान् है, भोग भी अस्थिर, यश, धन, यौवन, जीवन सभी अस्थिर हैं, कहाँ मन लगाया जाय ? केवल ब्रह्म ही सच्चिदानन्दधन है, वही तेरा स्वरूप है, वही तू है । इस प्रकार विचार से उत्तम साधक का मन भोगों में न जाकर निरालम्ब एकाग्र हो जाता है । तब साधक ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है । योगी लोग अम्यासवैराग्य से या क्रियायोग से या अष्टांग योगसाधनों से मन को बश में करते हैं । निश्चल मन आत्म-साक्षात्कार करता है । चित्तवृत्तिनिरोध करना योग-क्षेत्र के अन्तर्गत है । आगे ब्रह्मविद्या है 'अहं ब्रह्मास्मि ।' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि महावाक्य ।

दत्त-भार्गव सम्वाद में दत्तात्रेय भगवान् ने एक दृष्टान्त से समझाया है कि किसी चोर को चाँदी-सोने का ज्ञान था, आगे नहीं । वह किसी नरेश के खजाने में प्रवेश कर गया । वहाँ उसने ताम्र, पारद, रजत, स्वर्ण से भरे भंडार देखे । वहाँ हीरे, मोती, पन्ने, मणि आदि रत्न-भण्डार भी थे । पर वह उनको नहीं जानता था, अतः उसने स्वेच्छा से स्वर्ण उठाया और निकल गया । यदि उसे रत्नों का भी ज्ञान होता तो वह निश्चय ही बहुमूल्य रत्न-संग्रह करता । उनके कहने का यह प्रयोजन है कि योगी को ब्रह्मविद्या का भी अभ्यास करना चाहिए, ताकि वह अपने स्वरूप का, जिसे गुरु-शास्त्र ज्ञान से जाना है, साक्षात्कार कर सके । इसीलिए योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी ने रामजी

को बताया कि साधक को तत्त्वाम्यास, मनोनाश तथा वासनाक्षय का समकाल में अभ्यास करना चाहिए । उनके वचन उद्धृत करते हैं—

तत्त्वज्ञानं मनोनाशः वासनाक्षय एव च ।
 मिथः कारणतं गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥ १४ ॥
 सर्वथा ते समं यावन्त स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहु ।
 तावन्त पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥ १६ ॥
 वासनाक्षयविज्ञानयमनोनाशा महासते ।
 समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ॥ १७ ॥
 वासनाक्षय-विज्ञान-मनोनाशाः प्रयत्नतः ।
 समं सेव्यास्तव चिरं तेन तात न लिप्यसे ॥ २१ ॥

(योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, ९२ सर्ग)

—तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक-दूसरे के प्रति कारणभाव को प्राप्त होकर अवस्थित हैं, अतः अत्यन्त दुःसाध्य हैं ॥ १४ ॥ हे श्री रामजी ! जब तक इन तीनों उपायों का एक ही साथ में भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया जाय, तब तक सैकड़ों बरसों तक भी परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १६ ॥ हे महामुने ! वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास जब किया जाता है, तब वे मननशील महात्मा के लिए फलप्रद होते हैं ॥ १७ ॥ हे प्रिय श्री रामजी, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक आपको सेवन करना चाहिए । इस सेवन से आप संसार में लिप्त नहीं होंगे अर्थात् लिप्त न होनेवाले स्वभाव में स्थित हो जायेंगे ॥ २१ ॥

यमनियमासनादि योगांग चित्त को एकाग्र करने में सहायक है । तत्त्वज्ञान तो वेदमहावाक्यों से ही होता है । तत्त्वज्ञानरहित समाधि जड़ समाधि कही जाती है । रावण, हिरण्यकशिपु आदि दैत्यपतियों ने जड़ समाधि से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । उनसे मोक्ष नहीं होता । ये सिद्धियाँ निर्विकल्प समाधि में विघ्नकारक हैं । मलिन वासनाओं में दोषदर्शन से तथा शुभ वासनाओं (दया, सन्तोष, अलोभादि) के अभ्यास से वासनाएँ क्षीण होती हैं । ब्रह्मविद्या के साधकों के लिए योग बन्धुवत् हितकारी है । योगसिद्धि परम्परा से ज्ञान में साधन है, परन्तु योगदृष्टि से भी सिद्धि-निरपेक्ष अविप्लवा विवेकख्याति मोक्ष में मुख्य कारण है ।

२५ सितम्बर १९८५

कलकत्ता

विनीत

—मनोहरलाल शर्मा

॥ ॐ ॥

श्री पातञ्जलयोगदर्शन

ब्रह्मतर्ङ्गिणी प्रदीपिका सहित

समाधिपाद-१

अब समाहितचित्त उत्तम साधकों के लिये समाधिपाद आरम्भ किया जाता है। जिन्होंने गुरुमुख से तथा शास्त्रों से ब्रह्म का परोक्षज्ञान प्राप्त कर लिया है, परन्तु विचारमात्र से जिनको अपरोक्षज्ञान नहीं हुआ है, उनके लिये विशेष रूप से समाधिपाद उपयोगी है। जिनके कषाय, रागद्वेषादि दोष किंचित् दग्ध हुए हैं, उनको ब्रह्मविचार के साथ योग का आश्रय लेना पड़ेगा, तब उनकी निर्विकल्प समाधि में चित्ति यानी ब्रह्म में प्रतिष्ठा हो जायगी और आवागमन का चक्र सदा के लिये छूट जायगा। उनको कैवल्यमोक्ष प्राप्त हो जायगा। योगदर्शन का यही लक्ष्य है।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ = अब योगानुशासनम् = परम्परागत योगविषयक शास्त्र आरम्भ करते हैं।

व्याख्या : समाधिपाद का यह प्रथम सूत्र है। शिष्टों की मर्यादा के अनुसार पतञ्जलि मुनि 'अथ' शब्द से मंगलाचरण करते हैं। ॐकार^१ और अथ ये दो शब्द मंगलवाची हैं, क्योंकि सर्वप्रथम ब्रह्माजी के मुख से ये दो शब्द निकले थे। सूत्र-ग्रन्थ होने से अल्पाक्षरों में ही मंगलाचरण किया गया है। मंगलाचरण करने से हिरण्यगर्भादि समस्त योगगुरुमण्डल को प्रणाम हो

१. ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

जाता है। उनकी कृपानिर्झरी से ग्रन्थ आप्लावित हो जाता है और विघ्नवैताल पलायन कर जाते हैं।

अथ का अर्थ प्रारम्भ है। अब योगशास्त्र का अनुशासन यानी योग-शास्त्र के उपदेश का पुनः उपदेश किया जाता है। प्रथम बार जब योगशास्त्र का उपदेश हुआ उसे योगशासन कहते हैं। हिरण्यगर्भ^१ (ब्रह्माजी) योग-शास्त्र के प्रथम गुरु हैं। उनसे पुराना वक्ता कोई नहीं है। यह बात याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी स्मृति में कही है। योग के परम्परागत उपदेश अर्थात् योगशिक्षा को शासन कहते हैं। मुनि पतञ्जलि ने योगशिक्षा का आविष्कार नहीं किया। बल्कि पहले से ही वर्तमान विद्या का सूत्ररूप से प्राकट्य किया है। अतः पतञ्जलि ने योग का अनुशासन कहा है। शासन के अनु (अनुसार) योग-विद्या का कथन अनुशासन कहा जाता है। इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि योगविद्या प्राचीन काल से चली आई है।

क्योंजी ! जब यह विद्या विद्यमान ही थी तो पतञ्जलि ने योगसूत्रों में पुरुषार्थ किस उद्देश्य से किया ? श्रवण करो। ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना करके उसके साथ ही जीवों के कल्याण के लिए वेदशास्त्र योगशास्त्रादि भी प्रकट किये। पीछे योगशास्त्र का बहुत फैलाव हुआ। वेदों में, योगवासिष्ठ, पुराण, महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों में योग का बहुत प्रकार से वर्णन हुआ है। ब्रह्माजी द्वारा आविष्कृत योग खण्डों में विभाजित हो गया और उसका मूलस्वरूप विलुप्त हो गया। जनसाधारण के लिए दुर्ग्राह्य होने के कारण भगवान् शेषनाग ने पतञ्जलि मुनिरूप से अवतार लेकर योगविद्या का उद्धार किया तथा योगदर्शन के सार को १९५ योगसूत्रों में ग्रथित किया है।

क्योंजी ! शास्त्रकार अपने ग्रन्थ में अनुबन्धचतुष्टय बताते हैं। योगदर्शन में ये नहीं बताये हैं। श्रवण करो। ऐसी बात नहीं है। शास्त्र के विषय, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध, इन चार को अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं। इन योगसूत्रों का विषय योग है। इस ग्रन्थ में योग के भेद, साधन और फल का प्रतिपादन किया गया है। योग द्वारा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करना योग का प्रयोजन है। इसी पाद के तीसरे सूत्र में योग का फल बतायेंगे। यह फल ही योग का प्रयोजन है। अपवर्ग, निःश्रेयस, कैवल्यमोक्ष, स्वरूप-स्थिति, जीवब्रह्म का एकत्व अनुभव आदि भिन्न शब्दों से योग का ही प्रयोजन कहा गया है।

योगियों की भाषा में आप इस प्रकार कह सकते हैं । दुःखप्रचुर संसार हेय है । अविद्या के प्रभाव से द्रष्टा और दृश्य का संयोग संसार का कारण है । विवेकख्याति संसार-नाश का उपाय है । विवेकख्याति आने पर अविद्या नष्ट हो जाती है । अविद्या के निवृत्त होने पर द्रष्टा-दृश्य के संयोग का हान, नाश हो जाता है । इसीका नाम कैवल्य है यानी ब्रह्म का एकत्व, नित्यत्व, अखण्डत्व, चैतन्यत्व, सुखरूपत्व तथा अनन्तत्व । योग का प्रयोजन कैवल्य-वस्था प्राप्त करना है । इनके संबंध में योगसूत्रों को देखिये । 'परिणामत्ताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।' (२.१५) 'हेयं दुःखमनागतम् ।' (२.१६) 'दृष्टिदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।' (२.१७) 'तस्य हेतुरविद्या ।' (२.२४) 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।' (२.२६)

अब योगाधिकारी, श्रवण करो । मोक्ष के दो उपाय हैं - ब्रह्मविचार और योग । सम्यक् ईक्षण का नाम ब्रह्मविचार है । चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं । सम्यक् ईक्षण से भी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, और योग से भी । जिनको ब्रह्मविचार से ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, वे ब्रह्मविद्या के उत्तम अधिकारी कहे जाते हैं । ब्रह्मविद्या को गुरुमुख से श्रवण करके तथा मोक्ष-शास्त्रों के विचार से भी जिनकी ब्रह्मविद्या जागृत नहीं होती है, उनको योग का सहारा लेना होगा । ऐसे साधक ब्रह्मविद्या की दृष्टि से तो मध्यम साधक कहे जाते हैं, परन्तु योग के वे उत्तम साधक माने जाते हैं । राजा खट्वांग, राजा जनक, लक्ष्मणजी, अर्जुन पाण्डव ब्रह्मविद्या के उत्तम अधिकारी गिने जाते हैं । राजा शिखिध्वज, उद्दालक मुनि आदि की योग के उत्तम साधकों में गणना होती है । उत्तममध्यम श्रेणियाँ भी समझाने की दृष्टि से कही गई हैं । 'सांख्य (ब्रह्मविचार) और योग के फल में समानता है । वे दोनों एक ही हैं ।

विवेकज्ञान से संसारहानि योग का फल है यानी साध्य लक्ष्य है । संसार-हानि का विवेकख्याति (ब्रह्मज्ञान) साधन है, अतः स्वरूपस्थिति और योग का साध्यसाधनभाव संबंध है ।

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥ ५.४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५.५ ॥ (भगवद्गीता)

योगशब्द की परिभाषा ग्रन्थकार स्वयं ही अगले सूत्र में बतायेंगे । समाधि का नाम योग है । क्योंजी ! क्या समाधि आत्मा की होती है, अथवा शरीर की अथवा इन्द्रियों की ? यह समाधि चित्त का धर्म है, अतः चित्त की ही समाधि होती है, आत्मा की नहीं । चित्त की पाँच अवस्थायें होती हैं, जिन्हें चित्त की पाँच भूमियाँ कहते हैं । चित्त की समाधि सभी भूमियों में होती है । क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध-चित्त की ये पाँच भूमियाँ हैं । जिस अवस्था में चित्त चञ्चलता के कारण इधर-उधर फँका जाता है, उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं । 'क्षिप्यतेऽस्मिन्निति क्षिप्तम् ।' इस अवस्था में रागद्वेषादि से आक्रान्त चित्त अत्यन्त अस्थिर रहता है । इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है । सत्त्वगुण तमोगुण दबे रहते हैं । इस भूमि का चित्त अतीन्द्रिय विषयों को समझने में प्रायः अशक्य-सा ही होता है । धर्म-अधर्म, राग-विराग, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य में ही इसकी प्रवृत्ति होती है । जब तमोगुण सत्त्वगुण को दबा लेता है तब अधर्म-अज्ञानादि में तथा जब सत्त्वगुण तमोगुण को अभिभूत कर लेता है तो धर्म-ज्ञानादि में इसकी प्रवृत्ति होती है । प्रबल द्वेषादि की प्रवृत्ति होने पर क्षिप्त चित्त में भी समाधि हो सकती है । महाभारत में जयद्रथ की कथा आती है । उसने पाण्डवों से तिरस्कृत होकर भगवान् शिव की घोर तपस्या की । उसका चित्त समाहित हो गया और भगवान् शिव से उसने वरदान पाया कि अर्जुन को छोड़कर बाकी चारों पाण्डवों को एक दिन युद्ध में रोक सकेगा । अभिमन्यु-वध के दिन उसने चारों पाण्डवों को परास्त करके चक्रव्यूह में प्रवेश नहीं करने दिया ।

जिस अवस्था में चित्त किसी विषय में मोहित हो जाता है, उसे चित्त की मूढ़ावस्था कहते हैं । इस अवस्था में तमोगुण प्रधान रहता है । रज तथा सत्त्व दबे रहते हैं । कामिनी-काञ्चन में गहरी रञ्जना के कारण मूढ़चित्त समाहित हो जाता है । अपने प्रियतम राजा दुष्यन्त के स्नेह-चिन्तन में शकुन्तला समाहित हो गई । क्रोधभट्टारक महामुनि दुर्वासा के आगमन, उनके द्वारा शाप तथा सखियों की विनती से शाप में मुलायमी आदि वृत्तान्त का शकुन्तला को बोध नहीं हुआ । मुनि ने जब देखा कि आश्रमवासिनी शकुन्तला उनका अभिवादन नहीं करती है तो उन्होंने शाप दिया कि जिसका वह चिन्तन करती है, वह उसका प्रियतम उसको भूल जायगा । उसकी सखियाँ हाहाकार कर उठीं और मुनि की विनती की । तब मुनि ने कहा कि जब शकुन्तला कोई चिह्न दिखायेगी तो राजा दुष्यन्त की स्मृति लौट आयेगी । परन्तु क्षिप्तचित्त और मूढ़चित्त योगसमाधि में असमर्थ होते हैं । सांसारिक मनुष्यों की अधिकतर क्षमावस्था ही होती है ।

चित्त की विक्षिप्त-अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है, रजोगुण-तमोगुण दबे हुए रहते हैं। यह अवस्था निष्काम कर्म से, पूजन-जपन-भजनादि से उदित होती है। जिज्ञासु साधक साधारणतः विक्षिप्त चित्तवाले होते हैं। वे वेदान्त-श्रवण-मननादि करते हैं, परन्तु चित्त की सत्त्वगुणप्रधानता स्थिर नहीं रहती। कभी-कभी चित्त चंचल हो उठता है। इसलिए इनको संसार, वेदान्त-श्रवण तथा शास्त्रविचार के पश्चात् भी, सत्य-सा भासित होता है। विषयों में भी स्वल्प राग रहता है। पुराणों में अनेक कथाएँ आती हैं जहाँ समाहितचित्त ऋषियों को अप्सराओं ने तपोभ्रष्ट किया है। वे ऋषि विक्षिप्त-चित्त भूमिक थे। तपोनिष्ठ विश्वामित्र को मेनका अप्सरा ने मोहित करके तप से गिरा दिया और उनके संयोग से शकुन्तला नाम की कन्या हुई। इसी शकुन्तला की कथा कविकुलगुरु कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाम के नाटक में वर्णित है। विक्षिप्तचित्त को प्रयत्न से स्थिर किया जा सकता है। यह योग-समाधि के लिए उपयुक्त हो सकता है।

एकाग्रता-अवस्था चित्त की चौथी भूमि है। जिस चित्त का अग्र यानी चिन्तनविषय अथवा अवलम्बन एक ही हो वह एकाग्रचित्त कहा जाता है। चित्त की एक वृत्ति निवृत्त होती है और दूसरी उदित होती है। जब अस्त होनेवाली वृत्ति और नवीन उदित होनेवाली वृत्ति एक ही प्रकार की हों और उनका प्रवाह चलता रहे, तब वह चित्त एकाग्र भूमिवाला होता है। यह चार्ता ३.१२ सूत्र में कही गई है। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त (क्षिप्त से विशेष) ये तीनों भूमियाँ चित्त की स्वाभाविक अवस्थाएँ नहीं हैं, क्योंकि इन भूमियों में बाह्यविषयों के गुणों का चित्त पर प्रभाव पड़ता रहता है। एकाग्रता-अवस्था चित्त की स्वाभाविक स्थिति है। इस अवस्था में चित्त पर बाह्यविषयों के रजोगुण-तमोगुण के प्रभाव नहीं पड़ते। एकाग्रता-अवस्था परम तप है। इससे अज्ञान का गढ़ टूट जाता है। प्राकृतिक ज्ञान की चरम अवस्था प्राप्त हो जाती है। एकाग्रभूमि वश में होने पर सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। यह समाधि कैवल्यमोक्ष की साधक है। इस अवस्था में चित्त स्फटिक मणि की भाँति निर्मल होता है। परमाणुओं से लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ विषयों का साक्षात्कार होता है। इसीकी परिपक्व अवस्था का नाम विवेक-ख्याति है, यानी इसमें प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान का अनुभव हो जाता है अर्थात् प्रकृति से पुरुष भिन्न है। वेदान्तशास्त्र में इस ज्ञान को आत्मा-अनात्मा का विवेक कहते हैं। ख्याति का अर्थ ज्ञान होता है।

भगवान् भाष्यकार एकाग्रचित्त की महिमा बताते हुए कहते हैं—एकाग्र-

चित्त में विषय का सत्यस्वरूप प्रकाशित होता है। अविद्यादि समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं (नष्ट नहीं होते)। कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं। साधक निरोध-समाधि की ओर अग्रसर होता है। इसलिए इसको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि एकाग्रचित्त में समुद्भूत समाधि से सभी ज्ञेय पदार्थों का चरम ज्ञान हो जाता है। तब चित्त में उससे भी विरक्ति हो जाती है। तब वृत्ति ज्ञानावलम्बन से रहित हो जाती है, यानी वृत्ति का सम्यक् विस्मरण हो जाता है। यही चित्त की निरोधावस्था है। सम्प्रज्ञात योग में सभी द्वैत पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसलिए इसे सम्प्रज्ञात (सम्यक् ज्ञान) समाधि कहते हैं। द्वैत पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, पुरुष या ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान से मोक्ष होता है। यही योग का लक्ष्य है।

चित्त की पाँचवीं अवस्था का नाम निरुद्ध भूमि है। यही अन्तिम अवस्था है। विवेकख्याति उदित होने पर चित्त और पुरुष का भेद यानी भिन्नता का साक्षात्कार होता है। विवेकख्याति भी चित्त की एकमात्र वृत्ति ही है। परवैराग्य से इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने पर सर्व वृत्तियों के निरोध होने से चित्त की निरोधावस्था सिद्ध होती है। निरुद्धावस्था में किसी द्वैत प्रपञ्च का ज्ञान नहीं रहता। निरुद्धभूमि में चित्तवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, परन्तु वृत्तियों के संस्कार रहते हैं। तब चित्तिशक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। चित्ति का ही नाम ब्रह्म है, यही पुरुष है। इस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। क्योंजी ! ब्रह्म का साक्षी कौन है ? उसका साक्षी कोई नहीं। वह स्वयं सर्वसाक्षी है। यदि साक्षी रहेगा तो द्वैत होगा, कैवल्य नहीं। असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि में बैठा हुआ पुरुष साक्षात् ब्रह्म ही होता है। उस अवस्था में उस पर काल भी आक्रमण नहीं कर सकता।

सभी प्राणियों के चित्त इन पाँचों अवस्थाओं में ही रहते हैं। सभी अवस्थाओं में समाधि सम्भव है, क्योंकि योग सभी भूमियों में रहता है। तो भी क्षिप्तचित्त और मूढ़चित्त काम-क्रोध-लोभ-मोहादि से घर्षित होने के कारण कैवल्य समाधि के योग्य नहीं होते। इन चित्तों की समाधि कैवल्य-योग के लिए उपयोगी नहीं होती। चित्त की एकवृत्ति के पतन के पश्चात् जो नवीन वृत्ति उदित होती है, उनके बीच में यानी उदय-अस्त के अन्तराल में निर्विकल्प समाधि होती है। यह समाधि सभी साधारण जीवों को होती है, परन्तु योग के लिए यह उपयोगी नहीं होती, क्योंकि इसमें स्थिरता नहीं होती है। क्षिप्त चित्तों में विशिष्ट चित्त को विक्षिप्तचित्त कहते हैं। इस अवस्था में

चित्त कभी-कभी समाहित हो जाता है, परन्तु विकल्पों के प्रादुर्भाव होने पर चित्त फिर चंचल हो जाता है। वैराग्य तथा अभ्यास-बल से विक्षिप्तचित्त को स्थिर किया जा सकता है। मुमुक्षुओं की चित्तभूमि साधारणतः इसी श्रेणी में आती है।

एकाग्रभूमिक चित्त तथा निरुद्धभूमिक चित्त समाधि (योग) के लिए उपयुक्त होते हैं। एकाग्रभूमि चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। निरुद्ध-भूमि चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। ये दोनों अवस्थाएँ ही योग-भूमियाँ हैं। सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि ये दो योग के भेद हैं। सम्प्रज्ञात योग के चार अवान्तर भेद हैं—वितर्कानुगत समाधि, विचारानुगत समाधि, आनन्दानुगत समाधि तथा अस्मितानुगत समाधि। इनको सूत्रकार (१.१७) सूत्र में आगे बतायेंगे। सम्प्रज्ञात योग के निरोध होने पर सब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। तब आत्मज्ञान लाभ होता है। यही अमृतपद, निर्वाणपद, अभयपद कहा जाता है। इससे बढ़कर न कोई सुख है और न ही वांछनीय पद है। भगवत्पाद^१ ने इसके चार प्रत्यक्ष फल बताये हैं—सब वासनाओं से निवृत्ति, निरुंकशा तृप्ति, अनायास ब्रह्मानन्द की बाढ़, प्रस्तुत दुःखों में अनुद्वेग ॥ १ ॥

अगले सूत्र में योग के लक्षण बताते हैं—योगइति।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधः = चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना), योगः = योग है।

व्याख्या : चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज तथा तम। यह सारी सृष्टि इन्हीं गुणों का परिणाम है। परिणाम कहते हैं रूपान्तर को। गुणों के सत्त्वप्रधान प्रथम परिणाम को चित्त-सत्त्व कहते हैं। चित्तसत्त्व निर्मल होता है। विषय के संयोग से चित्त में जो परिणाम होता है, उसे चित्तवृत्ति कहते हैं। चित्तवृत्तियों को विषयगमन से यानी बहिर्मुखता से रोककर अन्तर्मुख अर्थात् स्वकारण चित्त में लय करना

१. निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः।

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो, विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ॥ (विवेकचूडामणिः ४२१-४२२)

योग कहा जाता है। सूत्र में 'चित्तवृत्तिनिरोध' को योग कहा है, 'सर्वचित्त-वृत्तिनिरोध' नहीं कहा है। वह इसलिये कि असम्प्रज्ञात समाधि को भी योग कह सकें। असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। वही मुख्य योग है।

क्योंजी ! वृत्तियों के निरोध से तात्कालिक सुख ज्ञान हो जाता है। निरोध टूटने के पश्चात् वही भयावह सुखदुःखविशिष्ट संसार फिर प्रकट हो जाता है। निरोध तो एक प्रकार का चित्त व्यायाम हुआ। इससे कोई पुरुषार्थता सिद्ध नहीं होती। ऐसी बात नहीं है। जीव और ब्रह्म की एकता का नाम योग है। 'वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि। एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ॥' मन को सर्ववृत्तियों से शून्य करके परमात्मा के साथ मिला दे। इससे साधक मुक्त हो जायेगा। इसे ही मुख्य योग कहते हैं। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं कि विषयान्तर वृत्तियों का तिरस्कार करके चित्त की आत्मा में स्थिरता का नाम योग है। 'अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम्। ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥' मन, बुद्धि, स्मृति और इन्द्रियों को अन्य सब विषयों से हटाकर आत्मा का ध्यान करना चाहिये। यह आत्मा वही परमेश्वर है जो कि हृदय में दीपक की भाँति प्रकाशित होकर स्थित है। क्योंजी ! सूत्रकार ने आत्मा में चित्त स्थिर करने की बात तो कही नहीं। केवल यही कहा है कि चित्तवृत्तियों के रोकने का नाम योग है। श्रवण करो। साधक ने गुरुशास्त्र से ब्रह्मज्ञान सुना, पढ़ा है। उसे ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो चुका है। वह ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान चाहता है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर कैवल्यमोक्ष होता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द अनन्त है। वह एक अद्वितीय तत्त्व है। जीव, जगत्, ईश्वर सभी ब्रह्म है। इस प्रकार का परोक्षज्ञान साधक को है। ब्रह्म हमारा नित्य-प्राप्त स्वरूप है। उसको प्राप्त करने में कोई साधना नहीं करनी पड़ेगी। साधना करने की जहाँ आवश्यकता है उसे श्रवण करो। ब्रह्मदर्शन में जो प्रतिबन्धक तत्त्व हैं, उनको निवारण करनेमात्र में पुरुषार्थ की अपेक्षा है। वे निवारित होते ही, परमेश्वर तो अनन्त होने से पहले से ही वर्तमान है। वही अपना आत्मा है। अपने को जानने में कोई नियम नहीं है। भगवत्पाद कहते हैं—'स्ववेदने का नियमाद्यपेक्षा।' अपने को पहचानने में किसी नियम, आसन, मुद्रा की जरूरत नहीं। मेले में खो जाने के भय से कोई भी अपने हाथ पर नाम नहीं खुदवाता। क्योंजी ! आत्मदर्शन के बाधक कौन हैं ? श्रवण करो। शंकरभगवत्पाद विवेकचंडामणि ग्रन्थ में कहते हैं—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं,
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।

समाधिनात्यन्त-सूक्ष्मवृत्त्या,

ज्ञातव्यमार्थैरतिशुद्धबुद्धिभिः

॥ ३६१ ॥

अर्थ : परमात्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। वह स्थूलवृत्ति से दर्शनीय नहीं है। इसलिये अतिशुद्ध बुद्धिवाले सत्पुरुषों को उसे समाधि में अतिसूक्ष्मवृत्ति से जानना चाहिये। अत्यन्त सूक्ष्मबुद्धि उसे कहते हैं जिसमें कर्मदोष के कारण अशुद्धता न हो, वासनादोष के कारण चंचलता न हो तथा अज्ञानदोष के कारण स्थूलता न हो। ऐसी एकाग्र सूक्ष्मवृत्ति से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है और परमेश्वर की झलक पड़ते ही बुद्धि-वृत्ति भी प्रलीन हो जाती है। इसलिये पतञ्जलि मुनि ने चित्तवृत्तियों के निरोधमात्र को योग कहा है। योगदर्शन प्रयोगसिद्ध ब्रह्मविद्या है। आप सर्ववृत्तिनिरोध करो और स्वयं अनुभव करो कि क्या होता है।

क्योंजी ! भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं कि दुःखसंयोग के वियोग का नाम योग है। 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' (६-२२३) दुःख के अभाव का नाम योग है। पतञ्जलि मुनि चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। यह सर्वविदित है कि इष्टवस्तु के प्राप्त होने से दुःख का तात्कालिक वियोग हो जाता है। तब तो यह भी योग होना चाहिये। श्रवण करो। भगवान् ने साढ़े तीन श्लोकों में योग की परिभाषा की है। 'योगाभ्यास से समुद्भूत जिस परिणामविशेष के होने पर निरुद्धचित्त उपराम को प्राप्त होता है और जिस अवस्था में शुद्ध सत्त्वमात्र अन्तःकरण से आत्मा को अर्थात् प्रत्यक् चेतनात्मा को सच्चिदानन्दघन परमात्मा से अभिन्न देखता है और आत्मानन्द से ही तुष्टि को प्राप्त होता है (२०)। जिस अवस्थाविशेष में निरतिशय अनन्त ब्रह्मसुख का अनुभव करता है, जो कि सत्त्वगुणी बुद्धि से ही ग्राह्य है, और इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है तथा जिस अवस्थाविशेष में यह विद्वान् आत्मस्वरूप में स्थित हुआ किसी प्रकार भी विचलित नहीं होता उसको तू योग जान (२१)। जिस आत्मलाभ को प्राप्त कर, अन्य किसी लाभ को भी आत्मलाभ (स्वरूपस्थिति) से अधिक नहीं मानता, तथा जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुआ योगी शस्त्राघातादि बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता (२२)। उस दुःख के संयोग के वियोग को योग नाम से जान (२२३)।' (आत्मतत्त्वस्थित योगी पर काल भी आघात नहीं कर सकता।) भगवान् ने परमानन्द की प्राप्ति विधिमुख से कही है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति निषेधमुख से कही है। भगवान् ने निरुद्ध-

चित्त की उपलब्धि को योग कहा है अर्थात् परमसुख की अवाप्ति ही दुःख की निरतिशया हानि होती है ।

अब हम भगवान् वेदव्यास के भाष्य का सरल संक्षेप देते हैं । चित्त त्रिगुणात्मक होता है, क्योंकि इसमें प्रकाश (सत्त्वगुण), प्रवृत्ति (रजोगुण) तथा स्थितिशीलता (तमोगुण)—ये तीन स्वभाव होते हैं । प्रकाशशील चित्त-सत्त्व में यदि रजोगुण-तमोगुण का संसर्ग रहे तो उसे ऐश्वर्य और विषय प्रिय लगते हैं । यदि उसका केवल तमोगुण के साथ ही संसर्ग हो तो उसकी प्रवृत्ति अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य में होती है । चित्त का मोहावरण पूर्णतया हटने पर अहंकार, इन्द्रियाँ तथा दृश्य विषयों की पूर्ण प्रज्ञा उदित होती है । इस समय किंचित् रजोगुण से घषित होने पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । जब रजोगुण की अस्थिरता लेशमात्र भी न रहे, तब चित्त स्वरूपस्थित हो जाता है । उसमें केवल पुरुष और बुद्धि (अनात्मवस्तु) का भेदज्ञान रहता है । तब शीघ्र ही धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है । इसे ही परम विवेक (प्रसंख्यान) कहते हैं ।

अब द्रष्टा की स्वरूपप्रतिष्ठा अथवा चित्तिशक्ति का भेद भी समझ लेना चाहिए । चित्तिशक्ति की पाँच विशेषताएँ हैं । यह शुद्ध (त्रिगुणमलरहित), अनन्त, अपरिणामिनि (निर्विकार), अप्रतिसंक्रमा (निर्लेप) तथा यह सारे विषयों को बुद्धिसमेत प्रकाशित करती है । सत्त्वात्मिका बुद्धि का नाम विवेक-ख्याति है । यह विवेकख्याति चित्तिशक्ति से (आत्मा से) विपरीत होती है । अतः यह भी हेय है, क्योंकि आत्मा तथा अनात्मा के भेदज्ञान में अनात्मा का भी साक्षात्कार होता रहता है । अनात्मदर्शन से स्वरूपस्थिति नहीं होती । ज्ञानप्रसादमात्र से यानी परवैराग्य से विवेकख्याति का भी निरोध करना चाहिये क्योंकि अत्यन्त वैराग्यवान् की ही निर्विकल्प समाधि लगती है । 'अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः ।' शंकरभगवत्पाद, विवेकचूडामणि (३७६) निरोधावस्था में गया हुआ चित्त संस्कारमात्र रहता है । इसीका नाम निर्बीज समाधि है । इस अवस्था में द्वैत किंचित् भी नहीं जाना जाता, इसलिए इसको असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं । इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार का योग होता है ।

क्योंजी ! पतञ्जलि मुनि ने तो चित्तवृत्तिनिरोधमात्र को योग कहा है । आप अपनी टीका में उससे अधिक कह रहे हैं । इसमें क्या कारण है ? श्रवण करो । योग चित्तनियन्त्रण के साधन बताता है । चित्त निरुद्ध होने के पश्चात् कोई पुरुषार्थ करना असम्भव है, क्योंकि जीव की मूल सूक्ष्म शक्ति ही तो चित्त

है। जब यह निबद्ध हो गया तो पुरुषार्थ करने का साधन ही नहीं रहेगा। योगशास्त्र उन मुख्य साधकों के लिए है, जिनको ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो चुका है। सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान हो जाता है। समाधि असम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान लुप्त हो जायगा, यानी वृत्ति विस्मृति हो जायगा। तब परमात्मा, जो पहले से ही वर्तमान है, का साक्षात्कार अहंरूप से होगा। सूत्रकार ने अपने दर्शन की स्वतंत्रता के रक्षण के लिए योग की अत्यन्त उचित परिभाषा की है। आगे का विषय अनुभव का है। उसे साधक स्वयं करे। भगवान् कृष्ण को योग-परिभाषा वेदान्त-दृष्टि से की गई है जिसका कि उपायभूत पातञ्जल योग है। सूत्रकार ने अगले ही सूत्र में योग का फल बता दिया है। यह योगफल पूर्णरूप से ब्रह्मविद्या का फल कैवल्यमोक्ष है। यह भगवान् कृष्ण और पतञ्जलि मुनि में विरोध नहीं है ॥ २ ॥

सब वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष की क्या अवस्था होती है, इस प्रश्न को दृष्टि में रखकर अगला सूत्र कहते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तदा = तब, चित्त की सब वृत्तियों के निरोध होने पर; द्रष्टुः = द्रष्टा की; स्वरूपे = अपने स्वरूप में; अवस्थानम् = अवस्थिति होती है।

व्याख्या : द्रष्टा, चित्तिशक्ति, पुरुष एकार्थक हैं। असम्प्रज्ञात योगकाल में द्रष्टा यानी पुरुष की अपने निर्विषय-चैतन्यमात्र स्वरूप में अवस्थिति होती है। क्योंजो ! जब चित्तवृत्तियों का व्युत्थान होता है तब द्रष्टा क्या अपने स्वरूप से चलायमान हो जाता है ? नहीं। श्रवण करो। श्री गुरुदेव ने द्रष्टा के संबंध में जो हमें बताया था, उसीको साधकों के हित में उद्धृत करते हैं—

‘इस संघात के दो द्रष्टा हैं। एक अन्तःकरणविशिष्ट जीव, दूसरा अन्तःकरणसाक्षी आत्मा। इन दोनों से ही यह देह-इन्द्रिय-प्राणादिसंघात प्रकाशित हो रहा है। इस संघात में चैतन्यात्मा का सामान्य प्रकाश है। चिदाभास जीव अन्तःकरण में स्थित हुआ इस संघात को विशेष प्रकाश से प्रकाशित करता है। इस रीति से यह संघात दो प्रकाशों से प्रकाशित है। यह प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, अग्नि के प्रकाश की तरह केवल बाहर घटपटादि जड़ पदार्थों

का ही प्रकाशक नहीं है, किन्तु अविद्या, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, स्थूलशरीरसंघात अवयवों को प्रकाशित करता हुआ घटपटादि बाह्य-पदार्थों के प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् और अग्नि को प्रकाशता है। यह प्रकाश-सूर्यादि प्रकाश के समान जड़ नहीं है, किन्तु यह प्रकाश चैतन्य है। इसीको वेदान्तशास्त्र में ओत नाम का ज्ञानयोग कहा है।'

'सूर्यादि प्रकाश जड़ ही नहीं हैं, किन्तु परिच्छिन्न भी हैं। जहाँ इनका अभाव है, वहाँ के अन्धकार को नाश करने में ये समर्थ नहीं हैं। परन्तु आत्म-चैतन्य का प्रकाश सूर्यादि प्रकाशित पदार्थों को ही नहीं प्रकाशता, बल्कि इनके अभाव में होनेवाले अन्धकार को भी प्रकाशता है।'

'संघात में होनेवाले दोनों द्रष्टाओं में अन्तःकरणविशिष्ट द्रष्टा अविद्यक (अविद्या से उत्पन्न होनेवाला) होने से सत्य नहीं है। किन्तु मरुभूमि के जल की तरह द्रष्टा-दर्शन-दृश्य त्रिपुटी का अंग होने से, भ्रम के कारण, मिथ्या ही भास रहा है। परन्तु इसका आधार और अधिष्ठान चैतन्यात्मा जो अपने प्रकाश से विशिष्ट को भी प्रकाशता है, सो ध्रुव सत्य है। इसका न कभी जन्म हुआ, न इसका मरण होगा। वृद्धिक्षय से रहित, षड्भावविकारशून्य, शाश्वत, परिपूर्णतम अपने प्रकाश से आप ही प्रकाशित होनेवाला और अविद्या से लेकर स्थूलशरीरपर्यन्त समस्त स्थावर-जंगम जगत् को अपने प्रकाश से प्रकाशता हुआ एकरस समभाव में स्थिर है। यही हमारा स्वरूप है। इसलिए अपने कूटस्थ स्वरूप में सदा स्थिर रहना चाहिए। इसीका नाम अनुज्ञात ज्ञानयोग है।'

'भगवान् भाष्यकार (शंकरभगवत्पाद) इन दोनों द्रष्टाओं का इस प्रकार निरूपण करते हैं—

अहं पदार्थस्त्वहमादिसाक्षी

नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।

ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं,

तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥ २९५ ॥

(विवेकचूडामणिः)

आत्मावाचक अहं यानी मुख्य द्रष्टा तो अहंकारादि गौण द्रष्टा का साक्षी है। मुख्य द्रष्टा, नित्य है। गौण द्रष्टा अहंकार (जीवभावापन्न) का सुषुप्ति में लय हो जाता है। उसकी सत्ता नहीं रहती। परन्तु आत्मा जो स्वयंप्रकाश चेतन द्रष्टा है, उसकी सत्ता सुषुप्ति में भी रहती है। वह सुषुप्ति का भी

साक्षी है। कठ श्रुति^१ स्वयं अपने मुख से कहती है, 'वह आत्मा अजन्मा, नित्य, अविनाशी तथा पुराण है। शरीर के नाश होने पर यह नष्ट नहीं होता।' इसलिए सच्चिदानन्द सर्वान्तरात्मा व्यक्त-अव्यक्त से भिन्न है।'

अब श्री गुरुवचनों का उद्धरण करते हैं -

'सुषुप्तिकाल में यह द्रष्टा-अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है। अन्तःकरण में रहनेवाला चिदाभास अज्ञानगत चिदाभास में विलीन हो जाता है। उस समय अज्ञानमात्र ही आत्मा की उपाधि सिद्ध होती है।'

'यद्यपि विचार करने से सुषुप्ति में भी त्रिपुटी का अभाव नहीं है, किन्तु अविद्या-विशिष्ट जीव अध्यात्म, माया-विशिष्ट ईश्वर अधिदेव और आवृत सुख अधिभूत इस प्रकार की त्रिपुटी सुषुप्ति में भासती है। उस आवृत सुख को अज्ञान वृत्तियों से प्राज्ञ नामा जीव भोक्ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो सुषुप्ति से जागकर जाग्रत काल में 'मैं सुख से सोया', यह स्मृति कदापि नहीं होती। यह सब के अनुभवसिद्ध है। 'मैं कुछ नहीं जानता भया' यह जागे हुए पुरुष का अनुभव अन्तःकरण के अज्ञान में विलीन होने का सूचक है। इस सुषुप्तिकाल में होनेवाली त्रिपुटी का प्रकाशक हमारा सच्चिदानन्द परमात्मा है। इस द्रष्टा से भिन्न कोई अन्य सत्यद्रष्टा श्रुति और अनुभव से सिद्ध नहीं होता।'

'इस आत्मानुभव को प्रकाश करनेवाली माध्यन्दिनी शाखा की श्रुति डंका बजाकर कहती है—'नान्योतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योतोऽस्ति श्रोता, नान्योतोऽस्ति मन्ता, नान्योतोऽस्ति विज्ञाता।' (इस अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न न कोई द्रष्टा, न कोई श्रोता, न मनन करनेवाला और न जाननेवाला है।) अतः वेदभगवान् दूसरे द्रष्टा का निषेध करके एक अद्वितीय प्रत्यगात्मा साक्षी चेतन का प्रतिपादन करता हुआ, एक ही प्रकाशरूप परमात्मा से समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है, प्रतिपादन करता है। जो वादी लोग दूसरे द्रष्टा की कल्पना करते हैं, वे समस्त भेदवादी वेदबाह्य हैं।'

'इस संघात के बीच में जो दो द्रष्टा वर्णन किये गये थे, वे दोनों 'अहम्' 'अहम्' इस अनुभव से स्पष्ट भासते हैं। मूलाविद्या की निवृत्ति जब तक नहीं होती, तब तक मनुष्य अन्तःकरणविशिष्ट द्रष्टा में अहम्-बुद्धि करता है। ज्ञान होने के पश्चात् कूटस्थ साक्षी को अपना स्वरूप जानता है।'

१. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ कठ० (२.१८)

‘अविद्या ही अन्तःकरणरूप से परिणत है। अतः अविद्याविशिष्ट जीव ही अन्तःकरणविशिष्ट है। वही स्थूल शरीर पर अभिमान करके विश्व नाम से प्रसिद्ध होता है। इसमें अन्तर नहीं समझना चाहिये। बुद्धि अथवा अविद्या इस विशिष्ट जीव का विशेषण है। विशिष्ट का विशेषण होता है। इन दोनों में (मिथ्या और सत्य अहम् में) परस्पर तादात्म्य है। इसी कारण से यह विशिष्ट-जीव के बुद्धि आदि धर्म को अपने में आरोप करता है। वास्तव में तो आभास का स्वभाव भी केवल प्रकाश है। ये ज्वर सब शरीरों के धर्म हैं। यह विषय पंचदशी में विस्तार से निरूपण किया गया है। ज्ञान होने पर यह चैतन्य आत्मा का आभास जीव अपने आभास स्वरूप का भी बाध करके अपने असंग साक्षी चैतन्यात्मा को अपना स्वरूप जानता है। इस साक्षी आत्मा में तो मायिक विकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, बन्धमोक्षादि समस्त धर्म बुद्धि के हैं। आत्मा इनसे सर्वथा असंग निर्विकार निर्लेप अकर्ता अभोक्ता स्वयंप्रकाश साक्षीमात्र है।’

मुख्य द्रष्टा ही द्रष्टा है। मुख्य द्रष्टा और गौण द्रष्टा में औपाधिक भेद है, वास्तविक भेद नहीं। जीव ही ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं है। ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः।’ शंकरभगवत्पाद। वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य एक अद्वितीय ब्रह्म को प्रतिपादन करना है।

वेदान्तसिद्धान्त-निरुक्तिरेषा,

ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।

अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षः,

ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥ ४७९ ॥ (विवेकचूडामणिः)

वेदान्तसिद्धान्त की अल्पाक्षरों में यह घोषणा है कि ब्रह्म ही जीव है तथा ब्रह्म ही जगत् है। उस अद्वितीय ब्रह्म में अखंडरूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। इस घोषणा की पुष्टि में श्रुतियाँ प्रमाण हैं। यथा, ‘तत्त्वमसि’^१ वह ब्रह्म तू ही है। ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म।’^२ यह सब जगत् ब्रह्म ही है। ‘ब्रह्मैवेदं विश्वम्।’^३ यह विश्व ब्रह्म ही है। ‘एकमेवाद्वितीयम्।’^४ ब्रह्म एक ही मात्र अद्वितीय तत्त्व है।

१. छान्दोग्योपनिषद् (६.८.७)

२. छान्दोग्य० (३.१४.१)

३. मुण्डक० (२.२.११)

४. छान्दोग्य० (६.२.१)

चित्तिशक्ति या द्रष्टा या ब्रह्म एक ही काल में स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित भी है। विश्वरूप से भासित भी होता है। जीवरूप से मोहित-सा भी है। यह उसकी अचिन्त्य माया की महिमा है। यहाँ तर्क कुण्ठित हो जाता है। क्योंजी ! कौन से द्रष्टा की, मुख्य की या गौण द्रष्टा की स्वरूप में प्रतिष्ठा होती है ? जब तक चित्तवृत्तियाँ उठती रहेंगी, तब तक द्रष्टा की स्वरूपस्थिति का अनुभव नहीं होगा। किसको ? साधक को। जब सब वृत्तियों का निरोध हो जायगा, तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति का अहंरूप से अनुभव होगा। सर्वप्रपञ्चोपशम होते ही आत्मदर्शन होते हैं। इस संसारचक्र की नाभि चित्त है। चित्तरूप नाभि रोकने से संसारचक्र निरुद्ध हो जाता है। चित्त ही संसार है। 'मनोनाशो महोदयः' मन का नाश होना ही महान् उदय है। मुख्य और गौण द्रष्टा में आत्यंतिक भेद नहीं है, वह एक ही है। भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, महात्मा बुद्ध, भगवत्पाद आदि सदा ही निर्विकल्प अवस्था में रहते-रहते सब व्यवहार निभाते थे। यह उनकी सहजावस्था है ॥ ३ ॥

क्योंजी ! निरोधावस्था से भिन्न व्युत्थानावस्था में द्रष्टा का क्या स्वरूप होता है—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र = दूसरे समय में (द्रष्टा का) वृत्तिसारूप्यम् = वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है।

व्याख्या : व्युत्थान-अवस्था में जो वृत्तियाँ उदित होती हैं, पुरुष उनके साथ अभिन्न-सा होकर उन्हीं वृत्तियों के समान आकारवाला-सा हो जाता है, यानी तादात्म्यता का भ्रम करता है।

क्योंजी ! पुरुष असंग होता है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति बृहदारण्यक-श्रुतिः (४.३.१५) 'असंगो न हि सज्यते' इति बृहदारण्यकश्रुतिः (४.५.२२)। असंग पुरुष लिपायमान नहीं होता। आप बतायें कि पुरुष किस प्रकार वृत्तियों के समान आकारवाला होता है ? श्रवण करो। इसको दृष्टान्त से समझिये।

जपाकुसुम को स्फटिक के नीचे रखने से स्फटिकमणि लाल रंग की भासित होती है। वह वास्तव में लाल नहीं होती है, वह ज्यों की त्यों स्वच्छ ही रहती है, लाल रंग की भ्रान्ति उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार चित्त अति समीपता के कारण अपने दृश्यत्व गुण के द्वारा स्वामी पुरुष का स्वरूप-सा हो जाता है। अतः पुरुष बुद्धिवृत्ति के साथ अभिन्न-सा हो जाता है। यदि चित्तवृत्ति सत्त्वगुणी है तो पुरुष 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार जानता है। यदि रजोगुणी वृत्ति है तो 'मैं दुःखा हूँ' इस प्रकार मानता है। जब चित्त एकाग्र होता है तो चित्ति भी उसी रूप में प्रतिष्ठित होती है। जब चित्त निरुद्ध होता है तो द्रष्टा भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। शंकरभगवत्पाद कहते हैं - 'जल के चंचल होने पर उसके अन्तर्गत सूर्यप्रतिबिम्ब हिलने लगता है, तो मूढ़ लोग प्रतिबिम्ब की चंचलता को बिम्बभूत सूर्य में आरोपित करते हैं। उसी प्रकार अज्ञानीजन सूर्य के समान निष्क्रिय आत्मा में बुद्धि की स्फुरणा (विक्षेप, धर्म, वृत्ति) को आरोपित करते हैं और कहते हैं, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, हाय-हाय ! मैं मारा गया।

लक्ष्मणजी के प्रश्न करने पर कि ज्ञानमय सुखमय आत्मा में दुःखमय संसार किस प्रकार प्रतीत होता है भगवान् राम ने उत्तर दिया कि अज्ञान के कारण, अध्यासवश ब्रह्म में संसार भासता है। अध्यास का अर्थ है भ्रांति। देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण इत्यादि में अहंकार करना, आत्मबुद्धि करना अध्यास कहलाता है। यह विषय श्री रामगीता के ३६, ३७ श्लोक में आया है। अध्यास के लक्षण सुनो।^१ 'भ्रम के कारण जो एक वस्तु की दूसरी वस्तु में प्रतीति है, विद्वान् लोग उसे अध्यास कहते हैं, जैसे सर्प से भिन्न रज्जु-वस्तु में सर्पदर्शन, जैसे सीपी में जो कि चाँदी नहीं है, चाँदी का आरोपण। अन्य के धर्म को अन्य में आरोपण करना अध्यास कहा जाता है। चित्ति की समीपता से बुद्धिवृत्ति चेतनी से हो जाती है और चित्ति के धर्मों को अपने में आरोपित करती है 'मैं जानती हूँ', इस प्रकार अपने को चेतन जानती है। उधर इस तादात्म्य के कारण मोहित-सी चित्तिशक्ति, यानी आत्मा अपने को जन्ममरणशील जीव जानने लगती है। चेतन-जड़ का यह तादात्म्य, स्वरूप

१. चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।

स्वबिम्बभूतं रविद्विनिष्क्रियं कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ॥

(५०९) विवेकचूडामणि ।

२. यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-

दध्यासमित्याहुरमुविपश्चिताः ।

असर्पभूतेऽहिभावनं यथा

रज्ज्वादिके तद्वदपीस्वरे जगत् ॥ ३७ ॥ श्री रामगीता

के अज्ञान के बिना, किसी प्रकार संभव नहीं है। शंकरभगवत्पाद के वचन उतारते हैं—

भ्रान्तिं विना त्वसंगस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।

न घटेतार्थ-सम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥ (१९७)

(विवेकचूडामणिः)

स्वरूप के अज्ञान के बिना असंग, निष्क्रिय, निराकार, स्वयंज्योति आत्मा का जड़, क्रियाशील परंप्रकाश्य बुद्धि के साथ, किसी प्रकार भी संबंध नहीं हो सकता। अज्ञान के कारण मूढ़ लोग आकाश में नोले वर्ण का आरोपण करते हैं। वास्तव में आकाश वर्णरहित है, वायु के व्यवधान से आकाश में वर्ण भासता है।

क्योंजी ! चित्तभृत्य का तथा पुरुषस्वामी का यह सम्बन्ध कब से है ? यह कोई नहीं जानता कि कौन तिथि, कौन घड़ी से यह सम्बन्ध है। यह अनादि है। क्योंजी ! यदि अनादि है तो अनन्त भी होगा ? नहीं, यह संबंध सान्त है। पुरुष जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो यह सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। चित्त कहाँ जाता है ? गुणरूप होकर प्रकृति में लीन हो जाता है। क्योंजी ! पुरुष प्रकृति के इस संयोग का क्या कारण है ? अविद्या इसका हेतु है। किस प्रयोजन से ? प्रकृति का प्रयोजन अपने स्वामी पुरुष को भोग अपवर्ग देना है। अतः यह संयोग भ्रान्ति जीवन है। जब तक भ्रान्ति तब तक संयोग। 'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः।' ज्ञान होने पर संसार नहीं रहता। इसलिए शंकरभगवत्पाद कहते हैं—

देह-प्राणेन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यादिभि-रुपाधिभिः ।

येयैर्वृत्तेः समायोग-स्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥ ३७१ ॥

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक् सर्वोपरमणं सुखम् ।

सन्दृश्यते सदानन्दरसानुभव-विप्लवः ॥ ३७२ ॥

(विवेकचूडामणिः)

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियों में से जिस-जिसके साथ योगी की चित्तवृत्ति का संयोग (तादात्म्य) होता है, उसी-उसी भाव की उसको प्राप्ति होती है। (३७१) जब उस मुनि का चित्त इन सब उपाधियों से निवृत्त हो जाता है, तो उसके लिए, उपाधियों से असंगता के कारण, निरतिशय सुख और सच्चिदानन्दरस के अनुभव की बाढ़ देखी जाती है (३७२) ॥ ४ ॥

वृत्तियों का निरोध करणीय है। वृत्तियों को बिना जाने उनका निरोध कैसे सम्भव होगा ? वृत्तियाँ अनन्त हैं। किस-किस का निरोध किया जाये ? इस शंका को दृष्टि में रखकर वृत्तियों की पाँच श्रेणियाँ बताते हैं। इनके निरोध होने पर सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायेंगी। वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

(उपर्युक्त) क्लिष्टाऽक्लिष्टाः = क्लिष्ट और अक्लिष्ट (भेदोंवाली);
वृत्तयः = वृत्तियाँ; पञ्चतय्यः = पाँच प्रकार की (होती हैं) ।

व्याख्या : चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। इससे ज्यादा नहीं। विषयसम्बन्ध से चित्त के परिणामविशेष को वृत्ति कहते हैं। जैसे वातस्थ दोषक को शिखा इतस्ततः चंचल होती है, ऐसे ही विषयसंयोग से चित्त वृत्तियाँ उदित और अस्त होती हैं। जिसके सहारे जो जीता है, उसे उसकी वृत्ति कहते हैं। यज्ञादि करवाना ब्राह्मण की वृत्ति है। वाणिज्य-व्यापार वैश्य की वृत्ति है। उससे वह कमाता-खाता है। इन वृत्तियों के रहने से चित्त जीवित रहता है। वृत्तियों के अभाव होने पर चित्त अचित्त होता है। क्लिष्टादि भेद से वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जो वृत्तियाँ क्लेश के हेतु हों, वे क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। तमःप्रधान वृत्तियाँ क्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं। ये वृत्तियाँ क्लेशसमुदाय की उत्पत्ति के खेत हैं। ये वृत्तियाँ संसार को दृढ़ करती हैं। क्लेशों को पुष्ट करती हैं। गीता में इन्हें आसुरसम्पत्ति कहा है। अक्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट वृत्तियों की नाशक हैं और गुणाधिकार की विरोधी होती हैं। क्लिष्ट वृत्तियों तथा अक्लिष्ट वृत्तियों का चित्त में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। यही देवासुर संग्राम है। पहले अक्लिष्ट वृत्तियों को अंगीकार करके इनसे क्लिष्ट वृत्तियों का हनन करे, यानी निरोध करे। पीछे परवैराग्य से अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करे। योग का प्रयोजन सर्ववृत्ति निरोध करके चित्त का साक्षात्कार करना है। शुभ अथवा अशुभ किसी भी प्रकार की वृत्तियों के रहते आत्मा का दर्शन नहीं होता। 'किस तरह आँखें बजम में, गैर हैं बैठे हुए।' मैं आपकी महफिल में किस प्रकार आऊँ ? यहाँ तो दूसरे बैठे हुए हैं। वशिष्ठजी रामजी को

समझाते हैं। वासना दो प्रकार की होती है अशुभ और शुभ। लोकवासना, देह-वासना, शास्त्रवासना ये अशुभ वासनाएँ हैं। इनके रहते ब्रह्मज्ञान नहीं होता। शुभ वासना (परमात्म वासना) अशुभ वासनाओं का नाश करती है। पीछे शुभ वासना भी त्याग दें। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। ये पाँच प्रकार अगले सूत्र में बतायेंगे। अज्ञान-नाश करने के लिए जो ब्रह्माभ्यास शास्त्रों में बताया है, उससे उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ संसार-प्रवृत्ति को क्षीण करती हैं।

‘नाहं देहो न मे देहः केवलोऽहं सनातनः ।

एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्मणो नेह किञ्चन ॥ २७ ॥’ (ब्रह्मानुचिन्तनम्)

मैं देह नहीं हूँ, न मेरा देह है। मैं एक सनातन ब्रह्म हूँ। ब्रह्म एक ही अद्वितीय तत्त्व है। ब्रह्म से भिन्न जगत् कुछ नहीं है।

‘श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥’ (शंकरभगवत्पाद)

जिस ज्ञान को कोटि ग्रन्थों में कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है, अन्य नहीं है। इस प्रकार के तत्त्वाभ्यास से अक्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति देहाभ्यास को तोड़ती है और गुणाधिकारविरोधिनी है। कार्यारम्भ का नाम गुणाधिकार है, यानी संसार में प्रवृत्ति, उस प्रवृत्ति का विरोध करके, यानी अविद्या-काम-कर्मादि संसारकारणों का नाश करती है। विवेक के द्वारा अविद्या नष्ट होने पर विवेकख्यातिनामक जो वृत्ति उठती है, यही मुख्य अक्लिष्टा वृत्ति है। वशिष्ठजी ने कहा है कि तत्त्वाभ्यास (श्रवण, मनन, निदिध्यासन), मनोनाश के लिए योगाभ्यास तथा वासनाक्षय का प्रयत्न— समकाल करना चाहिए। ये एक-दूसरे के सहायक होते हैं।

भगवान् वेदव्यास ने अपने भाष्य में तमःप्रधान क्लिष्ट वृत्ति तथा सत्त्वप्रधान अक्लिष्ट वृत्ति कही हैं, परन्तु राजसवृत्तियाँ यानी मिश्रित वृत्तियाँ नहीं कहीं। सभी वृत्तियाँ त्रिगुणात्मिका होती हैं। इसमें क्या कारण है? श्रवण करो। क्लिष्ट वृत्तियों के अन्तरालों में, छिद्रों में अक्लिष्ट वृत्तियाँ रहती हैं। ऐसे ही अक्लिष्ट वृत्तियों के अन्तरालों में क्लिष्ट वृत्तियाँ रहती हैं। शुद्ध क्लिष्ट अथवा अन्यथा वृत्तियाँ नहीं होतीं। अतः रजोगुणी वृत्तियों का अन्तर्भाव इन दो श्रेणियों में हो जाता है। क्लिष्ट वृत्तियों के क्लिष्ट संस्कार होते हैं। उन संस्कारों से पुनः क्लिष्टवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी

प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। उन संस्कारों से फिर अक्लिष्ट वृत्तियाँ उदित होती हैं। वृत्तिसंस्कार का यह कुचक्र अहर्निश चलता रहता है। जब सब वृत्तियों का निरोध होकर समाधि लग जाती है, तब यह चक्र रुक जाता है। निरोधावस्था में चित्त संस्कारमात्र शेष रहता है, जैसे तप्त तवे पर जलबिन्दु का संस्कार होता है, तब द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, सर्वोच्च आनन्द में घुस रहता है, व्युत्थान-काल तक। अथवा अभ्यासपटुता से अखिलसंस्कारक्षय होने पर प्रलय, आत्यन्तिक लय, विदेहकैवल्य को प्राप्त होता है। निरोधसमाधि से फिर न उठना ही प्रलय है। उद्दालक मुनि ने बहुत दिन तक जीवन्मुक्ति का आनन्द लिया। फिर उससे भी विरक्त होकर निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि में बैठ गये। समाधि से उठने का संकल्प नहीं किया था, अतः वे उठे नहीं। उनका चित्त गुणरूप में परिणत होकर प्रकृति में लीन हो गया। सूर्यरश्मियों ने उनके शरीर के रस शोषण कर लिये। उनके प्राण यहीं विलीन हो गये, देशान्तर में नहीं गये ॥ ५ ॥

अब क्लिष्ट अक्लिष्ट वृत्तियों के पाँच प्रकार बताते हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः = (१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति—ये पाँच हैं।

व्याख्या : इस सूत्र में वृत्तियों के केवल नाम बताये हैं। अगले सूत्र में प्रमाण के लक्षण और भेद बतायेंगे। सुगम है ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः = प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—(ये तीन); प्रमाणानि = प्रमाण हैं।

व्याख्या : प्रमाण-वृत्ति के तीन भेद हैं।—(१) प्रत्यक्षप्रमाण—प्रमाण का अर्थ यहाँ सबूत (proof) नहीं है, अपितु ज्ञानसाधन है। चित्त की ज्ञानावस्था का नाम चित्तवृत्ति है। पञ्च सूक्ष्म भूत अथवा अपञ्चीकृत भूतों के

सत्त्वांशों से चित्त बनता है। सर्वदा इष्टचिन्तन करते रहने से इसे चित्त कहते हैं। चित्त और मन एकार्थक ही हैं। परिदृष्ट चित्तभाव या ज्ञान समूह को ही वृत्ति कहते हैं। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं। संसार जानने के जो साधन हैं, उन्हें प्रमाण कहते हैं। 'मैं नेत्र से देखता हूँ, मैं कर्ण से सुनता हूँ, मैं अनुमान से जानता हूँ,' इत्यादि प्रकार से हमें ज्ञान होता है। यदि यह ज्ञान यथार्थ हो तो 'प्रमा' कहा जाता है। यदि अयथार्थ हो तो अप्रमा। जिस चित्तवृत्ति से यथार्थ बोध हो, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण की तीन प्रकार की वृत्ति होती हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। प्रत्यक्ष का अर्थ है अक्षि यानी नेत्र के सामने। नेत्र उपलक्षण से कहा है। इससे पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को समझना। नयन केवल रूप देखता है, शब्द नहीं सुनता। कर्ण शब्द सुनता है।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण (नासिका)—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—ये ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः पाँच विषय हैं। चित्तवृत्ति इन्द्रियप्रणाली से बाहर निकल विषय के सम्पर्क में आती है। तब वह वृत्ति विषयाकार बनकर भीतर जाती है, तब उस विषय का ज्ञान होता है। मैं घट देखता हूँ। जब चित्तवृत्ति श्रोत्र से निकलकर शब्दविषय के संयोग से तदाकार होकर भीतर जाती है, तब मन कहता है, मैं शब्द सुनता हूँ। इस प्रकार की चित्तवृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण-वृत्ति यानी ज्ञानसाधन कहते हैं। अन्तःकरण, चित्ति के प्रकाश से प्रकाशित होकर, द्वैतविषयक ज्ञान ग्रहण करता है। इसको पुरुषनिष्ठ ज्ञान कहते हैं। चित्ति के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करनेवाला प्रमाता या ज्ञान ग्रहण करनेवाला कहा जाता है। चित्त का विषयों से सीधा सम्पर्क नहीं होता, वह इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके बुद्धिवृत्ति के समक्ष रखता है, तब ज्ञान होता है। चिदात्मा, चित्तवृत्ति का विषय नहीं होता है। चित्त की दौड़ केवल प्रपञ्चज्ञान तक है।

अनुमानप्रमाण—जब विषय प्रत्यक्ष न हो, परन्तु उसकी वर्तमानता के चिह्न हों, तो चिह्नों को देखकर जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे अनुमान-प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई पर्वत पर धूम्र देखकर, कहता है 'पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि धूम्र बिना अग्नि नहीं होता।' इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान-प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई घोषी दूध में पानी मिलाता है, परन्तु पानी मिलाने का प्रत्यक्षप्रमाण नहीं मिलता, और घोषी पकड़ में नहीं आता। एक दिन उसके दूध में मछली निकली। तब अनुमानप्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि घोषी

दूध में पानी मिलाता है, क्योंकि मछली पानी में रहती है। अनुमानप्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधारित है।

आगमप्रमाण—शास्त्रों से तथा आप्त पुरुषों के वचनों से भी ज्ञान होता है। वे ज्ञानसाधन हैं। शास्त्रों में कथित स्वर्गवर्णन से स्वर्ग-सम्बन्धी ज्ञान होता है। जिस पुरुष ने कैलाश-यात्रा की है, उसके वचनों से कैलाश-यात्रा के बारे में ज्ञान होता है। आप्तपुरुष जब देखे हुए अथवा अनुमानित किये हुए विषय का बोध दूसरे व्यक्ति को कराता है, तब उसके वाक्यों से श्रोता को जो अर्थविषया वृत्ति उत्पन्न होती है, वह उसके लिये आगम प्रमाण होता है। जो वक्ता अश्रद्धेय हो तथा जिसके वचन प्रत्यक्षप्रमाण तथा अनुमानप्रमाण पर आधारित न हों, उसके वचनों से उत्पन्न ज्ञान आगमप्रमाण नहीं होता ॥ ७ ॥

अब विपर्ययवृत्ति के लक्षण बताते हैं—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतद्रूपप्रतिष्ठम् = जो उस वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं ऐसा;
मिथ्याज्ञानम् = मिथ्याज्ञान; विपर्ययः = विपर्यय है।

व्याख्या : इस सूत्र में तीन शब्द हैं (१) 'विपर्ययः'—यह मुख्य शब्द है। इसको विशद करना है। (२) 'मिथ्याज्ञानम्'—यह दूसरा शब्द विपर्यय का लक्षण बताता है कि मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। (३) 'अतद्रूप-प्रतिष्ठम्'—यह तीसरा शब्द मिथ्याज्ञान होने में कारण बताता है। विपर्यय वृत्ति से उत्पन्न ज्ञान यथार्थ विषय में प्रतिष्ठित नहीं होता, जैसे सूर्य-प्रकाश में सीपी चाँदीरूप होकर भासती है। विपरीतज्ञान का नाम विपर्यय है। विपर्यय ज्ञान को तोड़ना बहुत कठिन है। शास्त्र और गुरुओं से यह जानकर भी कि वेद भगवान् का प्रधान प्रयोजन ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता प्रति-पादन करने में है, जगत् की, जीव की तथा ईश्वर की सत्ता ब्रह्म से भिन्न भासती है। विद्वानों का भी ऐसा ही अनुभव होता है। यह विपरीतज्ञान निदिध्यासन के दृढ़ अभ्यास से खण्डित होता है। ईषत् अन्धकार में पड़ी रस्सी सर्परूप से भासित होती है, जिससे भय, कम्पन, धावन-चेष्टा उद्भूत होती हैं। प्रकाश करने पर रस्सी का ज्ञान होते ही सर्प, उसका धड़, पूँछ तथा फण तत्क्षण विलोप हो जाते हैं।

जो वस्तु जैसी हो, उसका वैसा ज्ञान न होकर अन्यथा प्रकार का ज्ञान होना विपर्यय ज्ञानवृत्ति कही जाती है। सीपी में चाँदी का दर्शन विपर्ययज्ञान है। विपर्ययज्ञान विषय के असली रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता। विषय के यथार्थ आकार में परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण कहते हैं, विषय से भिन्न आकार में परिणत चित्तवृत्ति को विपर्यय कहते हैं। रज्जुसम्बन्धी रज्जुज्ञान किसी ज्ञान से भी बाधित नहीं होता, क्योंकि वह अपने असली स्वरूप में प्रतिष्ठित है, परन्तु सर्पज्ञान, यथार्थ रज्जुज्ञान से उत्तरक्षण में, बाधित हो जाता है, क्योंकि वह स्वरूप में अप्रतिष्ठित है। विपर्यय नामवाली वृत्ति अविद्या कही जाती है। इसलिये विपर्ययज्ञान अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश भेद से पाँच प्रकार का होता है। पंचक्लेश नाम से (२.३) सूत्र में इनका वर्णन हुआ है। भेद इतना ही है कि विपर्यय एक चित्तवृत्ति है, और पंचक्लेश वृत्तियों के संस्कार होते हैं, वृत्तियाँ नहीं। इन पंचक्लेशों को क्रमशः तमस (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश-मरणभय) नाम से कहा जाता है। इसका विशेष वर्णन (२.३) सूत्र में किया जायगा ॥ ८ ॥

अब विकल्पवृत्ति का लक्षण बताते हैं—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दज्ञानानुपाती = जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला है; (और) वस्तुशून्यः = जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह विकल्पः = विकल्प है।

व्याख्या : अब ज्ञानार्जन का तीसरा साधन बताते हैं। इसका नाम विकल्पवृत्ति है। जो ज्ञान, शब्द से, उत्पन्न हो, उसे शब्दज्ञान कहते हैं। इस शब्दमात्र के अनुसरण से ही, वस्तुशून्य जो ज्ञान होता है, वह विकल्पवृत्ति कहो जाती है। विकल्पवृत्ति निर्विषयक होती है यानी इस ज्ञान की कोई आधारवस्तु नहीं होती। तो भी विकल्पवृत्ति से व्यवहार का निर्वाह होता है। इसके स्वरूप को समझाने के लिये भगवान् वेदव्यास ने कई उदाहरण दिये हैं, क्योंकि इसकी अवगति कुछ सूक्ष्म है। 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है।' चित्ति-शक्ति में और पुरुष में कोई अन्तर नहीं है, तो भी 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है', इस प्रकार का वाक्यव्यवहार विद्वान् लोग भी करते हैं। दूसरा उदाहरण

देखिये, 'राहु का शिर है।' शिर का नाम ही तो राहु है। राहु और शिर इन दो पदों में भेद नहीं है। ऐसे शब्दज्ञान के अनन्तर जो चित्त का तदाकार परिणाम होता है उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमाणवृत्ति कहते हैं। वस्तु के अयथार्थ ज्ञान को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। सीपी में सीपी का ज्ञान प्रमाणज्ञान है। इस ज्ञान का बाध नहीं हो सकता। सीपी में चाँदी का ज्ञान विपर्ययज्ञान है, क्योंकि सीपी का ज्ञान होने पर चाँदीज्ञान बाधित हो जाता है। विकल्पज्ञान किसी वस्तु के आश्रय से नहीं होता, क्योंकि यह 'शब्द-ज्ञानानुपाती है यानी शब्दज्ञानजन्य वृत्ति है, वस्तुजन्य नहीं। अतः यह प्रमाण-वृत्ति से भिन्न है। यह विपर्ययवृत्ति से भी विलक्षण है, क्योंकि जो लोग यह जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न नहीं है तो भी वाणी में इस प्रकार के वाक्यों का व्यवहार करते हैं। विकल्पवृत्ति वस्तुशून्य होने पर भी शब्दज्ञान के माहात्म्य के कारण 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्।' आदि वाक्य सुनकर चित्त में एक अस्फुट ज्ञानवृत्ति उठती है। विपर्यय से व्यवहारसिद्धि नहीं होती। सीपी में रजत से किसीके आभूषण नहीं बनते, परन्तु विकल्प से व्यवहारसिद्धि सदा चलती है ॥ ९ ॥

अब चौथी वृत्ति निद्रा का वर्णन करते हैं —

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिनिद्रा ॥ १० ॥

अभावप्रत्ययालम्बना = अभाव के ज्ञान का अवलम्बन (ग्रहण) करने-वाली, वृत्तिः = वृत्ति, निद्रा = निद्रा है।

व्याख्या : प्रत्यय पद के कई अर्थ होते हैं, यथा ज्ञान, प्रतीति, वृत्ति तथा कारण। यहाँ निद्रा शब्द का अर्थ सुषुप्ति है। सत्त्वगुण से जागरण, रजोगुण से स्वप्नावस्था तथा तमोगुण से सुषुप्ति होती है। जाग्रदवस्था में मन, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, स्थूलशरीर आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर व्यवहार करते हैं। स्वप्नावस्था में केवल मन का आत्मा से संबंध रहता है। सुषुप्ति में मन भी अपने कारण अज्ञान में लय हो जाता है। जैसे गाढ़ अन्ध-कार, कमरे में विद्यमान सभी वस्तुओं को, ढाँप लेता है और वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वैसे ही तमोगुण सब वृत्तियों को दबा देता है, और कुछ ज्ञान नहीं रहता। इस अभावज्ञान को आलम्बन करनेवाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं। जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति यानी ज्ञान को आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा कही जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि सुषुप्ति में सब वृत्तियों का अभाव नहीं होता है। अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। निद्रा में सत्त्वगुण के लेशसहित तमोगुण का प्रचार होता है। इसलिये प्रगाढ़ निद्रा से जागकर पुरुष कहता है कि 'मैं सुख से सोया, कुछ खबर नहीं रही।' सुख से सोने का अर्थ सत्त्वगुण तथा बेखबरी का अर्थ तमोगुण। कैवल्यश्रुति कहती है, 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतं सुखरूपमेति।' सुषुप्ति अवस्था में सब विलीन होने पर पुरुष तम से आच्छादित सुख को प्राप्त करता है। जिस निद्रा में रजोगुण के लेशसहित तमोगुण का साम्राज्य रहता है, उस निद्रा से जागकर पुरुष इस प्रकार अपना अनुभव बताता है, 'मैं दुखपूर्वक सोया, मेरा मन घूमता-सा है।' जिस निद्रा में तमोगुण की प्राबल्यता रहती है, तब पुरुष की इस प्रकार की स्मृति बनती है। 'मैं बेसुध सोया, मेरे शरीर के अंग भारी हैं, मेरा चित्त व्याकुल है।' निद्रा एक वृत्ति है, क्योंकि वृत्ति के ही संस्कार होते हैं। संस्कार ही स्मृति है।

सुषुप्ति और समाधि का भेद समझ लेना चाहिये। सुषुप्ति में चित्त-वृत्तियाँ अज्ञान में लय होती हैं। समाधि में चित्तवृत्ति विद्यमान तो रहती है, परन्तु उसका भान नहीं होता। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के संस्कारशेष यानी निरोधसंस्कार रहते हैं। इनके दुर्बल होने पर व्युत्थान संस्कार उठते हैं और योगी समाधि से जागता है। ज्ञान की सातवीं भूमि में निरोधसंस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं, और योगी समाधि से जागता ही नहीं, शरीरपात ही हो जाता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने ज्ञान की सप्तम भूमि में चढ़कर जीवित समाधि ली थी ॥ १० ॥

अब क्रम से प्राप्त स्मृतिवृत्ति का वर्णन करते हैं—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूतविषयः = अनुभव में आये हुए किसी विषय का असम्प्रमोषः = चोरी न होना, विलुप्त न हाना, किन्तु उसका ज्ञान होना; स्मृतिः = स्मृति है।

व्याख्या : जिस विषय का अनुभव हुआ हो, उस अनुभूतविषय कहते हैं। अनुभूत विषय का संस्कार चित्त पर पड़ा रहता है। जब किसी समय उस संस्कार को जगानेवाली सामग्री उपस्थित हो जाती है तब चित्त उस संस्कार के अनुरूप परिणाम को प्राप्त होता है। उस तदाकार परिणाम को

स्मृतिवृत्ति कहते हैं। स्मृतिज्ञान मूल अनुभव से कम हो सकता है या समान हो सकता है, अधिक नहीं। सम्प्रमोष चोरी को कहते हैं। अनुभवज्ञान से उसकी स्मृति का ज्ञान अधिक होना सम्प्रमोष है। उसके समान अथवा न्यून होना असम्प्रमोष। प्रमाण, विषय, विकल्प तथा निद्रा के अनुभवजन्य संस्कारों से स्मृतिवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः इसको अन्त में दिया है।

ऊपर पाँच प्रकार की वृत्तियाँ (यानी ज्ञान प्रकाशक करण) सात्त्विक, राजस तथा तामस होने से सुख-दुःख-मोह क्लेशरूप हैं। क्योंकि ! सात्त्विक वृत्तियाँ तो सुखरूप होती हैं, उन्हें क्लेशात्मक क्यों कहते हैं? श्रवण करो। ये तीनों गुण मिल-जुलकर काम करते हैं। सुखमयी वृत्तियों की ओट में दुःख-रूप क्लेश भी रहता है। यह अनिवार्य है। विवेकियों के लिए चित्त का स्फुरण महान् नाश है। विषयजन्य सब सुख-दुःख क्लेश देनेवाले हैं। इसलिए सभी वृत्तियाँ निरोधनीया हैं। चित्तवृत्ति उदय का अर्थ आत्मस्वरूप से च्युत होना है। आत्मविस्मरण महान् अनर्थकारी है। इससे विपदों की संतति उदित होती है। भगवत्पाद विवेकचूडामणि में कहते हैं कि मुमुक्षु के लिए अपने स्वरूप के विस्मरण से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है। क्योंकि इससे मोह होता है, मोह से अहंकार, अहंकार से बन्धन तथा बन्धन से व्यथा घेर लेती है।

‘न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः।

ततो मोहस्ततोऽहंघीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥ ३२३ ॥’

भगवत्पाद चित्तनिरोध का उपदेश करते हैं, क्योंकि इससे योगी की ब्रह्म में अचला स्थिति सिद्ध हो जाती है। उन्होंने योग के प्रथम द्वार और उनसे निष्पन्न होनेवाले मधुरफल विवेकचूडामणि के दो मार्मिक श्लोकों में बताये हैं—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।

निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥ ३६८ ॥

योग के पाँच प्रथम द्वार यानी प्रवेशमार्ग हैं—

१. वाणी का नियंत्रण, २. भोगसामग्री का असंग्रह, ३. लौकिक भविष्य का अचिन्तन, ४. कामनाओं का त्याग तथा ५. नित्य एकान्त में रहना। भगवान् कृष्ण ने भी यही बात गीता में कही है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ६.१० ॥

अर्थ : एकान्त में स्थित होकर, अकेला ही, अपने चित्त और देह को

वश में करके, तृष्णारहित और संग्रहरहित होकर ध्यानयोगी सदा अपने चित्त को आत्मा में लगाये ।

भगवत्पाद इस पञ्चविध प्रवेशद्वार का सेवन करने का फल बताते हैं—

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
 संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना ।
 तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिन-
 स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुनेः ॥ ३६९ ॥

एकान्त-सेवन इन्द्रियदमन का कारण है । इन्द्रियदमन अन्तःकरण के शमन का कारण है । चित्तनिरोध से वासना का नाश होता है । वासना नष्ट होने से योगी को ब्रह्मानन्दरस का अनुभव होता है । इसलिये मुनि को सदा प्रयत्नपूर्वक चित्तनिरोध करना चाहिये ॥ ११ ॥

यहाँ वृत्तिप्रकरण समाप्त हो जाता है । इससे आगे इनके निरोध के द्विविध उपाय बताते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

तन्निरोधः=उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध; अभ्यासवैराग्याभ्याम् = अभ्यास और वैराग्य से होता है ।

व्याख्या : चित्तवृत्तियों के निरोध के दो मात्र ही उपाय हैं । तीसरा नहीं है । इस सूत्र पर भगवान् वेदव्यास की अमरवाणी का हिन्दी रूपान्तर देते हैं । साधकगण इसको धीर गति से पढ़ें और बार-बार विचार करें ।

‘चित्त एक नदी है । इसमें वृत्तियों के प्रवाह दो धाराओं में बहते हैं । एक प्रवाहधारा संसार-सागर की ओर बहती है । दूसरी कल्याण-सागर की ओर बहती है । जिसने पूर्वजन्मों में विषयभोगार्थ कर्म किये हैं, उनकी वृत्तियों की धारा संसार-सागर में जा मिलती है । जिन्होंने पूर्वजन्म में मोक्ष-धर्म का सेवन किया है, उनकी वृत्तियों की धारा विवेकमार्ग में बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है । संसारी पुरुषों की संसार-सागरधारा तो प्रायः खुली होती ही है, किन्तु दूसरी धारा को गुरु-शास्त्र-ईश्वरचिन्तन खोलते हैं । संसारधारा को बन्द करने के लिए विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बंधा लगाया जाता है और विवेक अभ्यास के बेलचे से दूसरी धारा का मार्ग

गहरा खोदकर चित्तवृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से बहकर वह सारा प्रवाह कल्याणरूपी सागर में जाकर मिल जाता है। इसलिये अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्तवृत्तिनिरोध के साधन हैं।

विवेक और वैराग्य दोनों का समुच्चय ही फलप्रद होता है। शंकर-भगवत्पाद विवेकचूडामणि में कहते हैं—

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्,
पक्षौ विजानीहि विचक्षण ! त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणम्,
ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ॥ ३७५ ॥

हे विद्वन् ! वैराग्य और विवेकाभ्यास इन दोनों को मोक्षकामी पुरुष के लिये पक्षी के दोनों पंखों के समान पंख समझो। इन दोनों के बिना केवल एक पाँख से कोई भी साधक मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ सकता। अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है। वैराग्य से रजोगुण की।

अर्जुन द्वारा मन वश में करने के उपाय पूछने पर श्री भगवान् ने गीता में बताया है कि यद्यपि मन बड़ा चंचल और कठिनता से वश में आने-वाला है तो भी अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा मन वश में किया जा सकता है। मन को वश में न करने से पुरुष के लिये योग (समाधि) असाध्य है, यह मैं जानता हूँ, तो भी अपने अधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से योग प्राप्त हो सकता है। मूल श्लोक फुटनोट में देखिये।

वेदव्यासादि मुनियों ने ज्ञान के चार साधन बताये हैं—१. विवेकाभ्यास, २. वैराग्य, ३. षट्सम्पत्ति, ४. मुमुक्षुता। इनमें विवेक और वैराग्य प्रधान हैं। शंकरभगवत्पाद अपने ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में विवेक और वैराग्य का स्वरूप बताते हैं। आत्मा का स्वरूप नित्य है। दृश्यप्रपञ्च (अनात्मा) उसके विपरीत यानी अनित्य है—ऐसा जो दृढ़ निश्चय है वही आत्मा-अनात्मा का

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६.३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वस्थ्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६.३६ ॥ गीता

विवेक है। ब्रह्मलोक से लेकर मृत्युलोकपर्यन्त समस्त भोगों में जो काकविष्टा के समान घृणा होती है, उसे ही निर्मल वैराग्य कहते हैं। मूल श्लोक इस भाँति हैं—

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।

एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेको वस्तुनः सः वै ॥ ४ ॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।

यथैव काकविष्टायां वैराग्यं तद्वि निर्मलम् ॥ ५ ॥

इससे आगे के चार सूत्रों में ग्रन्थकार स्वयं ही अभ्यास तथा वैराग्य का स्वरूप बतायेंगे। श्री गुरुचरण कहा करते, 'इन्द्रियों को विषयों से हटाये बिना तथा अध्यात्म-विचार से सम्पन्न हुए बिना स्वरूप में स्थिति किसी प्रकार सम्भव नहीं है।' (स्वामी ओंकाराश्रमजी महाराज) मोक्ष पुरुषार्थ-साध्य उपलब्धि है ॥ १२ ॥

अब अभ्यास का स्वरूप तथा प्रयोजन बताते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; स्थितौ=(चित्तको) स्थिरता के लिये; यत्नः=जो प्रयत्न करना है, वह; अभ्यासः=अभ्यास है।

व्याख्या : द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति, अथवा सर्ववृत्तिनिरोध प्राप्त करने के लिये जो प्रकर्ष यत्न, वीर्य, उत्साह, यानी बारम्बार विवेक अनुष्ठान किया जाता है, उसे अभ्यास कहते हैं। चित्त की प्रशान्तवाहिता, यानी निरोध-संस्कारों के प्रवाह का नाम स्थिति है। यह स्थिति स्वप्रयत्न साध्य है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्' मुण्डक० (३.२.५) यह आत्मा बलहीन या प्रमादी साधक से प्राप्य नहीं है। स्वरूपस्थिति के लिये घोर प्रयत्न करना पड़ेगा। श्री रामजी ने मुक्तिकोपनिषद् में हनुमान्जी को बताया है कि सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य ये चार प्रकार की मुक्ति मेरी कृपा से मिल जाती हैं, परन्तु कैवल्यमोक्ष स्वप्रयत्नसाध्य है। तात्पर्य यह है कि साधक कटिबद्ध होकर ब्रह्माभ्यास में लग जाये। साथ ही मनोनाश के लिये योगाभ्यास भी करे। ये दोनों आपस में पूरक और सहायक हैं ॥ १३ ॥

यह अभ्यास दृढ़ कैसे हो ? अगले सूत्र में बताते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

तु=परंतु; सः=वह (अभ्यास); दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितः= बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जाने पर, दृढभूमिः=दृढ़ अवस्थावाला होता है ।

व्याख्या : अदृढ़ अभ्यास को वासनायें दबा देती हैं । कच्ची नींव पर दीवार नहीं ठहरती अतः अभ्यास को दृढ़ करना चाहिये । यह अभ्यास तीन गुणों से युक्त होकर दृढ़ होता है । पहला विशेषण यह है कि यह अभ्यास दीर्घकाल तक यानी चिरकाल तक आसेवित होना चाहिये । दीर्घकाल की कोई सोमा नहीं है । यदि उत्तम अधिकारी है तो थोड़े समय में ही अभ्यास सफल हो जाता है । धैर्यपूर्वक अभ्यास करना चाहिये । दूसरा विशेषण है कि यह अभ्यास निरन्तर आसेवित होना चाहिये यानी नियमपूर्वक निश्चित समय पर एकान्त स्थान में अभ्यास करना चाहिये । तीसरे यह तत्त्वाभ्यास सत्कारपूर्वक करना चाहिये । सत्कार से यानी विद्या से अर्थात् विचार से, ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके, श्रद्धा से युक्त होकर तथा तपस्यादि से युक्त होकर अभ्यास करना सत्कारासेवित अभ्यास होता है । श्रद्धा और विद्या से युक्त अभ्यास बड़ा वीर्यवान् होता है । इन तीन विशेषणों से युक्त अभ्यास दृढभूमि-वाला होता है । व्युत्थान संस्कार इस भूमि से साधक को विचलित नहीं कर सकेंगे । शंकरभगवत्पाद अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में कहते हैं—

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः ।

तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम् ॥ १०१ ॥

ब्रह्म का अभ्यास निरन्तर किये बिना ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकते । अतः जिज्ञासु को चाहिये कि कल्याण-प्राप्ति के लिये चिरकाल तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना करे ॥ १४ ॥

वैराग्य दो प्रकार का होता है, अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य । अगले सूत्र में अपर-वैराग्य का स्वरूप बताते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य = देखे हुए दृष्ट और सुने हुए विषयों में जिसकी कोई लालसा न हो, उसके; वशीकार-संज्ञा वैराग्यम् = चित्त को वश में करनेवाली वृत्ति का नाम वैराग्य है ।

व्याख्या : वैराग्य दो प्रकार के होते हैं। पर-वैराग्य और अपर-वैराग्य। पहले अपर वैराग्य बताते हैं। विषय भी दो प्रकार के होते हैं। एक दृष्टविषय, शब्दस्पर्शादि विषय जो इस लोक में देखे जाते हैं। दूसरा आनुश्रविक विषय जो वेदों में, शास्त्रों में सुने जाते हैं, जैसे स्वर्ग, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक के विषय, विदेहों तथा प्रकृतिलय देवों के विषय। इन दोनों दिव्य तथा अदिव्य विषयों के सामने उपस्थित होने पर भी विवेकज्ञान के बल से, विषयों में दोषदर्शन से जिसका चित्त इनके संगदोष से सर्वथारहित हो जाता है, यानी न इनको राग से ग्रहण करता है, न द्वेष से त्यागता है, उस चित्त की अवस्था का नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य है। विषयों पर कोप करने से द्वेष भासित होगा, अतः विषयों में न प्रीति करे, न द्वेष करे। तटस्थ भाव से रहे। मार्कण्डेय मुनि के तप में विघ्न करने के लिए जब अप्सरायें आईं तो मुनि ने उनकी उपेक्षा की और वे विफलमनोरथ होकर मुनि के संयम की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई चली गईं। उनका वैराग्य पूर्ण था। विश्वामित्रने रम्भा को कोपवश शाप देकर पाषाण बना दिया। उस काल में उन मुनि का वैराग्य अपूर्ण था।

ज्ञानसाधनों को आधारशिला विवेकवैराग्य हैं। इनमें प्रथम स्थान विवेक का है। इसीलिये मुनि ने पहले अभ्यास कहा है। परन्तु वैराग्य कम मूल्यवान् नहीं है। वैराग्य के दृढ़ हुए बिना शमदमादि साधन फलवान् नहीं होते। श्री भगवान् गीता में अर्जुन को उपदेश करते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २.१४ ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ५.२१ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी रूप से सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तुम सहन करो ॥ बाहर के विषयों में आसक्तिरहित मनवाला पुरुष, अन्तःकरण में जो उपरामरूप सुख है, उसको प्राप्त होता है। वह समाधि में आत्मा के साथ एकीभाव से स्थित हुआ अविनाशी आनन्द का अनुभव करता है ॥

शंकरभगवत्पाद विवेकचूडामणि ग्रन्थ में वैराग्य-संबंध में स्मरणीय वचन कहते हैं—

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा, रागोरुपाशेन सुदर्दमेन ।

आयान्ति निर्यान्त्यथ ऊर्ध्वमुच्चैः, स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥ ७७ ॥

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
 पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
 कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-मीन-भृङ्गा
 नरः पञ्चभिरञ्जितः किम् ॥ ७८ ॥
 आपात-वैराग्यवतो मुमुक्षून्
 भवाधिपारं प्रतियातुमुद्यतान् ।
 आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले,
 विगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥ ८१ ॥
 मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति,
 त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा ।
 पीयूषवत्तोष-दया-क्षमार्जव-
 प्रशान्ति-दान्तोर्भज नित्यमादरात् ॥ ८४ ॥

जो मूढ़ इन विषयों में रागरूपी विस्तृत पाश से बंध जाते हैं, वे अपने कर्मरूपी दूत के द्वारा वेग से वहन किये हुए उत्तमाधम योनियों में जन्म लेते हैं और मरते हैं ॥ ७७ ॥ शब्दादि पंच विषयों में से केवल एक-एक विषय में बँधे हुए हिरण (शब्द में आसक्त), हाथी (स्पर्शसुख रसिया), पतंग (परवाना-रूपरस-लोभी), मछली (रसासक्त) और भ्रमर (गंधरसिक) मृत्यु को प्राप्त होते हैं । पाँचों विषयों में बँधे मनुष्य की क्या गति होगी ! अहो विषयराग की अनर्थता ॥ ७८ ॥ संसार-सागर को पार करने के लिये उद्यत कच्चे वैरागी मुमुक्षुओं को आशारूपी मगरमच्छ अतिवेग से कंठ पकड़कर बल से पीछे खींचकर भवसागर के अन्तराल में डुबो देता है ॥ ८१ ॥ हे मित्र ! यदि सचमुच तेरी मोक्ष की इच्छा है, तो विष के समान घातक विषयों को दूर से ही त्याग दे और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम, दम का अमृत के समान श्रद्धा-पूर्वक नित्य सेवन कर ॥ ८४ ॥

श्री वशिष्ठजी रामजी को वैराग्य की महिमा बताते हैं—

गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाश-मुद्रिका ।

त्रिभुवनं तृणं राम नैराश्यालंकृताकृतिः ॥

हे राम ! जो वैराग्य-अलंकार से सुशोभित है उसके लिये मही गोखुर, मेरुपर्वत कटे वृक्ष के ठूँठ, आकाश अँगूठी, त्रिभुवन तिनके के समान है । भगवत्पाद वैराग्य को परमसुख का पिता बताते हैं । 'वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मनः ।' (विवेक० ३७७) जितेन्द्रिय पुरुष के लिये

वैराग्य से बढ़कर सुख को उत्पन्न करनेवाला पिता मुझे कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता ।

अपर-वैराग्य एक बार में सिद्ध नहीं होता । उससे पहले वैराग्य की तीन सीढ़ियाँ हैं उन्हें पार कर लेने पर वशीकार संज्ञा प्राप्त होती है । वे तीन अवस्थाएँ (१) यतमान, (२) व्यतिरेक तथा (३) एकेन्द्रिय नाम से कही जाती हैं । 'मैं अपनी इन्द्रियों को अशास्त्रिक विषयों में प्रवृत्त नहीं होने दूँगा ।' इस प्रकार की शुभ वासना और चेष्टा का नाम यतमान वैराग्य है । इस प्रयत्न से जब किसी विषय से राग हट जाये, किसीमें क्षीण हो जाये तब जिस विषय से राग-द्वेष हट जाये यानी जिनमें वैराग्य दृढ़ हो जाये उस विषय को अलग करके, केवल उन विषयों पर यत्न को केन्द्रित करे जहाँ वैराग्य कच्चा हो । इस प्रकार छँटाई करके वैराग्य को पुष्ट करता रहे । इसे व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं । जब इन्द्रियाँ तो विषय में प्रवृत्त न हों पर उत्सुकता के कारण मन में उसको स्थान देता रहे, तब उसे एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य कहते हैं । उसमें उत्सुकता के कारण राग केवल आभ्यन्तर इन्द्रिय यानी मन में निवास करता है । इस औत्सुक्यमात्र राग से भी निवृत्ति पाने का उपाय वशीकार संज्ञा वैराग्य है यानी दिव्य, अदिव्य (लौकिक) विषयों में उपेक्षा-बुद्धि रखना । इन तीन प्रकार के वैराग्यों से परे वशीकार संज्ञा वैराग्य आता है ॥ १५ ॥

अपर-वैराग्य का फल सम्प्रज्ञात समाधि है । इसकी सबसे ऊँची भूमि को विवेकख्याति कहते हैं । विवेकख्याति का अर्थ पुरुष (चित्ति, ब्रह्मा) और चित्त (प्रकृति) का भेदज्ञान होना । पुरुष का साक्षात्कार नहीं, क्योंकि वह तो असम्प्रज्ञात समाधि में होता है । पुरुष शुद्ध है । प्रकृति तद्विपरीत है । इस भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है । विवेकख्याति, पुरुषख्याति, सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति एक ही वस्तु है । ख्याति का अर्थ ज्ञान ।

अपर-वैराग्य बताकर, अब पर-वैराग्य कहते हैं--

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम् ॥ १६ ॥

पुरुषख्यातेः = पुरुष (चित्ति) के ज्ञान से; गुणवैतृष्यम् = जो प्रकृति के गुणों में लालसा का अभाव हो जाना है; तत् परम्=उसे पर-वैराग्य कहते हैं ।

अपर-वैराग्य से चित्त एकाग्र हो जाता है, क्योंकि विषय-समुदाय चित्त को आकर्षण करने में असमर्थ हो जाते हैं। इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। परन्तु विषय तो गुणनिर्मित हैं। गुणों के रहते-रहते ब्रह्मसिद्धि नहीं हो सकती। दृष्टादृष्ट विषयों में दोषदर्शन करनेवाला विरक्तचित्तयोगी पुरुष-दर्शन के अभ्यास में रत, यानी निदिध्यासनशील योगी की चित्तवृत्ति सत्त्व-गुणोन्मयी हो जाती है जिससे रजोगुण, तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं। सत्त्व-गुण चित्त में स्थिर-सा हो जाता है। पुरुषदर्शन अभ्यास से पुष्ट हुई बुद्धि व्यक्ताव्यक्त धर्मवाले गुणों से भी विरक्त हो जाती है। मानो अपने ही जीवन से ऊब गई हो। अपर-वैराग्य की दृढ़ता से विवेकख्याति उदित होती है। इससे पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान होता है। सागर-तट पर खड़ा पुरुष जल-थल दोनों को देख सकता है। विवेकख्यातिसिद्ध योगी पुरुष और प्रकृति की भिन्नता को देखता है। वेदों का तात्पर्य एकतत्त्व ब्रह्म-प्रतिपादन में है। द्विविध दर्शन में नहीं है। प्रकृति जैसी लजीली वस्तु संसार में कोई नहीं है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया है' फिर उसकी दृष्टि में नहीं आती। यह बात सांख्यकारिका में कही है।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।

या दृष्टाऽस्मीति पुनरं दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

विवेकख्याति ही ग्रन्थिभेद है, क्योंकि विवेकख्याति से अहंकार और चिदात्मा का तादात्म्य अध्यास टूट जाता है। परन्तु विवेकख्याति भी तो एकवृत्ति ही है। इससे विरक्ति होने पर (पर-वैराग्य) का आविर्भाव होता है। शंकरभगवत्पाद कहते हैं—

अत्यन्त वैराग्यवतः समाधिः

समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।

प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्ध-मुक्ति

मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥ ३७६ ॥ विवेक०

अत्यन्त वैराग्यवान् यानी पर-वैराग्यवान् को ही असम्प्रज्ञात समाधि लगती है। समाधि से ही दृढ ब्रह्मज्ञान होता है। सुदृढ बोधवान् का ही संसार-बन्धन् छूटता है। जो भवबन्धन् से मुक्त है, उसीको नित्यानन्द का अनुभव होता है।

विवेकख्याति की स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेघसमाधि है। धर्ममेघ-समाधि या पर-वैराग्य, ज्ञानप्रसादमात्र होता है, अर्थात् ज्ञान की परमशुद्धि। पर-वैराग्य से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है। पर-वैराग्य उदय होने पर योगी इसप्रकार मानता है। 'जो प्राप्त करने योग्य यानी कैवल्यता है वह प्राप्त हो गई

है। जो नाश करने योग्य पाँचों क्लेश थे वे नष्ट हो गये हैं। अब संसार-चक्र टूट गया है, जिसके टूटे बिना मनुष्य पैदा होकर मरता है और मरकर जन्मता है।' (भाष्यकार-वचन)। 'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्' यह पर-वैराग्य ही ज्ञान की परा सीमा है। धर्ममेघ ही पर-वैराग्य है, अन्य कुछ नहीं है। आगे भी कहेंगे 'प्रसंख्यानेऽप्यकुलोदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधिः।' (४.२९) जो योगी विवेकज्ञान से भी विरक्त है, उसको निरन्तर विवेकख्याति उदित रहती है। इसलिये उसको धर्ममेघ समाधि होती है। अति उत्तम, पुण्य-पाप से रहित, परमपुरुषार्थ के साधक धर्म की जो वर्षा करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। 'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।' (४. ३१) जब धर्ममेघ समाधि से चित्त के समस्त आवरणमल हट जाते हैं तब चित्तप्रकाश के अनन्त होने से ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है। 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।' छान्दो० (७.२३.१) जो भूमा (ब्रह्म) है वही सुखरूप है, अल्प (संसार) में सुख नहीं है। इसलिये ब्रह्म ही जानने योग्य है। पर-वैराग्य एवं निर्विप्लवा पुरुषख्याति अविनाभावो होते हैं। उसीसे ही चित्तप्रलयरूप कैवल्य सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायों से निरुद्धचित्त योगी को सम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बताते हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् = वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (चित्तवृत्ति का समाधान) सम्प्रज्ञातः= सम्प्रज्ञात योग है।

व्याख्या : पहले दो उपाय यानी अभ्यास और वैराग्य योग के सामान्य साधन हैं। अब योग और उसके साधन विशेष रूप से कहने हैं। पहले संप्रज्ञात योग सिद्ध होता है। उसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग। इसलिये आदि में सम्प्रज्ञात योग के चार अवान्तर भेद बताते हैं। प्रश्न इस प्रकार है। क्योंजी ! अभ्यास और वैराग्य के बल से जिस साधक ने अपने चित्त की राजस और तामसवृत्तियाँ निरुद्ध कर ली हैं, उसके लिए शास्त्रों में सम्प्रज्ञात योग के कितने भेद बताये हैं ? श्रवण करो। 'वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितारूप-अनुगमात् सम्प्रज्ञातः'। इस सूत्र के अन्त में 'समाधि' शब्द जोड़ लेना चाहिये। अनुगम

शब्द प्रत्येक समाधिभेद के पीछे लगाना चाहिये अर्थात् वितर्करूपानुगमात्, विचाररूपानुगमात् आदि । रूप मात्रा अर्थ में है । जैसे वितर्क का स्वरूप है, उसीके अनुरूप समाधि का नाम है । वितर्क में स्थूल वस्तु पर समाधि लगाई जाती है । विचाररूपानुगत समाधि में सूक्ष्म विषय पर समाधि लगाई जाती है । उसीके अनुरूप समाधि का नामकरण है ।

सम्प्रज्ञात समाधि लगने पर ध्येय वस्तु का संशय-विपर्ययरहित साक्षात्कारजनित चहुँओर का ज्ञान—ऐसा ज्ञान जो पहले न कभी देखा हो, न सुना गया हो, न अनुमान किया गया हो—हो जाता है । ध्येय सम्बन्धी यह चरम सत्यज्ञान होता है ।

पहले वितर्कानुगत समाधि बताते हैं । स्थूल विषय पर ध्यान सुगमता से जमता है । इसलिए इस समाधि का वर्णन पहले किया है । विशेष रूप से तर्कण, अवधारण को वितर्क कहते हैं । इससे युक्त निरोध का नाम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है । इस समाधि में चित्त का आलम्बन यानी ध्येयविषय स्थूल होता है, यथा विराट्, पंचभौतिक विषय—सूर्य, चन्द्रमा, शरीर, स्थूलेन्द्रियविषयक । स्वरूप का साक्षात्कार करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम आभोग होता है । वितर्क समाधि के दो भेद होते हैं—सवितर्क और निर्वितर्क । सवितर्क समाधि में शब्द तथा ज्ञानसहित ध्येय वस्तु (अर्थ) का साक्षात्कार होता है । निर्वितर्क समाधि में शब्द तथा ज्ञानरहित केवल अर्थ-मात्र का साक्षात्कार होता है । (देखिये १.४३ सूत्र)

अब विचारानुगत समाधि बताते हैं । इस समाधि में साधक का ध्यान-विषय स्थूलभूतों के कारण पंचतन्मात्रा तथा सूक्ष्म इन्द्रियाँ (शक्तिरूपा) होते हैं । यह समाधि स्थूलविषयों से रहित होती है, परन्तु विचार-आनन्द-अस्मिता से अनुगत होती है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार विचारानुगत समाधि में चित्त के ग्राह्य विषय पंचतन्मात्रा लिंग तथा अलिंग हैं । तात्पर्य यह है कि जब साधक स्थूलविषय में चित्त स्थिर करके उसका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी चित्तवृत्ति सूक्ष्म विषयों का आभोग (साक्षात्कारवती प्रज्ञा) करने में सक्षम हो जाती है । यह समाधि विचारसहित लगाई जाती है । विचार का आधार शब्द होते हैं । विचारानुगत समाधि के भी दो भेद होते हैं, सविचार और निर्विचार—शब्द तथा ज्ञानसहित, एवं शब्द तथा ज्ञानरहित ध्येय वस्तु का साक्षात्कार ।

ग्राह्य विषय पर समाधि बताकर अब ग्रहणविषय समाधि यानी आनन्दानुगत समाधि बताते हैं । विचारानुगत समाधि-अभ्यास में पटुता के

कारण चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है तब वह शक्तिमात्र इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के कारण अहंकार को अपने ध्यान का विषय बनाता है। सत्त्वगुण की अधिकता के कारण अहंकार का साक्षात्कार होने लगता है। अहंकार आनन्द देता है, परन्तु यह आनन्द ब्रह्मानन्द नहीं होता। जो योगी इसीको अन्तिम आनन्द समझ बैठते हैं, उनका जन्म फिर होता है। ऐसे योगी शरीर त्यागने के पश्चात् दीर्घकाल तक कैवल्यपद जैसा आनन्द भोगते हैं, परन्तु मुक्त नहीं होते। उन्हें विदेहदेव कहते हैं। इसका वर्णन १९वें सूत्र में किया जायेगा। कुछ आचार्यों ने आनन्दानुगत समाधिजनित सुख के वर्णन में गीता (६.२१) श्लोक का प्रमाण दिया है, सो अयथार्थ प्रतीत होता है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तदबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ (६.२१)

अर्थ : जिस अवस्थाविशेष में स्थित होकर योगी जिस सुख का अनुभव करता है, वह सुख आत्यन्तिक (निरतिशय, आनन्द, आनन्दघन) है, तथा शुद्ध, स्थिर तथा सूक्ष्म बुद्धिवृत्ति से ग्रहण करने योग्य है। जिस अवस्थाविशेष में यह विद्वान् योगी आत्मस्वरूप से चलायमान नहीं होता। (उसको हे अर्जुन, तू योग जान।)

यह श्लोक ब्रह्मानन्द का वर्णन करता है, न कि अहंकारसाक्षात्कारभूत आनन्द का। यहाँ आत्यन्तिक सुख से ब्रह्मसुख स्वरूप कथन किया है। अतीन्द्रिय कहने से विषयसुख का निवारण किया है। बुद्धिग्राह्य कहने से सौषुप्त सुख का निराकरण होता है, क्योंकि सुषुप्ति में बुद्धि का लय हो जाता है। समाधि में बुद्धि का लय नहीं होता, अमान होता है। आनन्दानुगत समाधि वितर्क तथा विचार से हीन होती है, क्योंकि यह स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों के सम्बन्ध में नहीं होती। चित्तादिकरणों में व्याप्त सात्त्विक सुख इस समाधि का ध्येयालम्बन होता है। चित्तेन्द्रियप्राणादि का आधार शरीर होता है। अतः यह आनन्द समग्र शरीर का स्थिर सत्त्वसुख है। शान्तकरण समूह आनन्द-दाता है। तो भी यह आनन्द अस्मिदानुगत समाधि के आनन्द का स्थूलभाव है। इसमें 'अहम्' वृत्ति होती है।

अब ग्रहीतृविषयक चौथे प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि, जिसे अस्मिदानुगत कहते हैं, बताते हैं। अस्मिता अहंकार का कारण है। 'अस्मिभावोऽस्मिता।' अस्मि (हूँ) के भाव का नाम अस्मिता है। प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। यह वही स्थूल है जहाँ पुरुष और प्रकृति में अभिन्नता आरोपित होती है। इससे अहंकार उत्पन्न होता है, 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ' इत्यादि भेद

चालू हो जाता है। अस्मिता में केवल 'अस्मि अस्मि' हूँ, हूँ का ज्ञान होता है। परन्तु क्या हूँ ? यह भेद नहीं होता। 'मैं ब्राह्मण हूँ', क्षत्रिय हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ' इस प्रकार का अनुभव अहंकार उदित होने पर होता है। चेतन-बिम्ब का प्रकाश प्रकृति पर पड़ता है। प्रकृति उसके प्रकाश को प्रतिबिम्बित करती है यानी चेतनीभूत-सी होकर अपनी अस्पष्ट-सी सत्ता मानने लगती है। समष्टि अहंकार का नाम ही अस्मिता है। इस अवस्था में भेद स्पष्ट नहीं होता। जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाये कि वह अस्मिता में धारणा करने लगे तब अस्मिता का उसको साक्षात्कार होता है और उसे अस्मिता-नुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। कुछ योगी अस्मितानुगत समाधि को ही आत्मस्थिति समझकर अलंबुद्धि हो जाते हैं। आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करते। शरीर त्यागने पर विदेहों से अधिक काल तक कैवल्यपद जैसा आनन्द भोगते हुए रहते हैं। उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं। (देखिये १.१९ सूत्र) इनका भी पुनर्जन्म होता है।

अब इन चारों प्रकार की समाधियों में अन्तर बताते हैं। कार्य में कारण रहता है। कारण में कार्य अनुगत नहीं होता। इसलिये वितर्क समाधि चतुष्टयानुगत है यानी यह चारों से युक्त है। स्थूलभूतों के कारण पंचतन्मात्रायें पंचभूतों में अनुगत होती हैं। पंच तन्मात्राओं का कारण अहंकार इनमें अनुगत होता है। अहंकार का कारण अस्मिता अहंकार में अनुगत होती है। इसलिये वितर्कानुगत समाधि चारों समाधियों से अनुगत है। विचारानुगत समाधि त्रितयानुगत होती है, परन्तु वितर्करहित होती है। आनन्दानुगत समाधि विचार तथा वितर्क से रहित, परन्तु द्वयानुगत (आनन्द और अस्मिता से अनुगत) होती है। अस्मितानुगत समाधि एकानुगत होती है। इसका ध्येय-विषय अस्मिता और वृत्ति 'अस्मिमात्र' होती है। आत्मा के साथ तादात्म्यता-सहित बुद्धि का नाम अस्मिता है। यही ब्रह्मगुफा है।

अस्मितानुगत समाधि की सूक्ष्मावस्था में यानी प्रगाढ़ समाधि होने पर विवेकख्यातिनामक वृत्ति उदित होती है, और पुरुष तथा बुद्धि में भिन्नता का साक्षात्कार होता है। परन्तु यह आत्मस्थिति नहीं होती। इस भेदज्ञान में भी विरक्ता पैदा करनेवाली पर-वैराग्य नाम की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। 'नेति नेति' के अभ्यास द्वारा, यानी यह आत्मतत्त्व नहीं है, यह आत्मतत्त्व नहीं है, इस प्रकार अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

वेदान्तशास्त्र में इसे पंचकोशविवेक कहा है। अन्नमय कोश (स्थूल शरीर), प्राणमय कोश (प्राणप्रधान कोश), मनोमय कोश (मनप्रधान कोश),

विज्ञानमय कोश (बुद्धिप्रधान कोश) तथा आनन्दमय कोश (अहंकार-प्रधान कोश)—इन पाँच कोशों का 'नेति' श्रुति से निराकरण करके, निराकरण के पश्चात् जो सत्ता अवशिष्ट रहती है, जिसका निराकरण नहीं हो सकता, जो स्वयं पाँचों कोशों में व्याप्त है, और उनका अधिष्ठान और प्रकाशक है, वही आत्मा है। इस प्रकार अनात्मकोशों को बाध करते हुए आत्मतत्त्व पर पहुँचा जाता है। शंकरभगवत्पाद ने पंचकोशविवेक का बड़े विस्तार से अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विवेकचूडामणि में एकहत्तर श्लोकों में (१५४ से २२४) विवेचन किया है। विद्यारण्यमुनि ने पञ्चदशी ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण 'पंचकोशविवेकप्रकरणम्' में इसी विषय का प्रतिपादन किया है। शंकर-भगवत्पाद ने अपने ग्रन्थ 'स्वात्मनिरूपणम्' में कुल सात मनोहारी श्लोकों (७-१३) में पंचकोशनिरूपण किया है। साधकों के उपकार के लिये उन श्लोकों को स्वयंसिद्धा टीकासहित परिशिष्ट में उद्धृत किया जाता है। जो महान्फल इन समाधियों के सिद्ध होने पर मिलेगा, वही महान्फल पंचकोशविवेक के सिद्ध होने पर मिलता है। पंचकोशविवेक विचारप्रधान है। समाधि क्रिया-प्रधान हैं। पंचकोशविवेक आयत्त होने पर आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान अवगत होता है। अस्मितानुगत समाधि सिद्ध होने के पश्चात् विवेकख्याति यानी पुरुष-प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। किसीके लिये विचार असाध्य है, किसीके लिए योग। जिसके जो भी अनुकूल हो, उसीका अभ्यास करे। फल में समानता है ॥ १७ ॥

अपर-वैराग्य से जनित सम्प्रज्ञात समाधि बताकर अब पर-वैराग्य-जनित असम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण करते हैं।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः = विराम-प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्व अवस्था है और; संस्कारशेषः=जिसमें चित्ताका स्वरूप 'संस्कार' मात्र ही शेष रहता है, वह योग; अन्यः = असम्प्रज्ञात है।

व्याख्या : सम्प्रज्ञात समाधियों में चित्त पूर्णतया निरुद्ध नहीं होता, अतः चित्त को आलम्बन की अपेक्षा है। अस्मिता समाधि में पुरुष और बुद्धि का तादात्म्य अध्यास होता है। यही चिज्जड़ ग्रन्थि है। यहीं से सृष्टि का आरम्भ है।

सब वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कारशेषरूप समाधि असम्प्रज्ञात कही जाती है। सर्ववृत्तियों के निरोध का कारण पर-वैराग्य है। सम्प्रज्ञात समाधि भी चित्त की एक वृत्ति ही तो है। जब तक वृत्ति रहेगी तभी तक चित्त भी रहेगा। इस संसारचक्र की नाभि चित्त है। चित्त के चञ्चल होने से संसारचक्र गतिमान् रहता है। यदि नाभि को रोक दिया जाये तो चक्र भी रुक जायेगा। विवेकख्याति, जो कि सम्प्रज्ञात समाधि का उच्चतम फल है, से भी तृष्णाहीन हो जाना पर-वैराग्य है। पर-वैराग्य के अभ्यास से अन्तिम विवेकख्यातिवृत्ति का भी निरोध हो जाता है। विराम का अर्थ सर्ववृत्ति-निरोध है। प्रत्यय का अर्थ कारण है। सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है। इसमें कोई भी द्वैतसम्बन्धी वृत्ति नहीं रहती, क्योंकि इसमें अविद्यादि क्लेशबीज नहीं रहते। इन निरोधसंस्कारों को ही संस्कारशेष कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध का ही संस्कार शेष, बाकी रहता है, जैसे तप्त तवे पर जलबिन्दु का संस्कार। संसारबीज न रहने से असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। दीर्घ अभ्यास होने पर संस्कारशेष भी दग्ध हो जाता है। संस्कारशेष की निवृत्ति का नाम ही कैवल्य है। भाष्यकार इस बात पर जोर देते हैं कि पर-वैराग्य ही असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय है। पर-वैराग्य का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। यही जीवन की सफलता है।

वेदान्तशास्त्र में दो प्रकार की समाधि कही गई है, एक सविकल्प, दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप जो त्रिपुटी है उसके सहित अन्तःकरण (चित्त) की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि (सम्प्रज्ञात) कहलाती है। सविकल्प समाधि में त्रिपुटी का भान रहता है, परन्तु ब्रह्मरूप से रहता है। सविकल्प समाधि का अभ्यास होने पर निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटी रहती तो है, परन्तु उसकी प्रतीति नहीं होती। वृत्ति का सम्यक् विस्मरण हो जाता है।

सुषुप्ति और समाधि का भी भेद समझना चाहिये। सुषुप्ति में चित्त की ब्रह्माकारवृत्ति नहीं बनती, क्योंकि चित्त अपनी वृत्तियोंसहित अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है। निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण का अभाव नहीं होता, अमान होता है। यदि चित्त का अभाव हो जायेगा तो निद्रालु की भाँति गिर पड़ेगा। निर्विकल्प समाधि से समस्त वासनाक्षय तथा अखिल कर्मनाश सिद्ध होता है। शंकरभगवत्पाद विवेकचूडामणि में कहते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासना-
ग्रन्थेर्विनाशाऽखिलकर्मनाशः ।

अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा

स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥ ३६४ ॥

इस निर्विकल्प समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियों का नाश हो जाता है । सम्पूर्ण कर्मों का भी नाश हो जाता है और फिर बाहर (इहलोक-परलोक में) भीतर (पंचकोशों में) सर्वदेश में सर्वकाल में बिना प्रयत्न के स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है । आनन्द की बाढ़ आ जाती है ।

अन्य शास्त्रवचन भी देते हैं—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले, सर्वापि दत्तावनिः,
यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला, देवाश्च संतपिताः ।
संसाराच्च समुद्धृता स्वपितर-त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

उससे सब तीर्थों का स्नान हो गया है, उससे सर्व मही का दान हो गया है, सहस्रों यज्ञ कर लिये गये हैं, सर्वदेवता तृप्त हो गये हैं । उससे पितरों का उद्धार कर दिया गया है । वह तीनों लोकों में पूज्य है, जिसने एक क्षण-भर के लिए भी मन को निर्विकल्प समाधि में स्थिर कर लिया है ॥ १८ ॥

यह असम्प्रज्ञात समाधि, अधिकारी-भेद से, दो प्रकार से सिद्ध होती है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

भवप्रत्ययः = जन्म ही है कारण; विदेह-प्रकृतिलयानाम् = विदेह देवों की तथा प्रकृति में लयप्राप्तों की निर्बीज समाधि में ।

व्याख्या : योगियों के लिये असम्प्रज्ञात समाधि उपायसाध्य है परन्तु जो विदेहदेव हैं तथा जो प्रकृतिलीन हैं, उनको जन्म लेते ही अल्पसाधनों से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है । क्योंजी ! विदेहदेव और प्रकृतिलीन कौन होते हैं ? उनमें क्या विशेषता है ? असम्प्रज्ञात समाधि जैसा सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम फल उनको जन्मते ही सरलता से कैसे मिल जाता है ? क्या वे योगी नहीं हैं ? श्रवण करो । विदेहदेव और प्रकृतिलीन दोनों ही योगी तो होते हैं, परन्तु उनकी योगसाधना पूर्वजन्मों में की हुई होती है । परन्तु वह अधूरी

रह गई थी। मंजिल के समीप पहुँच गये थे पर मंजिल पर नहीं, तब उनका देहपात हो गया। अब जन्म लेते ही उनको पूर्वाजित योगसाधना उपलब्ध हो जायेगी। इस जन्म में अष्टांगयोगानुष्ठान नहीं करना पड़ेगा। उनके स्वल्प प्रतिबन्ध ही अवशेष रहते हैं। इसलिए इस जन्म में थोड़े से ही पुरुषार्थ से वे कैवल्यवस्था को प्राप्त हो जायेंगे। दूसरे जो योगी हैं उनको श्रद्धावीर्यादि उपायों से समाधि लाभ होगा।

विदेहनामक देव उन्हें कहते हैं जो पुर्यष्टक शरीर में बँधे रहते हैं। वे वैराग्याभ्याससहित जो संस्कारशेष हैं, उनको भोगते हुए कैवल्यपद जैसा सुख भोगते हुए अपने संस्कारों के फल पकने पर फिर जन्म लेते हैं। जो योगी आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश करते हैं, उनका देहाध्यास टूट जाता है, इसलिये उन्हें विदेह कहते हैं। देहत्याग के पश्चात् वे दीर्घकाल तक आनन्द और ऐश्वर्य को भोगते हैं। जब जन्म दिलानेवाले संस्कार कर्मफल के लिए अभिमुख होते हैं तब उनका जन्म होता है। विदेहदेवों को अभी तक पुरुष प्रकृति की भिन्नता का साक्षात्कार नहीं हुआ है, अतः उनका जन्म होगा ही होगा।

प्रकृतिलय वे योगी हैं, जिन्होंने आनन्दानुगत समाधि तो सिद्ध कर ली, और अस्मितानुगत समाधि का अभ्यास करते हैं, परन्तु जिनके चित्त का अधिकार अभी समाप्त नहीं हुआ है, वे विदेहदेवों से भी अधिक काल तक कैवल्यपद के समान आनन्दानुभव करते हैं, परन्तु वह आनन्द ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द नहीं होता है, क्योंकि अभी तक उनकी विवेकख्याति उदित नहीं हुई है, जिसमें कि पुरुष-प्रकृति का भेदज्ञान होता है। उनका चित्त प्रकृति में लीन रहता है और अपनी भिन्न सत्ता का अस्पष्ट अनुभव रहता है, 'अस्मि अस्मि' कुछ हैं, कुछ हैं। अस्मिता प्रकृति से निकलकर जब उनका जन्म होता है, तो वे बहुत ऊँचे योगसंस्कारों से युक्त होते हैं। प्रकृतिलय से कृतकृत्यता नहीं मिलती है, क्योंकि वह स्वरूपस्थिति नहीं होती। उनको पानी में डुबकी लगानेवाले के समान कुछ निश्चित समय के उपरान्त श्वास लेने के लिये जल से ऊपर उठना पड़ेगा ही। प्रकृतिलयों को भी आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिए जन्म लेना ही पड़ेगा। असम्प्रज्ञात समाधि के लिए ही उनका जन्म होता है। अतः विदेहदेवों और प्रकृतिलय योगियों की भवप्रत्यय, (भव कहते हैं जन्म को, प्रत्यय कहते हैं कारण को) जन्ममात्र ही जिसमें कारण हो ऐसी, असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस जन्म में उनको पर वैराग्य उदय होगा, और वे सर्ववृत्तिनिरोध के बल से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करेंगे ॥ १९ ॥

विदेहदेव और प्रकृतिलीनों को असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता जन्म से ही होती है, परन्तु दूसरे साधारण योगियों को असम्प्रज्ञात समाधि के लिये उपाय करने पड़ेगे। वे कौन से उपाय हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

इतरेषाम् = दूसरे साधकों का (निरोधरूप योग); श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (क्रम से) सिद्ध होता है।

व्याख्या : दूसरे योगियों के लिये उपाय-क्रम बताते हैं। (१) श्रद्धा—शास्त्रों से, अनुमान से तथा आचार्यों के मुख से योग की महिमा, उपयोगिता सुनकर योगप्राप्ति की चित्त में अभिमुखि, अति इच्छा, उत्कट लगन को श्रद्धा कहते हैं। वह श्रद्धा क्या करती है? वह श्रद्धा योगियों की हितैषिणी माता की भाँति अनर्थ से, कुमार्ग से रक्षा करती है और अपने इष्टयोग में प्रयत्न के लिए प्रेरणा करती है। (२) वीर्य—श्रद्धा से उस विवेकी को योग-प्रयत्न में वीर्य, अर्थात् उत्साह बढ़ता है। उत्साह से योगसाधन में तत्परता होती है। (३) स्मृति—वीर्य से स्मृति उत्पन्न होती है। अनुभूत विषय के संस्कारों का जागृत होना स्मृति कहा जाता है। समाधि उपलब्धि में स्मृति का विशेष स्थान है। इसे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। शिष्य को यह उपदेश मिला कि ईश्वर का नाम ॐ है। तब शिष्य 'ॐ ॐ' का जप करने लगा। यदि जप करते-करते उसकी यह स्मृति जागृत हो जायेगी कि ॐ ईश्वर है, तो कुछ काल प्रणव जप के उपरान्त जप के साथ उसमें ईश्वरभाव उदित हो जायेगा। किसीको धूम्रपान का व्यसन है, वह उसके दुष्परिणामों को भी जानता है कि धूम्रपान से पाँच कष्ट होते हैं 'लंगफोड़ा', दुर्जय दमा. आयु-प्राण-धन हान।' तो भी जब धूम्रपान की ललक आती है तो उसके गुण सामने आ जाते हैं, और वह धूम्रपान करता है, परन्तु पीछे पछताता है। यदि ललक के समय धूम्रपान के दुष्परिणाम स्मरण आ जायें तो धूम्रपान छूट जायेगा। यह स्मृतिसाधन की महिमा है। योगसाधना में जिसकी योग-विषयक स्मृति सप्रतिभ रहेगी, वह बाजी मार लेगा। योगसाधन में वीर्य से स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति उपस्थित होने पर चित्त अनाकुल, विक्षेपरहित

यानी एकाग्र हो जाता है । (४) एकाग्रचित्त की समाधि, यानी योग के चरम अंग की प्राप्ति होती है । (५) प्रज्ञा-प्रकर्ष विवेक । भगवत्पाद ने प्रज्ञा-वृत्ति को इस प्रकार बताया है ।

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।

निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ॥ ४२८ ॥ विवेक०

ईश्वर और जीव के शोधित अर्थों में यानी तत्पद और त्वम्पद के लक्षित अर्थों में एकता के भाव को विषय करनेवाली, द्वैतविकल्पों के ग्रहण से अमिश्रित केवल शुद्ध बोध, चैतन्यमात्र वृत्ति, अखण्डाकार ब्रह्मविषयणी बोधरूपा अन्तःकरण की वृत्ति, प्रज्ञा कही जाती है । जिसकी यह चिन्मात्रा वृत्ति स्वस्वरूप में दृढ़ता से स्थिर हो जाती है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ॥ ४२८ ॥

प्रज्ञावृत्ति में सर्वार्थप्रकाशन का सामर्थ्य होता है । अतः इससे यानी ऋतम्भरा प्रज्ञा से सब वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है । इसके अभ्यास से, तथा इसके विषयों से, यानी द्वैत के यथार्थ ज्ञान से, पर-वैराग्य होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ २० ॥

समाधिसिद्धि में विलम्ब और शीघ्रता के कारण बताते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्रसंवेगानाम् = जिनकी साधना की गति तीव्र है, उनकी निर्बीज समाधि; आसन्नः = शीघ्र सिद्ध होती है ।

व्याख्या : श्रद्धा-वीर्यादि उपाय मृदु (मन्द), मध्य (सामान्य) तथा अधिमात्र (तीव्र) तीन प्रकार के भेदवाले होते हैं । इस भाँति इन उपायों से युक्त योगी तीन प्रकार के हुए । तात्पर्य यह है कि कोई योगी अल्प प्रयास, कोई मध्यम प्रयास तथा कोई तीव्र प्रयत्न करनेवाला होता है । इन तीन प्रकार के योगियों में भी संवेग यानी वैराग्य की मृदुता, मध्यता तथा तीव्रता के भेद से प्रत्येक के तीन भेद होते हैं, यानी नौ (९) प्रकार के योगी होते हैं । उपाय की दृष्टि से तीन भेद तथा वैराग्य की दृष्टि से पुनः तीन तीन भेद । अब ये भेद सुनो ।

१ मृदु उपाय मृदु संवेगवान् ।

२. मृदु उपाय मध्यसंवेगवान् ।

३. मृदु उपाय तीव्र संवेगवान् ।
४. मध्य उपाय मृदु संवेगवान् ।
५. मध्य उपाय मध्य " ।
६. मध्य उपाय तीव्र " ।
७. अधिमात्र उपाय मृदु संवेगवान् ।
८. अधिमात्र उपाय मध्य " ।
९. अधिमात्र उपाय तीव्र " ।

क्योंजी ! नौ प्रकार के योगियों को किस प्रयोजन से बताया है ? श्रवण करो । किसी योगी को जल्दी सिद्धि मिल जाती है, किसीको देर में । जिस योगी के उपाय प्रबल हों तथा वैराग्य भी प्रबल हो, उसको सबसे शीघ्र सिद्धि मिलती है । मन्द उपाय और मन्द वैरागी को अत्यन्त विलम्ब से सिद्धि मिलती है ।

जो अधिमात्र उपायवाले योगी हैं, उनमें से जो तीव्र तीव्र वैराग्ययुक्त हैं उनको समाधिलाभ यानी असम्प्रज्ञात समाधि सिद्धि तथा असम्प्रज्ञात समाधि का फल, कैवल्यमोक्ष शीघ्रता से प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् = साधन की मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होने के कारण; ततः = तीव्र संवेगवालों में; अपि = भी; विशेषः = (काल का) भेद हो जाता है ।

व्याख्या : तीव्र संवेग के भी तीन भेद हैं—मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा अधिमात्र संवेग । जैसा संवेग जिस योगी का होगा, उसीके अनुसार सिद्धि-काल की विशेषता होगी । मृदु तीव्रसंवेगवाले योगी को समाधिलाभ तथा समाधिफल शीघ्रता से मिलेगा । मध्य तीव्रसंवेगवाले योगी को समाधिलाभ तथा समाधिफल शीघ्रतर मिलेगा तथा जो योगी अधिमात्र तीव्रसंवेगवाला है तथा साथ में अधिमात्र उपायवाला भी है, उसको शीघ्रतम काल में समाधिलाभ और समाधिफल मिलेगा । काल की न्यूनता अधिकता में यही कारण है ॥ २२ ॥

अधिमात्रोपाय तथा अधिमात्रसंवेगवाले योगियों को शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधिलाभ तथा समाधिफल होता है। क्योंजी ! क्या यह समाधिलाभ और समाधिफल किसी अन्य उपाय से भी हो सकता है कि नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अगला सूत्र देते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

वा = इसके सिवा; ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधान से भी (निर्बीज समाधि की सिद्धि शीघ्रतम हो सकती है) ।

व्याख्या : यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह योग और भक्ति को एक स्तर पर खड़ा कर देता है। इससे भक्तों को महान् सन्तोष और उत्साह मिलता है तथा योग पर आरोपित एक कटु लांछना को दूर करता है। यह बात सूत्र की व्याख्या के अन्त में बतायेंगे।

ईश्वरप्रणिधान से यानी भक्तिविशेष से आकर्षित होकर ईश्वर साधक पर अनुग्रह करते हैं ? क्योंजी ! किस प्रकार अनुग्रह करते हैं। अभिध्यान मात्र से। अभिध्यान क्या होता है ? सत्यसंकल्प ईश्वर साधक की भक्ति से आकृष्ट होकर, प्रसन्न होकर केवल संकल्प करते हैं, क्या ? 'इस साधक को मनचाही सिद्धि (असम्प्रज्ञात समाधि) प्राप्त हो।' ज्योंही नारायण का अनुग्रहात्मक संकल्प बना, तत्क्षण उनकी मायाशक्ति (प्रकृति) अपने स्वामी को रिझाने के लिए उनका संकल्प पूरा कर देती है और साधक को असम्प्रज्ञात समाधिलाभ और समाधिफल (कैवल्यमोक्ष) सिद्ध हो जाता है। क्योंजी ! कैवल्यमोक्ष तो पुरुषार्थसाध्य है, उसमें ईश्वरकृपा क्या करेगी ? श्रवण करो। ईश्वरकृपा से साधक को सद्गुरु तथा सत्-शास्त्र उपलब्ध हो जायेंगे। उसके मार्ग के कंटक दूर हो जायेंगे। समाधि-विरोधी सभी विघ्न शान्त हो जायेंगे तब साधक एकाग्रचित्त होकर सर्ववृत्तियों का सुगमता से निरोध करके निर्विकल्प समाधि में बिना आयास के आरुढ़ हो जायेगा। अनुभव तो साधक को ही करना पड़ेगा। अपने ही नेत्रों से चन्द्रमादर्शन होता है, दूसरे के नेत्रों से नहीं। अपने ही खाने से क्षुधा निवृत्ति होती है, दूसरे के खाने से नहीं।

ज्ञानोपाजर्जन में भक्ति बहुत बड़ा साधन है। भगवत्पाद विवेकचूडामणि में कहते हैं—'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी' ॥ ३२ ॥ मोक्ष की कारणरूपा सामग्री (उपायों) में मन्दसाधकों के लिए भक्ति ही सबसे

बढ़कर है। भक्ति से भी समाधि लग सकती है। इसमें कैवल्योपनिषद् का भी प्रमाण है। 'श्रद्धाभक्ति-ध्यानयोगादवैहि' ॥ २ ॥ ब्रह्मविद्या साक्षात् नहीं कही जा सकती, अतः ब्रह्माजी आश्वलायन मुनि को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के उपाय बताते हैं 'श्रद्धाभक्ति, ध्यानयोग से ब्रह्म को जानो।'

क्योंजो ! वह प्रणिधान यानी भक्तिविशेष कौन सी होती है जिससे असम्प्रज्ञात समाधि जैसे अत्यन्त दुर्लभ फल की भी प्राप्ति हो सकती है ? श्रवण करो। शरणागति भक्ति का नाम विशेष भक्ति है। शरणागति से नारायण के सामर्थ्य में भक्त की साझेदारी हो जाती है। जैसे किसी कर्मचारी की भक्ति से स्वामी उसको कम्पनी का डायरेक्टर बना देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी प्रसन्न होकर भक्त को विशेष सामर्थ्य दे देता है। अपने इष्टदेव ईश्वर में भक्त की दृढ़निष्ठा होती है। उसका यह निश्चय होता है कि ईश्वर उसकी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करेगा। हर स्थिति, देश, काल, सर्वावस्थाओं में उसका इष्ट उसकी रक्षा कर देगा। 'सुखी मीन जिमि नीर अगाधा, तिमि हरिशरण न एको बाधा।'

शरणागति का स्वरूप तथा फल भगवान् ने गीता में बताया है, यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९.२७ ॥

हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार करने से तुम शुभाशुभ कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाओगे। गीता की शक्ति जिसके जागने पर ज्ञान होता है शरणागति भक्ति है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' इति शक्तिः। 'अहं त्वा सर्वपापपेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' यह शरणागति का फल है। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। चिन्ता मत करो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८.६२ ॥

हे अर्जुन ! सब प्रकार से (मनसा, वाचा, कर्मणा) उस परमेश्वर की शरण में जाओ। उस परमात्मा के अनुग्रह से परम शान्ति और सनातन परमधाम को प्राप्त कर लोगे।

शरणागत भक्त निर्भय होता है, जैसे कि शिशु अपनी माँ की गोद में।

श्रवण भक्तिविशेष से राजा परीक्षित पार हुए । कीर्तन भक्तिविशेष से अवधूत शिरोमणि शुकदेवजी पार हुए । स्मरण भक्तिविशेष से दैत्यराज प्रह्लाद पार हुए । नमन भक्तिविशेष से अक्रूर, पूजा भक्तिविशेष से राजा पृथु, चरणसेवा भक्तिविशेष से लक्ष्मी, शरणागति भक्तिविशेष से दैत्यराज बलि, सखा भक्तिविशेष से अर्जुन, दासभक्तिविशेष से महावीर हनुमान् पार हुए । भक्ति की महिमा में ये कुछ उदाहरण दिये हैं ॥ २३ ॥

अब ईश्वर का स्वरूप बताते हैं—क्योंजी ! लोक में तो प्रकृति और पुरुष प्रसिद्ध हैं । यह ईश्वर कौन है ?

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैः = क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चारों से; अपरामृष्टः = जो सम्बद्ध नहीं है (तथा); पुरुषविशेषः = जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह; ईश्वरः = ईश्वर है ।

व्याख्या : प्रधान अथवा प्रकृति साधक की भक्ति से आकृष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है । पुरुष अथवा चित्ति अथवा ब्रह्म भी आकृष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वह निष्कल, उदासीन, निष्क्रिय है, अतः आप बतायें कि वह ईश्वर जो भक्तिविशेष से आर्वाजित (आकर्षित) होकर अपने सत्यसंकल्प से भक्ति की ईप्सित वस्तु प्रदान करता है, कौन है ? श्रवण करो । वह ईश्वर पुरुषविशेष है जिसको क्लेश—अविद्यादि पंचक्लेश; कर्म—कुशलाकुशल कर्म; विपाक—उन शुभाशुभ कर्मों का फल; आशय—वासना, स्पर्श नहीं करते । जो साधक को क्लेश, दुःख दें उन्हें क्लेश कहते हैं । वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश पाँच प्रकार के क्लेश सूत्र (२.३) में बताये जायेंगे । इन क्लेशों से कुशल अर्थात् शुभ, अकुशल (अशुभ) तथा शुभाशुभ-मिश्रित तीन प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं । इन कर्मों के विपाक यानी फल सुखदुःखरूप जन्म, आयु और भोग कहे जाते हैं । इनका विशेष वर्णन सूत्र (२-१३) में किया जायगा । जो कर्मफल पकने तक चित्तभूमि में वर्तमान रहते हुए शयन करते हैं, उन्हें वासना, आशय कहते हैं । कर्मफलों के संस्कार आशय कहे जाते हैं । ये वासनायें कर्मफलों के अनुरूप ही होती हैं । जो इन क्लेशकर्मविपाकाशयों से तीन कालों में भी सम्बद्ध नहीं है, वह अन्य पुरुषों से विशेष चेतन ईश्वर कहलाता है ।

क्योंजी, कर्मक्लेशविपाकादि तो चित्त के धर्म हैं, वे किसी साधारण पुरुष को भी स्पर्श नहीं कर सकते, फिर ईश्वर में क्या विशेषता है ? श्रवण करो । पुरुष स्वभाव से ही असंग है । असंग पुरुष कभी भी लिपायमान नहीं होता । परन्तु पुरुष मोहित-सा होकर बुद्धि के साथ तादात्म्य-सा कर लेता है जिसका यह फल होता है कि बुद्धि तो अपने-आपको चेतन समझने लगती है जैसे कि अग्नि-तप्त लोह अपने में जलाने का सामर्थ्य समझने लगता है और चेतन पुरुष अपने-आपको कर्ताभोक्ता समझने लगता है । यह अध्यास या चिज्जडग्रंथि, विवेकख्याति उदय होने पर खण्डित हो जाती है । ईश्वर में अध्यास किसी काल में भी नहीं हो सकता । अतः वह क्लेशकर्मविपाकादि से कभी भी स्पर्श नहीं किया जा सकता । इस प्रकार जो भोगों से असंस्पृष्ट रहता है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है ।

क्योंजी ! जिन्होंने पुरुषार्थ करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है वे भी क्लेशकर्मदि से असम्बद्ध रहते हैं, क्या वे ईश्वर नहीं हैं ? वे मुक्त पुरुष ही हैं, उनको ज्ञानसामर्थ्य से, क्लेशादि स्पृश नहीं कर सकते, परन्तु ज्ञान उदय से पहले वे क्लेशादि से पीड़ित होते थे । ऐसे ही विदेह और प्रकृतिलय पुरुष भी कैवल्य जैसा सुख अनुभव करते हैं, परन्तु जब उत्तरकाल में उनका जन्म होगा तब वे भी संसारक्लेशों से आहत होंगे, परन्तु साधना करके अनायास ही मुक्त हो जायेंगे । ईश्वर को न भूतकाल में, न वर्तमान में और न ही भविष्य में बन्धन था, है या होगा । वह सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है । यही उसमें अन्य पुरुषों से विशेषता है । ज्ञान-प्रक्रिया-शक्ति-सम्पन्नता ही ईश्वर का ऐश्वर्य है ।

क्योंजी ! ईश्वर में जो शाश्वत उत्कर्ष है, अर्थात् सर्वकाल में रहने-वाला बड़प्पन है जो कि सर्वोत्तम प्रकार के सत्त्वगुण की उपाधि से जन्य है, क्या उस शाश्वत उत्कर्ष में कोई प्रमाण है अथवा नहीं ? हाँ, प्रमाण है । उसके धर्मज्ञान-शास्त्र, जिनमें ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान मिलता है, उसके शाश्वत उत्कर्ष, अर्थात् सर्वकालसिद्ध ज्ञान-क्रिया-शक्ति ऐश्वर्य के प्रमाण हैं । श्रुति, स्मृति, इतिहास (रामायण, महाभारत), पुराण शास्त्र कहे जाते हैं । ईश्वर, विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधाना माया यानी रजोगुण तमोगुणरहित परिशुद्ध, सर्वोच्च श्रेणी के शुद्धसत्त्वगुण की उपाधि धारण करके ईश्वरप्रणिधान में लगे हुए भक्तों पर अनुग्रह करते हैं । क्योंजी ! शरीराभिमान के बिना संकल्प नहीं बन सकता । बिना अज्ञान के शरीराभिमान नहीं हो सकता । ईश्वर में अज्ञान

है नहीं, अतः ईश्वर में संकल्प ही नहीं बन सकता। श्रवण करो। जैसे कोई अभिनेता रामलीला में राम का अभिनय करता है, तो भी वह यह नहीं भूलता कि वह अमुक नाम का अभिनेता है। इसी प्रकार ईश्वर का भी उपाधि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। सर्वतत्त्वज्ञ ईश्वर भगवान् कृष्ण गीता के चौथे अध्याय में कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्वच्चकर्तारमव्ययम् ॥ ४.१३ ॥

हे अजुन ! गुण और कर्मों के विभाग से चारों वर्ण मेरे द्वारा उत्पादित किये गये हैं, तो भी उनका रचयिता होते हुए भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान। व्यवहार-दृष्टि से यानी मायायोग से, कर्ता होते हुए भी, परमार्थ-दृष्टि से मुझे अकर्ता ही जानो, निरहंकार और अविकारी होने से।

ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्वगुणचित्त में निरतिशय ऐश्वर्यरूप उत्कृष्टता तथा सर्वज्ञानभंडार वेद वर्तमान रहते हैं ? क्योंजी ! श्रुतिस्मृति आदि धर्म-शास्त्रों के क्या प्रमाण हैं ? वेद स्वतः प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त में सर्वदा वर्तमान हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध अनादि है। इस उत्कृष्टता के कारण ईश्वर नित्यमुक्त और नित्य ऐश्वर्यसम्पन्न कहा जाता है।

क्योंजी ! क्या ईश्वर के ऐश्वर्य से किसी अन्य का ऐश्वर्य अधिक या समान हो सकता है ? नहीं। ईश्वर के ऐश्वर्य सर्वज्ञतादि स्वाभाविक धर्म के समान अन्य किसीका ऐश्वर्य नहीं है। 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो.....' गीता (११.४३) अर्जुन कहता है—हे प्रभो ! तीनों लोकों में आपके समान कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। यदि दूसरा ईश्वर होता तो सृष्टि-रचना का भी अप्रसंग हो जाता। मान लो, एक ईश्वर सृष्टि-रचना चाहता है, दूसरा संहार करना चाहता है, तो सृष्टि का ही लोप हो जायेगा। जब आपके समान ही ऐश्वर्यवाला नहीं है तो अधिक तो कहाँ से हो सकता है। ऐश्वर्य के सम्बन्ध में दूसरी यह बात है—वह सब अतिशयों से शून्य है, यानी वह अमर्यादित है। यह ऐश्वर्य किसी अन्य के ऐश्वर्य से अतिक्रान्त नहीं हो सकता। जो ऐश्वर्य अतिशय (Limits) से मुक्त है, वही ईश्वर का ऐश्वर्य है। जिस पुरुष में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है। यदि इस ऐश्वर्य की ये दो विशेषताएँ समानता-शून्यता तथा अतिशय-शून्यता न हों तो भक्तों को अभीष्ट-पूर्ति में सफलता न मिलती और ईश्वरप्रणिधान का फल भी संदिग्ध हो जाता।

क्योंजी ! माण्डूक्योपनिषद् में तो ईश्वर का स्वरूप इस भाँति बताया है—‘एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्’ ॥ ६ ॥ यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, यह सब का उपादान कारण है, क्योंकि यह सब भूतों का उत्पत्ति और प्रलयस्थान है। पतंजलि मुनि ने ईश्वर को सृष्टि-स्थिति-लय का कारण नहीं बताया है। श्रवण करो। सूत्रकार ने योगसम्बन्ध से ईश्वर का व्याख्यान किया है। सृष्टि-स्थिति-लय इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके बताने की अपेक्षा नहीं। फिर यह भी बात है कि सूत्रों में कितना बताया जा सकता है। ईश्वर-सम्बन्ध में वेदान्त-शास्त्रों में, पुराणों में पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। इतना होने पर भी मुनि ने ईश्वर को अमर्यादित ऐश्वर्यसन्पन्न तथा सर्वज्ञ तो बताया है। इसको उपलक्षण से ही समझना। योगदर्शन के ईश्वर तथा वेदान्त के ईश्वर में कोई विरोध नहीं है। मुनि ने ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोध’ के अनुरूप ईश्वर का स्वरूप बताया है और इससे बढ़िया बताया भी नहीं जा सकता ॥ २४ ॥

अभी ईश्वर के बारे में कुछ और भी बताना है—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तत्र=उस (ईश्वर) में; सर्वज्ञबीजम्=सर्वज्ञता का बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान; निरतिशयम्=निरतिशय है।

व्याख्या : अन्य पुरुषों में ज्ञान किंचित्मात्र होता है, ईश्वर में वह ज्ञान निरतिशयता अर्थात् अनन्तता का भाव धारण करता है। ज्ञान सभी प्राणियों में है। अतीतकाल में, वर्तमान काल में तथा आगामी काल में एक व्यक्ति में, अथवा बहुत व्यक्तियों में जो अल्प अथवा बहुत अथवा बहुततर अतीन्द्रिय ज्ञान देखा जाता है, वह सातिशय है। वह ज्ञान सर्वज्ञता का मापक (पैमाना) है। कोई व्यक्ति किसी विषय का सर्वज्ञ है, कोई अन्य विषय का, कोई बहुत से विषयों का सर्वज्ञ है। यह ज्ञान बढ़ सकता है। जब योगी किसी विषय पर सम्प्रज्ञात समाधि लगाता है, तो उसको उस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। उस विषय का वह सर्वज्ञ हो जाता है। वह सर्वज्ञता बढ़कर इतनी हो जाये कि उसकी कोई सीमा ही न रहे, तब सर्वज्ञताज्ञान निरतिशय हो जाता है। जिसमें ज्ञान की पराकाष्ठा हो वह ईश्वर है, वह पुरुष विशेष है। इस प्रकार युक्ति से ईश्वर का सामान्य ज्ञान होता है। उसके नाम शिव,

विष्णु, ब्रह्मादि, उनकी महिमा, प्रभावादि आगमों में खोजने चाहिये। ईश्वर की अनन्य भक्ति से ईश्वर पर आश्रित होकर जो ईश्वर की आराधना करते हैं, ईश्वर उन पर अनुग्रह करके अपना स्वरूप व्यक्त कर देते हैं। क्योंजी ! आगमों में क्यों खोजने चाहिये ? इसलिये कि वे श्रुतिस्मृतिपुराणइतिहासादि अभ्युदय और निःश्रेयस के उपाय कथन करते हैं। क्योंजी ! ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता क्यों होती है ? इसलिये कि उनकी प्रकृष्ट सत्त्वगुणमयी अर्थात् सर्वोच्च विशुद्ध सत्त्वगुणमयी उपाधि होती है। सत्त्वगुण ज्ञान-प्रकाश-स्वरूप है।

भाष्यकार वेदव्यासजी ने स्वयं कहा है—‘तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्ट्या।’ ईश्वर का जो स्वरूप योगदर्शन में बताया है, वह सामान्य है। यह विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता। अतः ईश्वर के संज्ञादि विशेषों का ज्ञान आगम से जान लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि योग का ईश्वर और वेदान्त का ईश्वर एक ही है। क्योंजी ! ईश्वर के अन्य धर्म भी बतायें। वाचस्पति मिश्र ने निम्नलिखित श्लोक वायुपुराण से उद्धृत किये हैं—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतंत्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।

अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा षडाहुरंगानि महेश्वरस्य ॥ १२.८२ ॥

सर्वज्ञता, निरंकुशा तृप्ति, शाश्वतज्ञान, परमस्वतंत्रता, अमोघ शक्ति तथा अनन्तशक्ति—ये छः सर्वव्यापी महेश्वर के अंग हैं, इस प्रकार वेदज्ञ मनीषी कहते हैं।

और भी कहा है—

ज्ञानं वैराग्यमेश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।

लघुत्वात्मसंबोधो ह्याधिष्ठातृत्वमेव च।

अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे ॥

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, रचनात्मक शक्ति, आत्मज्ञान, शासन करने की योग्यता—ये दश अविनाशी धर्म शंकर में सदा निवास करते हैं।

क्योंजी ! नित्यतृप्त और निर्लेप ईश्वर का संसारसम्बन्ध में क्या प्रयोजन हो सकता है ? श्रवण करो। ईश्वर का निजी कोई प्रयोजन नहीं हो सकता, परन्तु प्राणियों पर अनुग्रह करना उनका एकमात्र प्रयोजन है। वह अनुग्रह क्या है ? श्रवण करो। विवेकख्याति से चित्त निवृत्त हो जाता है। तब पुरुष केवले

अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस प्रयोजन से कारुणिक भगवान् विवेक-ख्याति का उपाय कथन करते हैं। किस प्रकार ? ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से ज्ञान तथा धर्म के अनुष्ठान से विवेकख्याति का लाभ होता है। इस दयालुता के कारण ईश्वर संकल्प करता है कि 'मैं ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से सांसारिक पुरुषों का, जो सुखदुःखरूप सागर में गोता खाते हैं, क्योंकि उनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हैं, उद्धार करूँगा।' विवेकख्याति उदय होने पर चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। उसके पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है। इससे परम कल्याणपद की प्राप्ति हो जाती है। कल्पप्रलय में ब्रह्माजी के दिन के अवसान होने पर (एक सहस्र चतुर्युगो बीतने पर ब्रह्माजी का एक दिन बीतता है।) सत्यलोक को छोड़कर बाकी सब लोक अस्त हो जाते हैं। महाप्रलय में सत्यलोकसहित समस्त लोक नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्माजी का भी निधन हो जाता है तथा संसारी लोग स्वकारण प्रकृति में लय हो जाते हैं। प्रकृति का नाम अव्यक्त भी है। कल्पप्रलय और महाप्रलय के पीछे यानी सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर वेदों का उपदेश करते हैं। भाष्यकार ने पंचशिख आचार्य के वचन अपने भाष्य में उद्धृत किये हैं—'आदि विद्वान् कपिल मुनि ने योगब्रह्म से निर्माण किये हुए चित्त का आश्रय लेकर, बिना किसी अपने प्रयोजन के, केवल सृष्टि पर अनुग्रह करने के लिये, जिज्ञासु आसुरि ब्राह्मण को पच्चीस तत्त्ववाले तत्त्वसमासरूपी सांख्यदर्शन का उपदेश किया।'।

कपिल पहला आदिज्ञानी है। यह आदिगुरु मुक्त है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह परमगुरु है। परमगुरु तो ईश्वर ही होते हैं। कपिल के जन्मते ही महेश्वर ने उस पर अनुग्रह कर ज्ञान दिया। कपिल विष्णु का पाँचवाँ अवतार है। इसका यह अर्थ निकलता है कि मुक्त पुरुष भी निर्माण चित्तों के द्वारा कार्य कर सकते हैं। ईश्वर भी ऐसे निर्माण चित्त द्वारा जीवों पर अनुग्रह करते हैं। कल्पप्रलय तथा महाप्रलय में भगवान् ऐसा ही निर्माण चित्त करते हैं।

विद्यारण्य मुनि ने पंचदशी में सांख्ययोग तथा वेदान्त में तीन भेद बताये हैं—जीवभेद, जगत्सत्य, ईश्वर तटस्थ, यथा

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम्।

त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ॥ ६.२२८ ॥

सांख्य तथा योगवाले कहते हैं कि जीव नाना हैं, जगत्सत्य है तथा ईश्वर तटस्थ है, परन्तु वेदान्ती कहते हैं कि आत्मा में भेद नहीं है, जगत् सत्य नहीं है तथा ईश्वर तटस्थ नहीं है। यदि सांख्ययोगवाले इन तीन भेदों

को छोड़ दें तो सांख्ययोग तथा वेदान्त की समान मति हो जायेगी, यानी इनका एक मत हो जायेगा। अब इन भेदों पर विचार करना उचित है। आत्मभेद तथा जगत्सत्य की विवेचना यथाप्रसंग (सूत्र २.२२ में) करेंगे। यहाँ केवल ईश्वर की अन्यता पर विचार करना है। योग में यह कथन किया है कि ईश्वरप्रणिधान से शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्य प्राप्त होते हैं। योग में ईश्वर प्रणिधान को लेकर ही ६ सूत्र कहे हैं। इसी प्रसंग में ईश्वर का स्वरूप भी कथन किया है। यह स्वरूप योग के लिए उपयोगी है। पंच-दशीकार ने ईश्वर को अन्य कहा है। रामकृष्णविद्वान् टीकाकार ने अन्य का अर्थ तटस्थ दिया है। मूल श्लोक को आधार मानना चाहिए।

ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव अज्ञानदशा में भिन्न-भिन्न भासते हैं। ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय है। ब्रह्म का प्रकाश जब प्रकृति पर पड़ता है, तब प्रकृति चेतन-सी हो जाती है। रज-तम-सत्त्वगुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।

चिदानन्दमयब्रह्म-प्रतिबिम्बसमन्विता ।

तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृति-द्विविधा च सा ॥ १.१५ ॥

सत्त्वशुद्धचविशुद्धिम्यां मायाविद्ये च ते मते ।

माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १.१६ ॥

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वै - चित्रादनेकधा ॥ १.१६ ॥ (पंचदशी)

सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त तम-रज-सत्त्वगुणयुक्ता प्रकृति दो प्रकार की होती है—माया तथा अविद्या। विशुद्धसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति को माया कहते हैं तथा मलिनसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति को अविद्या कहते हैं। माया में प्रतिफलित चिदात्मा (चेतनात्मा) अपनी माया को वश में करके (उसके अधीन होकर नहीं) स्थित सर्वज्ञतादि गुणों से युक्त ईश्वर कहा जाता है। अविद्या में प्रतिफलित चिदात्मा अविद्या के वशीभूत होकर वर्तमान अल्पज्ञ अल्पशक्ति परतन्त्र अन्य (ईश्वर से भिन्न) जीव कहा जाता है। अविद्या में सत्त्वगुण की अविशुद्धि की तारतम्यता से जीव नाना प्रकार के होते हैं। पंचदशीकार के अपने ही श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म अन्य है, ईश्वर अन्य है, तथा जीव अन्य है। परन्तु यह अन्यता समझाने के लिए ही है। अन्त में जब साधक वेदान्त में जागरूक हो जायेगा, यानी उसकी बुद्धि सूक्ष्म हो जायेगी, तब गुरु यह बतायेंगे कि जीव ईश्वर जगत सब ब्रह्म ही है। 'नेह नानास्ति किञ्चन'। (कठ० २.१.११) ब्रह्म में नानापन नहीं है। जो ब्रह्म है वही चित्ति है ॥ २५ ॥

क्योंजी ! क्या कपिलादि विद्वान सब के गुरु माने जा सकते हैं ? नहीं । क्यों ? इसलिये कि ईश्वर ही सबके गुरु हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वेषाम् अपि = वह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न हुए ब्रह्मादि का भी, गुरुः = गुरु है, कालेन-अनवच्छेदात् = क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न, मर्यादित, सीमित नहीं होता ।

व्याख्या : गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता । यह भी सत्य ही है कि ज्ञान हमारे भीतर ही है, परन्तु उसको जगाने के लिये, विकास के लिये गुरु की अपेक्षा होगी ही । आज हम जिससे ज्ञान सीखते हैं, उस गुरु ने भी किसी से ज्ञान सीखा ही होगा । उसका भी कोई गुरु होगा । इस प्रकार विचार करते करते एक ऐसा गुरु आयेगा, जो सबका, पूर्व-पूर्व सर्गों में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु-महेशादि का भी ज्ञानदाता गुरु है । महाप्रलय में ब्रह्माविष्णुमहेशादि का भी पतन हो जाता है । परन्तु ईश्वर सर्वदा रहता है, वह काल से मर्यादित नहीं होता । वह ही पूर्व गुरुओं का भी गुरु है । वह ईश्वर जिस प्रकार वर्तमान सर्ग के आदि से ही ज्ञान के उत्कर्ष से स्वतः सिद्ध होकर अवस्थित हैं, उसी प्रकार व्यतीत हुए सर्गों के आदि में तथा भविष्य में आने वाले सर्गों के आदि में भी वर्तमान था और होगा ॥ २६ ॥

ईश्वरप्रणिधान, यानी ईश्वर की शरणागति का प्रकार बताने के लिये पहले ईश्वर का नाम बताते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तस्य = उस ईश्वर का, वाचकः = नाम प्रणवः = प्रणव (ॐकार) है ।

व्याख्या : पदार्थ (भाव) का आधार शब्द है । जिसके पास विचार नहीं हैं, उसके पास शब्द भी नहीं हैं । शब्द और भाव को अलग नहीं किया जा सकता । हमें यह देखना है कि शब्द और भाव में क्या सम्बन्ध है ! एक

भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, परन्तु यह नियम नहीं है कि एक भाव एक ही शब्द के द्वारा प्रकाशित हो। वाचस्पति मिश्र व्यासभाष्य पर टीका लिखते हुए कहते हैं, 'यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर संबंध स्वाभाविक है, तथापि एक शब्द और एक भाव के बीच में एक नितान्त अलंघनीय संबंध ही रहे, ऐसी कोई बात नहीं।' नाम, वाच्य पदार्थ का प्रकाशक होता है। नाम के बिना जगत व्यवहार नहीं चल सकता। ईश्वर का नाम ओम् है। इनका वाच्य वाचक सम्बन्ध है, यानी ईश्वर ओम् नाम से प्रकाशित होता है। जिसका नाम हो उसे वाच्य कहते हैं। वाच्य के नाम को वाचक कहते हैं। प्रणव का अर्थ ओंकार है। प्रकर्षेण न्यूयते स्तूयते अनेनेति प्रणव ओंकारः। जिस पद से प्रकर्षरूप में ईश्वर की स्तुति की जाय, उसे प्रणव यानी ओंकार कहते हैं। अथवा प्रणौति स्तोतीश्वरमिति प्रणव ओंकारः। जिस पद से ईश्वर की स्तुति की जाती है, वह प्रणव ओंकार है। प्रणिधीयते चानेन भगवान् प्रणिधातृभिरिति। जिस पद से शरणागत भक्तों द्वारा भगवान् प्रसन्न किये जायें, वह प्रणव। शरणागत भक्तों की जो संसार से रक्षा करे, या संसारी जीवों को जो निर्वाण पद तक पहुँचा दे, या जो निरतिशयता से प्रसन्न होकर समाधि आदि का अनुग्रह करके परमार्थपद तक पहुँचा दे, वह प्रणव ओंकार। हमने ये अर्थ भगवत्पाद के अनुसार किये हैं। योगियाज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में लिखा है—

अदृष्टविग्रहो देवो, भावग्राह्यो मनोमयः।

तस्योंकारः स्मृतो, नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

वह परमात्मा अदृष्टदेह वाला है, भक्तिप्रेम से ग्राह्य है, क्योंकि वह अति-सूक्ष्म है। उसका ओंकार नाम है। इस नाम से पुकारने पर वह प्रसन्न होता है।^१ जैसे बछड़े की पुकार सुनकर गौ रंभाती हुई भाग कर अपने बत्स के अभिमुख जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी प्रणव से स्मरण किया जाने पर उपासक के पास 'आशु' गति से पहुँच जाता है। इसलिए बुद्धिमान लोग परमेश्वर की प्राप्ति के लिए निरन्तर ओंकार का जप और ध्यान करें।

मांगल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकाम प्रसाधनम्।

ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥

१. यथा हि गौर्वत्सनिशम्य हुंकृत्य बत्साभिमुखी प्रयाति।

ब्रह्मापि तद्वत्प्रणवोहूतं वक्तारभागच्छति ह्याशु वक्त्रे ॥

ओंकार मंगलदाता, पवित्र करनेवाला, धर्ममय, सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला, परमब्रह्मा ही है। यह सब मन्त्रों में राजा है।

ईश्वर का प्रणव नाम के साथ नित्य संबंध है। नित्य होने से, पहले सर्गों में भी ईश्वर का नाम ओम् था। वर्तमान सर्ग में भी ओम् है और भावी सर्गों में भी ओंकार ही रहेंगे। यदि वाच्य पदार्थ भी न रहें, तो भी हजारों मनुष्य उसके नाम से ही उसका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। भगवान् कृष्ण अपनी लौकिक लीला समाप्त करके अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो गये, तो भी उनके नाम स्मरण से भगवान् कृष्ण का स्वरूप बुद्धिगम्य हो जाता है। ओंकार का उच्चारण करते ही ईश्वरीय गुणों का स्मरण होता है और उससे साधकों का कल्याण होता है।

क्योंजी ! भगवान् के सहस्रों नाम हैं, फिर ओंकार ही उनका विशेष नाम क्यों है ? श्रवण करो। धर्मशास्त्रों में ओंकार का बहुत बड़ा आदर है। वह इसलिए है कि प्रणव उच्चारण से चित्त की जैसी स्थिरता होती है, वैसी किसी अन्य शब्द से नहीं। ओंकार अपेक्षाकृत सहजता से तथा अल्प प्रयास से उच्चारित होता है। ईश्वरवाचक जितने शब्द हैं वे सब ही सर्लिंग हैं और विकारी हैं। परन्तु ओम् शब्द सर्वथा निर्विकारी है, क्योंकि यह अव्यय है। अव्यय के साथ जो विभक्ति आती है उसका लोप हो जाता है। इसलिए ब्रह्मवाचक ओम् शब्द भी ब्रह्मा के समान निर्विकार है।

ओंकार शब्द सम्पूर्ण भाषाओं में व्याप्त है। जैसे ईश्वर सब पदार्थों में विद्यमान है, वैसे ही ओंकार भी गद्य पद्य में विद्यमान है। ओम् शब्द 'अ+उ+म' इन तीन अक्षरों से बना है। ओम् का प्रथम अक्षर सभी शब्दों का मूल है। इसके बिना किसी वर्ण का उच्चारण ही नहीं हो सकता। श्री भगवान् ने गीता में कहा है 'अक्षराणामकारोऽस्मि' (१०.३३) अक्षरों में, वर्णों में प्रथम अक्षर 'अ' मैं हूँ। ओम् का तीसरा यानी अन्तिम अक्षर 'म' वर्णाक्षरी का अन्तिम अक्षर है। 'म' उच्चारण करते समय होठ बन्द हो जाते हैं। य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज वर्ण पिछले यानी अ से म तक के अक्षरों में से संयोग करके बने हैं, यथा इ+अ=य, ऋ से र, लृ से ल, उ से व इत्यादि। सभी बाणियों का समावेश ओंकार में हो जाता है, अतः सर्वनामों का केन्द्र ओम् है। यही सबकी अभिव्यक्ति है। इसलिए ईश्वर का ओम् नाम उचित और श्रेष्ठ है।

शास्त्र तो ओंकार की महिमा से भरे ही पड़े हैं। कुछ प्रमाण नीचे लिखते हैं, अन्य प्रमाण यथा प्रसंग देंगे।

‘ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम्’ (तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षाध्याय अष्टमनुवाक) ‘ओम्’ यह ब्रह्मवाचक शब्द है । ‘ओम्’ ही यह सारा जगत है । ‘ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म’ (गीता ८.३१) ‘ओम्’ यह एकाक्षर ब्रह्म है ।

ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं । तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति । सर्वमोँकार एव ।

यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योँकार एव । (मांडूक्य० १)

ओम् यह अक्षर यह सब जगत है । इसको विशद करते हैं । जो सृष्टि भूतकाल में हुई थी तथा जो वर्तमान है और जो भविष्यत काल में होगी वह सब ओँकार ही है । इस दृश्यप्रपञ्च से भिन्न जो कालातीत ब्रह्म है वह भी सब ओँकार ही है । ‘तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म ।’ (प्रश्नोपनिषद् २) हे सत्यकाम ! यह ओँकार परम ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) तथा अपर ब्रह्म (सगुण ब्रह्म, दृश्यमान जगत, जीव, ईश्वर) है ॥ २७ ॥

ईश्वर का स्वरूप बताकर अब प्रणिधान विधि बताते हैं ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

तज्जपः = उस ओँकारका जप (और); तदर्थभावनम् = उसके अर्थ-स्वरूप ईश्वर का चिन्तन (करना चाहिए) ।

व्याख्या : प्रणव का बार-बार जप करे तथा प्रणव के अर्थ यानी ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करे । तोते की भाँति अर्थात् भावनारहित प्रवणजप से लाभ तो होता है, परन्तु बहुत देर में । अतः ईश्वर चिन्तन के साथ प्रणव जप करना चाहिए । इस प्रकार साधना करते हुए, यानी प्रणव जप करते हुए, प्रणव लक्षित ईश्वर का ध्यान करते हुए, उसके गुणों की महिमा को स्मरण करते हुए योगी का चित्त एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है । इस सम्बन्ध में सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास के बचन उद्धृत करते हैं ।

स्वाध्याद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यामासते ।

स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

ओँकार जप तथा अध्यात्मशास्त्रों के विचार का नाम स्वाध्याय है । स्वाध्याय से योग को [चित्तवृत्ति निरोध को] प्रवृद्ध करे तथा योगाभ्यास से ओँकार जप को प्रवृद्ध [सूक्ष्म] करे । स्वाध्याय और योग के सम्मिलित

पुण्य उपाय से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। चित्त एकाग्र होकर पहले सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होगा, फिर परवैराग्य के उदय होने पर असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ तथा उसका फल मोक्ष लाभ होगा।

साधन करते समय ऐसा अनुभव होता है कि जप की जब एकतानता बढ़ी हुई रहती है तो ईश्वर ध्यान या अर्थभावना दुर्बल होती है। जब ध्यान बढ़ता है तो जप हल्का हो जाता है, परन्तु अलक्ष्य रूप से चलता रहता है। ध्यान क्षीण होते ही जप व्यक्त हो जाता है। देखो, जैसा भी हो आप प्रणव-जप आरम्भ कर दो। मन लगे या न लगे, दृढ़ होकर जुट जाओ। आपको लाभ होगा। योग स्वयंप्रकाश मार्ग है। नारायण साहसी पुरुष के पथप्रदर्शक होते हैं, बलहीन के नहीं। जब वह बल उपार्जन कर लेगा, तो उसके भी बन्धु हो जायेंगे। वे सुहृद हैं। साधक को इस बात का ज्ञान हो जायेगा। योगाभ्यास आरम्भ से पहले १०८ बार ओंकार जप कर ले। योगाभ्यास के पश्चात् फिर १०८ बार जप कर ले।

यावज्जीवं जपेन्मंत्रं प्रणवं ब्रह्मणो वपुः।

ह्रस्वो बहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदायकः॥

प्लुतस्तु सर्वसिद्ध्ये स्यात्प्रणवस्त्रिविधः स्मृतः।

अ ऋग्वेद उ यजुर्वेदो मकारः सामसंज्ञकः॥ (पद्म पुराण)

जब तक जीये अथवा जब तक बोध न हो तब तक प्रणवमंत्र का जप करे, क्योंकि प्रणव ब्रह्म का शरीर है। ओंकार का ह्रस्व जप पापदहन करता है। दीर्घजप मोक्ष देने वाला है। (पाँच तक की संख्या गिनने में जितना काल लगता है, उतने काल में एक बार ओंकार का जप दीर्घ जप कहा जाता है) प्लुत जप सब प्रकार की सिद्धि देता है। इस प्रकार प्रणव जपने की तीन विधियाँ हैं। ओम् का प्रथम अक्षर अ ऋग्वेद है, दूसरा अक्षर उ यजुर्वेद है, तथा तीसरा अक्षर म सामवेद है।

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।

तस्य द्वादशभिर्नासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥

जो बारह हजार ओंकार जप नित्य करता है, उसके लिये बारह महीनों में परं ब्रह्म प्रकाशित हो उठते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,

तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ कठ० (१.२.१५)

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
 एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ (१.२.१७)

सब वेद जिस पद के विषय में विचारते हैं। सब तप जिस पद के विषय में कहते हैं। जिस पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हैं। उस पद को मैं सूक्ष्मता से बताता हूँ। यह पद 'ओंकार' है। इस प्रणव का आश्रय लेना श्रेष्ठ है, इसका आलम्बन उत्कृष्ट है। इस आलम्बन ओंकार को जानकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

क्योंजी ! ईश्वर सगुण है कि निर्गुण ? श्रवण करो। ईश्वर सदा प्रकृष्ट-सत्त्वगुण चित्त से युक्त रहता है, अन्यथा वह भक्तों पर अनुग्रह कैसे करेगा। जब ब्रह्म शुद्ध सात्त्विकीप्रधाना माया की उपाधि अंगीकार करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सदा ही सगुण होता है। शास्त्रों में जो बृहत् शब्दजाल है वह ईश्वर का ही वर्णन करता है। परम ब्रह्म (चित्ति शक्ति) तो अवाच्य पद है। वह मन और बाणी का विषय नहीं है, अतः मन उसका चिन्तन नहीं कर सकता, बाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। ब्रह्म स्वयं प्रकाश, स्वयंसाक्षी है। उसको कोई दूसरा नहीं जान सकता। वह सबको जानता है, क्योंकि वह सर्व का आत्मा है। वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ (गीता ७.२९) हे अर्जुन ! मैं अतीत काल और वर्तमान में तथा आगे होनेवाले सब भूतों को जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई नहीं जानता। ब्रह्म को साधक ब्रह्म बनकर ही, स्वयं जान सकता है, उससे अलग होकर नहीं। ब्रह्म ही निर्गुण होता है, ईश्वर सदा सगुण होता है।

आप का यह प्रश्न है कि ईश्वर साकार है कि निराकार। ईश्वर एक ही काल में साकार भी है और निराकार भी। साकार ईश्वर की उपासना सुलभ है। निराकार की उपासना कुछ कठिन है। 'अव्यक्ता हि गतिर्दुर्लभा देहवद्भिर्वाप्यते।' (गीता १२.५) देहाभिमानीयों के लिये रूपादिहीन ईश्वर के विषय में गति, निष्ठा दुःख से यानी कठिनता से प्राप्त होती है। परन्तु जो ईश्वर प्रणिधान से यानी अनन्य भक्ति से मेरे शरणागत होते हैं, तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात् । भवामि नचिरात् पार्थ मध्यावेक्षित चेतसाम् । (गीता १२.७) अपने शरणागत भक्तों का मैं स्वयं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार समुद्र से उद्धार करनेवाला होता हूँ। ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम काल में समाधि लाभ होता है।

ब्रह्म, ईश्वर, जीव, सगुण निर्गुणादि का भेद केवल उपदेश के लिए है । हमारा मुख्य प्रयोजन इस भेद दलदल में नहीं पड़ना है । हमें तो स्वस्वरूप में अवस्थान करना है । चित्ति में अवतिष्ठित होते ही न रहेगा ईश्वर, न जीव, न जगत । इन सब का व्यापार उपशमित हो जायगा । चित्ति अपना दामन समेट लेगी । ईश्वर, जीव, जगत सब उसी के खेल थे । वह ही थी । वह ही है । वह ही रहेगी—एकरस, निर्विकार, कैवल्य । उसी काल में वह विश्वरूपा भी ।

क्योंजी ! ओम् मन्त्र तो एकाक्षरी है, इसका जप कैसे किया जाये । श्रवण करो । ५ या ७ या ९ ओंकारों को एक समूह सा बनाकर जप करना चाहिए, यथा ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ इस प्रकार सात बार या जैसे अनुकूल पड़े, ओंकार का उच्चारण करके एक इकाई (unit) जाने । शतबार जपने से सातसौ ओंकार जप हो जाता है । इस जप में तन्मयता शीघ्र हो जाती है । बीच-बीच में ध्यान भी होता रहता है । जप का ध्येय ध्यान है । जप से सौगुना फल ध्यान से होता है । ध्यान से अनन्तगुना फल लय (समाधि) से होता है । ओंकार का मानसिक जप श्रेष्ठ होता है । ओंकार का ध्यान लिखते हैं ।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

योगीजन नित्य बिन्दुसहित ओंकार का ध्यान करते हैं । यह ओंकार सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है, तथा मोक्षपद देनेवाला है । ओंकार देव को नमस्कार, पुनरपि नमस्कार । जब ओंकार शब्द के कुछ काल उच्चारण करने पर ईश्वरभाव उदित हो जाये तब यह समझ लेना कि मन्त्र चेतन हो गया है ।

जो भी कर्म हम करते हैं, उनके संस्कार चित्त में विद्यमान हो जाते हैं । ये संस्कारसमष्टि हमारे चित्त में अदृश्यावस्था में रहते हैं । ये लुप्त नहीं होते । कोई उपयुक्त निमित्त पाकर ये संस्कार जाग्रत होकर चित्तवृत्ति में परिणत हो जाते हैं और नाना वासना और कर्मों के कारण बन जाते हैं । ओंकार मन्त्र के बार-बार उच्चारण से हमारे भीतर जो पुण्य, धर्ममय संस्कार हैं, उन्हें बल मिलता है । जो पापामय संस्कार हैं, वे कमजोर पड़ जाते हैं । जैसे साधु पुरुषों से बाह्य सत्संगति होती है, वैसे ही मन्त्रजप से भीतर सत्संगति प्राप्त होती है । 'एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में से आध । तुलसी संगत साधुकी कटें कोटि अपराध ।' 'साधुओं के सत्संग से जड़ता नष्ट होती है । सद्भावों का संचार होता है । संसारसागर पार करने में साधुसंग नौकारूप होता है । इस ओंकार का जप करने से और उसके अर्थ यानी ईश्वरीय गुणों के

सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, स्वतंत्रता, भक्तवत्सलता, सुहृदता, दुर्बलों की निस्तारनीका आदि-मनन करने से आन्तरिक सत्संगता मिलती है। इस प्रकार जप और ध्यान से ईश्वर का स्वरूप व्यक्त होगा।

क्योंजी ! क्या राम कृष्णादि अवतार ईश्वर नहीं हैं ? हाँ, बराबर ईश्वर हैं। इसमें क्यों सन्देह करते हो ? योग का अपना प्रयोजन निराकार ईश्वर कहने में सिद्ध हो जाता है परन्तु वह साकार का विरोधी नहीं है। साकार ईश्वर काल से मर्यादित होते हैं, परन्तु उनका नाम और महिमा नहीं। क्योंजी ! ईश्वर का साकार रूप धरने में क्या प्रयोजन है ? श्रवण करो। शास्त्रों में जो ईश्वर की शक्तियों, वैभवों का वर्णन है, उसको प्रत्यक्ष दिखाकर आस्तिकों को श्रद्धा को शास्त्रों में दृढ़ करना। भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, वरुण, कामदेवादि का मानभंग करके अपना सर्वोत्कृष्ट ईश्वरत्व दिखाया है। अवतारी ईश्वरों की चार प्रधान लीलायें तो गीता में श्री भगवान् ने स्वयं ही बताई हैं। धर्म के रक्षण, अधर्म के नाश, साधुओं के परित्राण, तथा दुष्कर्मियों के विनाश के लिए ईश्वर अवतार लेते हैं। ओंकार को वेदों ने सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों ही बतलाये हैं। अपना मुख्य अभिप्राय समाधि प्राप्त करना है। वह साकार ईश्वरोपासना से भी होती है और निराकारोपासना से भी। जिसको जो अनुकूल पड़े उसी को अंगीकार कर ले, क्योंकि इनमें वास्तविक भेद नहीं है ॥ २८ ॥

पिछले सूत्र में कहा था कि ईश्वरप्रणिधान से चित्त एकाग्र हो जाता है। उसके दूसरे फल भी हैं—

ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ततः = उक्त साधनसे, अन्तरायाभावः = विघ्नोंका अभाव, च = और, प्रत्यक्चेतनाधिगमः=जीव के अपने स्वरूप का ज्ञान, अपि=भी (हो जाता है) ।

व्याख्या : प्रत्यक् चेतन स्वस्वरूप आत्मा को कहते हैं। अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमयकोश—इनको वेदों ने उपचार से आत्मा कहा है। 'नेति नेति' श्रुति से इन पंचकोशों के बाध करने पर इनका भी जो आत्मा है, यानी सर्वान्तर आत्मा, अपना आपा, अपना शुद्ध स्वरूप उसको प्रत्यगात्मा, प्रत्यक्चेतन कहते हैं। ईश्वर प्रणिधान से प्रत्यगात्मा का ज्ञान हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक् चेतन का अर्थ अज्ञानी जीव किया है। 'प्रतीपं विपरीतं अञ्चति जानाति इति प्रत्यक्'। (वाचस्पति) आत्मविपरीत अनात्मभाव का बोद्धा। जो आत्मस्वरूप को नहीं जानता और द्वैतप्रपञ्च को सत्य जानता है, ऐसा अज्ञानी जीव।

क्योंजी! क्या उसको प्रत्यक् का साक्षात्कार हो जाता है? नहीं। केवल इतना मात्र ज्ञान होता है, कि उसका निजी स्वरूप प्रत्यक् चेतन है, स्थूल अथवा सूक्ष्म अथवा कारण शरीर उसका निजी स्वरूप नहीं है। सर्वान्तर आत्मा या प्रत्यक् चेतन का साक्षात्कार तो असम्प्रज्ञात समाधि में होता है। स्वरूपदर्शन इस प्रकार होता है—जैसे ईश्वर उपाधि त्यागने पर पुरुष, ब्रह्म हो जाता है, पुरुष होने से वह शुद्ध यानी कूटस्थ, उदयस्त रहित होता है। शुद्ध होने से वह प्रसन्न यानी क्लेशरहित, स्वच्छ होता है। प्रसन्न होने से वह केवल यानी धर्माधर्मरहित, त्रिगुणरहित होता है। केवल होने से वह अनुपसर्ग यानी तापत्रयवर्जित होता है। वैसे ही यह बुद्धिप्रतिसंवेदी, बुद्धिवृत्ति में जो चेतनाभास पड़ता है, जिसे जीव कहते हैं वह जीव भी, क्षरपुरुष भी प्रत्यक्-चेतन है। प्रत्यक्चेतन होने से शुद्ध है, शुद्ध होने से प्रसन्न है, प्रसन्न होने से केवल है, केवल होने से तापत्रयरहित है। ये दोनों एक हैं। जीव और ईश्वर अविद्या तथा माया उपाधि त्यागने के पश्चात् चैतन्यांश में एक हैं, जैसे कूपजल और समुद्रजल में कूप और समुद्र की उपाधि त्यागने पर समानता है।

क्योंजी! प्रणव का तो जप और ध्यान करेंगे, और ज्ञान होगा, अपने स्वरूप का, यह किस प्रकार होगा? जिसका जप ध्यान करेंगे, उसीका तो ज्ञान होना चाहिए यानी ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए। श्रवण करो। जहाँ दो भिन्न वस्तु होती हैं, वहाँ एक के ध्यान करने से दूसरे का ज्ञान नहीं होता। जीव और ईश्वर में आत्यन्तिक भेद नहीं है, औपाधिक यानी उपाधि के कारण भेद है। जीव की उपाधि अविद्या, ईश्वर की उपाधि माया। अविद्या और माया के निराकरण होने पर परमार्थस्वरूप से जीव, ईश्वर, ब्रह्म एक ही है। इस प्रकार के स्वरूपज्ञान होने का कारण-ईश्वर अनुग्रह है।

ईश्वरप्रणिधान का एक फल चित्तकी एकाग्रता, दूसरा फल प्रत्यक्चेतन का ज्ञान। अब तीसरा फल भी बताते हैं। जो व्याधि आदि अन्तराय, चित्त विक्षेप के कारण हैं, वे प्रणवजापी और भावनामय ध्यानी को नहीं होते हैं। व्याधि आदि चित्त को चंचल करती हैं। एकाग्रता में बाधक हैं। इसलिए ईश्वर अनुग्रह करके इन अन्तरायों का निवारण कर देते हैं। योरोप के कोई सन्त थे। उनका अघोभाग गलित हो गया था। वे बैठे-बैठे एक प्रार्थना किया

करते 'हे नाथ ! क्या आप कभी इस भग्नमन्दिर में भी आवोगे ?' इस प्रार्थना से नारायण आकृष्ट हुए और उस पर अनुग्रह कर दिया । वह सन्त एक महान प्रकाश में विभोर हो गया । जब सावधान हुआ तो उसने देखा कि उसके सब अंग सुडौल और स्वस्थ हो गये हैं ॥ २९ ॥

क्योंजी ! वे अन्तराय क्या हैं ? जो चित्त को विक्षिप्त करें उन्हें अन्तराय कहते हैं । वे कौन से हैं, तथा कितने हैं ?

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥**

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानव -
स्थितत्वानि=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन,
अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये चित्त के नव (९) विक्षेप हैं । इन्हें
अन्तराय कहते हैं ।

व्याख्या : ये नौ अन्तराय चित्त के विक्षेप हैं । चित्तवृत्तियों के साथ ही
विक्षेप उत्पन्न होते हैं । जब विक्षेपों का अभाव हो जायेगा तो चित्तवृत्तियाँ भी
उत्पन्न नहीं होंगी ।

१. व्याधि—धातु, रस, करण (इन्द्रियाँ) की विषमता से उत्पन्न
ज्वरादि । धातु सात होते हैं । वातपित्तकफ—इन तीनों का नाम
दोष है । इनकी क्षयवृद्धि से विषमता । इनका न्यूनाधिक होना
विषमता है । खाये पीये अन्न जल से पेट में रस बनता है । रस
से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से
मज्जा, मज्जा से शुक्र—ये सात धातु हैं । इनकी कमी-बेशी का
नाम विषमता । इन्द्रियों की विषमता अन्धापन, बहरापन,
गूंगापनादि ।

२. स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता । सामर्थ्य होते हुए भी योग साधना
में अयोग्यता ।

३. संशय—योग साधना में लाभ है या नहीं है । योग से अच्छा तो
विचार है, इत्यादि संशय । योग के समय भोग अच्छा लगना । भोग
के समय योग । दोनों पक्षों को देखना संशय है ।

४. प्रमाद—समाधि साधनों का अनुष्ठान न करना । आज नहीं, कल करेंगे इत्यादि प्रमाद ।
५. आलस्य—शरीर अथवा चित्त के बोझिल होने से योगसाधना में अप्रवर्तन ।
६. अविरति—विषयों में लालसा बनी रहना, वैराग्य का अभाव ।
७. भ्रान्तिदर्शन—गुरु शास्त्रादि से बताये हुए अर्थ से विपरीत ज्ञान में निश्चय । मिथ्या निश्चय ।
८. अलब्धभूमिकत्व—समाधि भूमि का अलाभ, वितर्कादि समाधि-भूमियों में न पहुँच पाना ।
९. अनवस्थिति—समाधि भूमि पाने पर भी साक्षात्कार न होना । साक्षात्कार से पहले ही समाधि टूट जाना । जो अन्तर, विच्छेद, विवर करता हुआ आये उसे अन्तराय कहते हैं । इनको योग में विक्षेप, प्रतिपक्ष, योगमल भी कहते हैं । ईश्वर प्रणिधान से ये सब अन्तराय दूर हो जाते हैं । ईश्वर अनुग्रह से, जो अन्तराय बाधा देता है, उसी का प्रतिपक्षी प्रगट हो अन्तराय को दूर कर देगा । व्याधि अन्तराय का प्रतिपक्षी युक्त औषधि, हितमित आहार का स्वभाव पड़ जाना । ये व्याधि को दूर कर देंगे । ईश्वर प्रणिधान से सात्त्विक निर्मल बुद्धि उदित होती है और क्रमशः योगैश्वर्य संचित होता रहता है । इससे साधक को अन्तरायाभाव अर्थात् अन्तरायनाश की उपायप्रतिरूप सिद्धि मिलती रहती है ॥३॥

केवल व्याधि आदि ही योग के अन्तराय नहीं हैं, बल्कि दुःख तथा उसके अन्य साथी भी चित्त की एकाग्रता में बाधक हैं । उनको बताने के लिये अगला सूत्र है—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः=दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये पाँच विघ्न, विक्षेपसहभुवः = विक्षेपों के साथ-साथ होनेवाले हैं ।

व्याख्या : अन्तरायों के होने पर ये दुःखादि प्रतिबन्ध पंचक भी उपस्थित हो जाते हैं। दुःख तीन प्रकार होते हैं। आध्यात्मिक दुःख—ये भी दो प्रकार के होते हैं। शारीरिक दुःख, व्याधि ज्वर सिर दर्द से, होता है। मानसिक दुःख कामक्रोधादि से उत्पन्न होता है। आधिभौतिक दुःख वर्षा, भूचाल, अग्नि, बाढ़ आदि से उत्पन्न होता है। वास्तव में सभी दुःख मानसिक होते हैं। जो चित्त में क्षोभ चंचलता उत्पन्न करे, वह दुःख हेय है। दुःख रहते मन एकाग्र नहीं हो सकता। दौर्मनस्य-इच्छा की पूर्ति न होने पर चित्त में क्षोभ उठना। अंगमेजयत्व—शरीर के अंगों का काँपना। श्वास-प्रश्वास-प्राणवायु का नासिक में से भीतर जाना श्वास कहा जाता है। भीतर फेफड़ों से अपान वायु का बाहर निकलना प्रश्वास कहा जाता है। शरीर की ये साधारण चेष्टायें हैं। प्राणायाम करते समय श्वास की गति को रोका जाता है। साधक ने बाह्यकुम्भक लगा रक्खा है यानी श्वास बाहर छोड़ने पर वहीं उसको रोक रक्खा है। कभी ऐसा होता है कि बिना इच्छा के कुम्भक तोड़कर वायु भीतर आ जाता है। यह श्वास का विघ्न है। ऐसे ही आभ्यन्तर कुम्भक को तोड़कर बिना इच्छा के वायु बाहर निकल जाता है। यह प्रश्वास का विघ्न है। ये विक्षेप व्याधि आदि के साथ उत्पन्न होते हैं। विक्षिप्त चित्त में ये होते हैं, समाहित चित्त में दुःखदौर्मन्यस्यादि नहीं होते। विक्षेप होते ही दुःखदौर्मनस्यादि आ जाते हैं। विक्षेप दूर होते ही ये भी दूर हो जाते हैं ॥३१॥

ये विक्षेप और उपविक्षेप समाधि के विरोधी हैं। इसलिये इनका निरोध करना चाहिये। किस प्रकार ? अभ्यास और वैराग्य से।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तत्प्रतिषेधार्थम्=उनको दूर करने के लिये; एकतत्त्वाभ्यासः=एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये।

व्याख्या : क्योंजी ! ईश्वरप्रणिधान से अन्तरायों का अभाव हो जाता है, तब उनके निषेध के लिये एकतत्त्वाभ्यास क्यों बताया ? सूत्र १२ में वृत्तियों के निरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बताये हैं। ईश्वरप्रणिधान अभ्यासमात्र है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वैराग्य को छोड़ दिया है। वैराग्य तो आधार भूमि है। वैराग्य के कमजोर, अदृढ़ होने से योगसाधना का महल ढह जायगा। अतः वैराग्य को यहाँ सहायक रूप में ग्रहण किया है मुख्य।

रूप में नहीं। वैराग्य की भूमि पर खड़े होकर अभ्यास किया जाता है। अब अभ्यास और वैराग्य इन दोनों उपायों में से अभ्यास के विषय का उपसंहार करने के लिये यह सूत्र दिया जाता है। यह सूत्र अभ्यास उपाय के ही अन्तर्गत है। एक तत्त्व का अर्थ ईश्वर है, क्योंकि ईश्वर का विषय ही चल रहा है। इन विक्षेप और उपविक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व ईश्वर का अभ्यास करना चाहिये। उसके जप और ध्यान के विषय में पहले सूत्रों (२७, २८) में बता चुके हैं। एकतत्त्व के अर्थ निकालने में विद्वानों ने बड़ी तर्कें लगाई हैं। उस विवाद में हम नहीं जाते। हमारी टीका साधकों के लिये है। भगवान् वेदव्यास ने योगसूत्रों पर जो भाष्य लिख दिया है, वैसा भाष्य आज विश्वभर के विद्वान् एकत्रित होकर भी नहीं लिख सकते, कारण ? उनको भविष्य का ज्ञान नहीं है। भगवान् वेदव्यास त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ हैं। उनको सब शास्त्रों के तात्पर्य का ज्ञान है। वाचस्पति मिश्र ने एकतत्त्व का अर्थ ईश्वर बताया है। आत्मतत्त्व मन बाणी का विषय नहीं है। सूत्र में एकतत्त्व का अभ्यास कहा है। यदि किसी स्थूल विषय को ध्येय का आलम्बन बनाया जाये, तो वह स्थूल विषय एक हो सकता है, पर वह एकतत्त्व नहीं। ऐसा जपनीय और उपासनीय तत्त्व केवल ईश्वर ही है। योगसिद्धि के लिये ईश्वर ही एक प्रबल आश्रय है, जो साधक को सर्वप्रकार के विघ्नों से बचाता है। उसके योगक्षेम का निर्वाह करता है। योगक्षेम की चिन्ता बहुत बड़ी विक्षेप है। साधनापाद के प्रथम सूत्र में भी ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग का एक अंग बताया है। ४५वें सूत्र में भी बताया है कि ईश्वर प्रणिधान से समाविसिद्धि होती है। ईश्वर का जप, भजन, कीर्तन, ध्यान करने चाहिये ॥ ३२॥

क्योंजी ! जिसका चित्त मलिन होगा, यानी ईर्ष्या, असूयादि रजोगुण के घोर घमों से क्लृप्त होगा, वह चित्त एकाग्र नहीं हो सकता और न समाधि लाभ कर सकता है। अतः चित्त की सफाई के लिए अर्थात् रजोगुण, तमोगुण की धुलाई के लिए कुछ उपाय बताना चाहिए।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-

विषयाणां भावनातद्विचित्रप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् = सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा ये चारों जिनके क्रमसे विषय हैं, ऐसी; मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् = मित्रता

दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी; भावनातः = भावनासे; चित्तप्रसादनम् = चित्त स्वच्छ हो जाता है।

व्याख्या : ईश्वरप्रणिधान से अन्तरायों का और उनके साथ होने वाले उपविक्षेपों का अभाव हो जाता है। नारायण उन विघ्नों का कैसे निराकरण करते हैं? नारायण उन साधकों में विशेष गुण उत्पन्न कर देते हैं, अथवा विशेष उपायों को उपलब्ध करा देते हैं, जिससे चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाये।

सुखी पुरुषों में मैत्रीभाव, सुहृदयता की भावना रखे। इस अभ्यास से चित्त की ईर्ष्याकालिमा दूर हो जाती है। दूसरों के धन वैभव या गुणों को देखकर चित्त में जो दाह, जलन होती है, उसे ईर्ष्या कहते हैं। यह चित्त को मलिन करती है। दुःखी पुरुषों में कष्टभाव रखे। दूसरे के दुःख का अपने दुःख जैसा समझे और उसको दूर करने की यथासम्भव चेष्टा करे। इससे दूसरे की बुराई करने की चित्त की इच्छा निवृत्त हो जायेगी। पुण्यशील प्राणियों में मुदिता, हर्ष की भावना करे। इससे चित्त की असूयावृत्ति दूर हो जायेगी। दूसरे के गुणों में दोषदर्शन करना असूया कही जाती है। महर्षि अत्रि की धर्मपत्नी का नाम अनसूया था, अर्थात् वह पति के गुणों में दोष नहीं खोजती थी। अनसूया गुण से स्त्रियाँ अपने पतियों की प्यारी हो जाती हैं। जिनमें असूया दुर्गुण हो, उसको भगवान् ने गीता ज्ञान देना निषेध किया है। 'न च मां योऽभ्यसूयति।' गीता (१८.६७) जो मेरे गुणों में दोष-दृष्टि रखता है, हे अर्जुन! उसे गीताज्ञान मत देना। अपुण्यात्माओं में उपेक्षा का भाव रखे। न उनकी निन्दा करे, न स्तुति, न घृणा करे, न कोप। मध्यस्थभाव रखे। इससे चित्त की अमर्ष कालिमा दूर होती है। किसी के उत्कर्ष न सहन कर सकना अमर्ष कहा जाता है। किसी के कठोर वचन सुन कर अथवा अपमानित होकर जो बदला लेने की चित्त की वृत्ति है, उसे अमर्ष कहते हैं।

इन चार प्रकार की भावनाओं से चित्त के मल धुल जाते हैं। चित्त के राजसतामस धर्मों के निवृत्त होने पर शुक्ल धर्म उदित होता है। साधक का चित्त सत्त्वगुण के उत्कर्ष से सम्पन्न हो जाता है। तब चित्त प्रसन्नता, प्रसाद, निर्मलता को प्राप्त होता है। इन उपायों से प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थितिपद को लाभ करता है। 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।' (गीता २.६५) निर्मल अन्तःकरण वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही आत्मा में स्थिर हो जाती है।

दो प्रकार की वासना होती हैं, एक परमात्मावासना या शुद्धवासना दूसरी मलिनवासना। काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि अशुद्ध वासना होती हैं। इनको मिटाने के लिए इनमें दोष दर्शन करना, तथा इनको काटने वाली शुद्ध वासना का अभ्यास करना। वासनाक्षय का यही उपाय है। उदाहरणार्थ, कोप के दोष देखे। हे कोपदेव ! तुमको प्रणाम है। तुम सबसे पहले अपने अधिष्ठान को नष्ट करते हो। इसके दोष देखते हुए इससे विपरीत क्षमा भावना में गुण देखे और उसका व्यावहारिक उपयोग करे। वासनाक्षय से चित्त स्थिर होता है ॥ ३३ ॥

निर्मल चित्त को स्थिर करने के लिए छः उपाय ३९वें सूत्र तक बताते हैं। ये उपाय उत्तमाधिकारियों के लिए हैं। मध्यम अधिकारियों को अष्टांग योग की ही साधना करनी होगी।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

वा = अथवा, प्राणस्य = प्राणवायुको, प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् = बारंबार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी (चित्त निर्मल होता है)।

व्याख्या : प्रश्वास को रेचक प्रयत्नविशेष के साथ बाहर छोड़ने से तथा फिर प्राण को प्रवेश न करने दे और बाह्यकुम्भक लगाने से भी मन स्थिर होता है। चित्त को स्थिर करने के लिए चित्त का बंधन आवश्यक है। चित्त-बंधन की चेष्टा न करके केवल श्वासप्रश्वास लेने से चित्त स्थिर नहीं हो सकता। इसलिए प्राणायाम के साथ ध्यान आवश्यक है। ध्यानशून्य प्राणायाम से वाताधिक्य अथवा मन चंचल होता है। श्वास रोग भी हो जाता है।

इस सूत्र में 'वा' शब्द का प्रयोग दूसरा उपाय बताने के लिए है। क्योंजी ! प्रयत्न विशेष क्या होता है ? श्रवण करो। यह प्रयत्न तीन प्रकार का होता है। प्रश्वास को धीरे-धीरे यानी दीर्घकाल तक त्यागने का प्रयत्न। शरीर को स्थिर रखने का प्रयत्न तथा मन को संकल्पशून्य करने का प्रयत्न। क्योंजी ! इस विधि में केवल नासिकापुट से (मुख से नहीं) श्वास का बाहर निकालना तथा निकालकर पुनः वहीं स्थिर करना बताया है। पूरक तो बताया नहीं। पूरक के बिना प्रच्छर्दन संभव नहीं। श्रवण करो। योग के विशेष अनुभव रेचक करते समय होते हैं। रेचक करते समय यह भावना करे

कि द्वैत प्रपंच को यानी वृत्तिबाहुल्य को मैं कोपपूर्वक और बलपूर्वक मन से निकाल रहा हूँ। बाह्यकुम्भक में यह भावना करे कि मेरा मन स्थिर हो गया है। पूरक में ये लाभ नहीं होते, अतः सूत्रकार ने पूरक के बारे में कुछ नहीं बताया है। यह भी बात है कि पूरक तो स्वयं होता ही रहता है। हमारे श्रीगुरुदेव बल लगाकर प्रच्छेदन किया करते और पाँच सान बार करने के पश्चात् कुम्भक लगा देते थे। आप भी ऐसा कर सकते हैं। इन दोनों क्रियायों से चित्तस्थिरता प्राप्त करता है। प्राण के संयमन से ही मन का निरोध हो जाता है। 'चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।' वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल हो जाता है, और वायु को निश्चल करने पर मन भी निश्चल हो जाता है। प्राण का और मन का गहरा संबंध है। प्राण के छोड़े पर चढ़कर मन यात्रा करता है ॥ ३४ ॥

अब चित्त स्थिर करने की दूसरी विधि बताते हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिस्तपन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

विषयवती = विषयवाली, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, उत्पन्ना = उत्पन्न होकर वह, वा = भी, मनसः = मनकी, स्थितिनिबन्धनी = स्थितिको बाँधनेवाली हो जाती है।

व्याख्या : निर्मल चित्त को स्थिर करने का एक अन्य दूसरा उपाय बताते हैं। अनेक उपाय बताने का प्रयोजन यह है कि किसी को कोई उपाय अनुकूल हो सकता है। 'प्रकृष्टा वृत्तिः प्रवृत्तिः, साक्षात्काररूपा।' उत्कृष्ट वृत्ति को प्रवृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति विषय का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है। शब्दादि पंचविषय हैं। जिस वृत्ति का विषय हो, वह वृत्ति विषयवती होती है। इस सूत्र में मन का अर्थ चित्त है। 'मनसः' शब्द प्रयोग से चित्त और मन की एकार्थता दिखाई है। शब्दस्पर्शादि विषयों को प्रत्यक्ष करने वाली चित्त की सूक्ष्मवृत्ति विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है। यह पाँच विषयों के अनुसार पाँच प्रकार की होती है।

१. नासिका के अग्रभाग में संयम करने से दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है। इसको गन्धप्रवृत्ति या गंधसंवित कहते हैं। संवित का अर्थ ज्ञान।

२. जिह्वा के अग्रभाग में संयम करने से दिव्यरस का साक्षात्कार होता है। इसको रसप्रवृत्ति या रससंवित कहते हैं।

३. तालु में संयम करने से दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है। इसको रूपप्रवृत्ति या रूपसंवित कहते हैं।
४. जिह्वा के मध्यभाग में संयम करने से दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है। इसको स्पर्श प्रवृत्ति या स्पर्शसंवित कहते हैं।
५. जिह्वा के मूल में संयम करने से शब्द का साक्षात्कार होता है। इसे दिव्य शब्दप्रवृत्ति या शब्दसंवित कहते हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिरता में बाँध देती हैं। संशय का नाश करती हैं। समाधिप्रज्ञा की द्वारभूता होती हैं। समाधि में प्रवेश कराने में ये द्वार हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न, प्रभादि में चित्त के संयम से जो इनका साक्षात्कार होता है, उसे विषयवती प्रवृत्ति ही जानना।

क्योंजी ! योग का प्रयोजन द्रष्टा को अपने स्वरूप में अवस्थित करना है। नासिकाग्रादि पर संयम करने से कौनसी पुरुषार्थता सिद्ध होती है ? श्रवण करो। भगवान् वेदव्यास की वाणी में ही कहेंगे। 'शास्त्र, अनुमान तथा आचार्योपदेश से सम्यक् जाना हुआ विषय यथार्थ ही होता है, क्योंकि शास्त्र और आचार्य यथार्थ अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं, तथापि शास्त्र और आचार्यों से उपदेश किए पदार्थों में जब तक किसी एक सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक कैवल्यपर्यन्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतम पदार्थों में दृढ़ विश्वास नहीं होता। इसलिए शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिए किसी एक सूक्ष्म विप्रकृष्ट पदार्थ का साक्षात्कार, संयम की दृढ़ता के लिए, अवश्य करना चाहिए। जब शास्त्रादि उपदिष्ट अर्थ का एकदेश में जिज्ञासु को प्रत्यक्ष हो जाता है, तब कैवल्यपर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं, उनमें साधक का दृढ़ विश्वास हो जाता है। ठीक इसी उद्देश्य से चित्त की निर्मलता पर जोर दिया गया है। अनियत चित्तवृत्तियों के मध्य जब गन्धादि प्रवृत्ति से गन्धसंवित कर साक्षात्कार हो जाता है तब गन्धादि प्रवृत्तियों में दोषदर्शन होता है तथा वैराग्य जायमान हो जाता है। इस प्रकार विक्षेप के ह्रास से साधक का आत्मविश्वास उत्तर भूमियों को आयत्त करने में समर्थ होता है। ऐसा होने से श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि साधक के चित्त में बिना प्रतिबन्ध के उत्पन्न होते हैं।

साधक विषयवती प्रवृत्ति को घटिया नहीं समझे साधन पाद में कथित यमनियमादि पाठन से तथा अन्य योगाङ्गों के साधन से कहीं ध्यान, धारणा,

संयमादि की उपलब्धि होती है। समाधि पाद उत्तम साधकों के लिये है। इसलिये उनको समाहित चित्त जान कर सूत्रकार ने यह सूत्र किया है। मध्यम साधकों को लम्बे मार्ग से जाना पड़ेगा। उत्तम साधक यमनियमादि का पालन पूर्व जन्मों में कर चुके होते हैं। उत्तम साधक एक दिन में नहीं बनाता ॥ ३५ ॥

निर्मल चित्त को स्थिर करने का एक अन्य तीसरा उपाय बताते हैं—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

वा = इसके सिवा [यदि], विशोका = शोकरहित, ज्योतिष्मती = ज्योतिष्मती प्रवृत्ति [उत्पन्न हो जाय तो वह] भी स्थिति करनेवाली होती है।

व्याख्या : विशोका, यानी विगतशोका, दुःखरहिता जिसकी ज्योति हो, वह ज्योतिष्मती, प्रकाशरूपा। जैसे विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है, वैसे ही विशोका या ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन को स्थिर कर देती है। इस सूत्र से एक अन्य प्रकार की समाधि बताते हैं। जैसे विषयवती प्रवृत्ति के लिये नासिकाग्रादि स्थानों पर ध्यान किया जाता है, वैसे ही हृदयकमल में ध्यान करने से बुद्धिसंवित होती है। यानी बुद्धि का साक्षात्कार होता है। इस सूत्र के अंत में 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मानसः स्थितिनिबन्धनी' जोड़ लेना चाहिये। विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर कर देती है।

योगीगण कहते हैं कि ऐसा ध्यान करो कि हृदय में एक अष्टदल कमल है। यह हृदयकमल अनाहत चक्र से अधिक सूक्ष्म है और उसके पीछे है। अनाहत चक्र लुप्त हो जायगा और हृदयकमल प्रगट होगा। उदर और उरस के मध्य में हृदय का स्थान होता है। इस कमल की पंखुड़ियाँ अधोमुख रहती हैं। इसके भीतर से सुषुम्ना नाड़ी गई है। पहले रेचक प्राणायाम से इस कमल को ऊर्ध्वमुख करो। वहाँ पर चित्त धारण करो। रेचक करते समय भावना करो कि इस कमल भीतर महाज्योति विद्यमान है। उसका ध्यान करो। इस कमल के मध्य में ओंकार है। इस कमल में सूर्यमंडल का स्थान है। यही ओंकार के प्रथम अक्षर अकार का स्थान है। यह जाग्रदवस्था का स्थान है। इसके ऊपर चन्द्रमण्डल उकार है। यह स्वप्न स्थान है। इसके ऊपर बह्निमंडल

मकार है। यह सुषुप्ति का स्थान है। इन सबसे ऊपर परम व्योमात्मक ब्रह्मनाद है जिसे ब्रह्मवादी लोग तुरीयपद, अर्धमात्रा कहते हैं। इस कमल की पंखुड़ियों में ब्रह्मनाडी है जिसका ऊर्ध्वमुख है और जो आभ्यान्तरिक सूर्यमण्डल तथा अन्यमण्डलों के बीचों बीच जाती है। इसको घेर कर एक अन्यनाड़ी है जिसे सषुम्ना कहते हैं। यह नाड़ी भी बाह्य सूर्यचन्द्रमंडालादि को व्याप्त करती है। यह सुषुम्ना नाड़ी चित्त का स्थान है। इसमें संयम करने से चित्तसंवित उत्पन्न होती है। यानी बुद्धि का साक्षात्कार होता है।

अब बुद्धिसंवित का आकार दर्शाते हैं। बुद्धिसत्त्व प्रकाशमान आकाश के सदृश होता है। इसमें चित्त की स्थिति की कुशलता से वह चित्तवृत्ति सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, मणि की प्रभा के आकार से बदलती रहती है। चित्त होकर बुद्धिसत्त्व के साक्षात्कार में सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह आदि अनेक विषय रहते हैं, इसलिये इसे विषयवती ज्योतिष्मति प्रवृत्ति कहते हैं। अब अस्मिता समापत्ति का स्वरूप बताते हैं। यह निस्तरंग सागर जैसी शान्त स्थिति होती है। अस्मिता में रजोगुण अपगत रहता है। इसलिए यह शान्त है। यह सर्वव्यापी अनन्तस्थिति होती है। यह केवल अस्मितामात्र होती है, यह सूर्यचन्द्रमाग्रहादि रूप नाना प्रभारहित होती है। यह जो दूसरी अस्मितारूप चित्त की प्रवृत्ति है इसको अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं।

योगदर्शन अनुभवसिद्ध शास्त्र है। अस्मिता सृष्टि का बीज है। यहीं से चिज्जड़ ग्रंथ आरम्भ होती है। इस स्थिति में प्रथम बार अपनी पृथक् सत्ता का अस्पष्ट अनुभव होता है, मैं, 'हूँ, हूँ, हूँ' रूप। परन्तु मैं क्या हूँ, यह स्पष्ट नहीं होता। अस्मिता (महत्तत्त्व) में जब चित्तिबिम्ब का प्रकाश पड़ता तो झट से 'अस्मि, अस्मि' की अनुभूति होने लगती है। भगवान् भाष्यकार ने पंचशिखाचार्य के वचनों से अस्मिता के विषय में प्रमाण दिये हैं। 'तमणुमात्रमात्मानं-मनुविद्यास्मि इति एवं तावत् सम्प्रजानीते।' उस अणुमात्र अस्मिता का धारणापूर्वक अनुभव 'मैं हूँ।' इस प्रकार जानता है। अत्यन्त सुखमयी वृत्ति ही इसका अनुभव कर सकती है। जब तक अस्मिता में चेतन का प्रकाश नहीं पड़ेगा, तब तक अपनी सत्ता का अनुभव नहीं हो सकता। पुरुष (ब्रह्म) अनुभव करने वाला नहीं है, वह शुद्ध अनुभव रूप है। चेतन प्रकाश युक्त अस्मिता ही अर्धनारीश्वर है और यह अर्धनारीश्वर स्वरूप सृष्टि के अणु अणु में व्याप्त है। 'मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मक-जगत्।' देवी अथर्वशीर्ष। मुझ परमेश्वरी से ही यह प्रकृति और पुरुष से संयुक्त जगत है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य इसका ध्यान इस प्रकार बताते हैं 'हृदय में अनन्तवत्, आकाशरूप या

स्वच्छ ज्योति की भावना करते हुए उसमें आत्मभावना करनी चाहिये अर्थात् यह अनन्त निस्तरंग शान्त प्रकाश, 'मैं' ही हूँ। 'मैं' ओत-प्रोत रूप से व्याप्त हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना से अकथनीय सुख मिलता है।' अस्मिता समापत्ति की उच्च भूमि का नाम विवेकख्याति है ॥३६॥

मन को स्थिर करने का चौथा उपाय बताते हैं।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतराग विषयं वा चित्तम् = रागरहित योगियों के चित्त का आलम्बन करने से साधक का चित्त स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या : चित्त को स्थिर करने का यह अन्य उपाय है। रागद्वेषरहित योगी हैं, जैसे वेदव्यास, सनकसनन्दनादि भगवान राम, कृष्ण, उनके चित्त को ध्यान का विषय बनाकर संयम करने से साधक का चित्त भी स्थिर हो जाता है। राग कहने से द्वेष भी समझना। जिन्होंने विषयाभिलाषा का परित्याग कर दिया है, उन्हें वीतराग कहते हैं। वीतरागियों के चित्त को ध्यान का आलम्बन बनाकर संयम करने से चित्त की स्थिरता सिद्ध हो जाती है ॥ ३८ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् ॥ ३८ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् = स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला चित्त; वा = भी (स्थिर हो सकता है)।

व्याख्या : इस सूत्र में निद्रा शब्द का अर्थ सुषुप्ति है। ज्ञान का अर्थ ज्ञेय है। स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था का अभाव हो जाता है। सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं का अभाव हो जाता है। जाग्रदवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति दोनों का अभाव हो जाता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं, वैसे जाग्रदवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं, अतः मन में जब विषयोपद्रव उपस्थित हों तब उनका 'मिथ्या' 'मिथ्या' कह कर बहिष्कार कर दे। वे विषयविक्षेप अपमानित होकर निस्तेज हो जायेंगे और साधक चित्त की स्थिरता प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥

सब कुछ बताकर अब साधक को छुट्टी दे देते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ, जो भी वस्तु तुझे प्यारी लगे उसी का ध्यान कर। यह छठा उपाय है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यथाभिमत = जिसको जो वस्तु रुचिकर लगे उसके ध्यानात् वा = ध्यान से भी चित्त स्थिरता लाभ करता है।

व्याख्या : इसका अर्थ यह नहीं समझना कि किसी प्रिय अस्तु, अशुभ, अशुचि वस्तु के ध्यान से भी लाभ होगा। चित्त को तात्कालिक एकाग्रता तो मिल सकती है, परन्तु परिणाम अच्छा नहीं। जिसको प्रिय लगे यथा शिव, राम, कृष्णादि रूप बाह्य, अथवा चन्द्रसूर्यादि आभ्यन्तर अथवा चक्रनाड़ी आदि उनमें किसी एक के ध्यान से भी निर्मल चित्त स्थिरता को प्राप्त होगा। चित्त का एक ऐसा स्वभाव है कि वह यदि एक विषय पर स्थिरता लाभ कर सकता है तो अन्य विषयों पर भी कर सकता है ॥ ३९ ॥

चित्त को एकाग्र करने के उपाय बताकर अब उसके फल बताते हैं—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

अस्य = पहले उपायों से स्थिर हुए चित्त का परमाणुपरममहत्त्वान्तः = परमाणु से लेकर परम महत्त्व तक वस्तुओं में। वशीकारः = स्थिति लाभ करना इसके वश में हो जाता है।

व्याख्या : परमाणु से अधिक सूक्ष्म वस्तु नहीं है तथा परम महत्त्व यानी महापरिमाण आकाश से अधिक बृहत् वस्तु नहीं है। सूक्ष्म वस्तु में प्रवेश करता हुआ चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक में स्थितिपद लाभ कर सकता है और महान वस्तुओं में प्रवेश करता हुआ चित्त महान से महान स्थूलकाश तक वस्तु में स्थिति लाभ कर सकता है। इन दोनों छोटी बड़ी कोटि की वस्तुओं में बिना प्रतिबन्ध स्थितिपद लाभ करने की चित्त की योग्यता को परम वशीकरण है। इस वशीकार से चित्त परिपूर्ण पर योगी को अपने चित्त को निर्मल बनाने के लिए अन्य किसी प्रकार के अभ्यास की आव-

श्यकता नहीं रहती। चित्त वशीकृत होने पर सबीज ध्यानाभ्यास समाप्त हो जाता है। अब योगी को केवल सम्प्रज्ञात समाधि के लिए प्रयत्न करना बाकी रहेगा। किसी विषय पर ध्यान लगाने से उसका यथार्थ स्वरूप, अवस्था, गति, परिणति आदि जो भी ज्ञातव्य विषय हैं, उनका साक्षात्कार हो जाता है। स्थूल विषय हो या सूक्ष्म सभी स्वस्वरूप के अज्ञान से जनित हैं, अतः चित्त उनमें अनासक्त हो जाता है और स्वस्वरूपाभिमुख होता है। अब शंकर भगवत्पाद की दिव्यवाणी सुनो।

कस्तां परानन्द-रसानुभूति-

मुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।

चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने

चित्रेन्दुमालोकयितं क इच्छेत ॥ ५२३ ॥

(विवेकचूडामणिः)

कौन विद्वान् उस परमानन्दरस के अनुभव को छोड़कर अन्य असत् विषयों में रमण करेगा? अति आनन्ददायक चन्द्रमा के प्रकाशित रहते हुए चित्र-लिखित चन्द्रमा को देखने की कौन इच्छा करेगा।

असत्पदार्थानुभवे न किञ्चिन्न-

ह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहातिः ।

तदद्वयानन्दरसानुभूत्या

तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥ ५२४ ॥

(विवेकचूडामणिः)

असत् पदार्थों के अनुभव से न तो कुछ तृप्ति ही होती है और न दुःख का नाश ही; अतः उस अद्वयानन्द के रस के अनुभव से तृप्त होकर सत्त्वह्व में प्रतिष्ठित होकर सुखपूर्वक रहो ॥ ४० ॥

क्योंजी! इस प्रकार इन उपायों द्वारा निर्मल हुए चित्त की किस स्वरूपवाली और किस विषय की समापत्ति होती है? पिछले १७ वें सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि बताई है। उसी सम्प्रज्ञात समाधि की श्रेणियों को अगले छः सूत्रों समापत्ति नाम से बताते हैं—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थितदञ्जनताः समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्ते: = जिसकी तामस, राजस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं; ऐसे **मणे:** इव अभिजातस्य = स्फटिकमणि की भाँति निर्मल चित्त का; **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु** = जो ग्रहीता (पुरुष), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पञ्चभूत और विषयों) में; **तत्स्थितदञ्जनता** = स्थिर होकर ध्येय विषय के स्वरूप को प्राप्त कर लेना; **समापत्तिः** = समापत्ति कही जाती है।

व्याख्या : स्वच्छ स्फटिक मणि के नीचे लाल अथवा पीला पुष्प रखने से स्फटिक मणि लाल, पीली भासित होती है। यह उसका अपना वर्ण नहीं है, क्योंकि वह तो स्वयं स्वच्छ है। यदि वह मलिन होगी तो लाल पीले रंग को प्रकाशित नहीं करेगी। इसी प्रकार जब राजस तामस वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, और सत्त्वगुण की प्रकृष्टता से चित्त अति निर्मल प्रकाशित होता है, तब जो ध्येय चित्त के सामने आयेगा, चित्त उसी ध्येय में स्थिर होकर उसी का आकार प्रकाशित करेगा। उस चित्त के द्वारा जीवात्मा ध्येय वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है।

स्थूलभूत में रजित चित्त स्थूलभूत में स्थिर होकर स्थूलभूत स्वरूप का प्रकाशक होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मालम्बन में उपरक्त चित्त सूक्ष्मकार में समापन्न होकर सूक्ष्म स्वरूप का भासक होता है। तात्पर्य यह है कि निर्मल चित्त को जिस वस्तु में लगायें, उसी के तदाकार होकर उसको साक्षात् करा देता है, चाहे वह ग्राह्य अर्थात् स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय हो, वह ग्रहण (इन्द्रियाँ और अहंकार) हों, और चाहे वह ग्रहीता अर्थात् अस्मिता हो।

चित्त का ध्येय में स्थिर होना (तत्स्थ) और उसीका आकार (अंजनता) धारण करलेना समापत्ति का स्वरूप है। सब ओर से ध्येय का चित्त में प्राप्त होना समापत्ति यानी समाधि कही जाती है।

साधनाक्रम से सूत्र में ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीत होना चाहिए था क्योंकि स्थूल को आयत्त करके सूक्ष्म में जाना सुगम है, परन्तु ध्येय तथा समाधि की उत्कृष्टता की दृष्टि से सूत्रकार ने ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य क्रम दिया है।

स्थिति प्राप्त (एकाग्र भूमि प्राप्त) चित्त के जितने भेद होते हैं या हो सकते हैं, उन्हें ही इस सूत्र में कहा है। विषयभेद से समापत्ति तीन प्रकार की होती है—ग्रहीता विषयक, ग्रहणविषयक तथा ग्राह्यविषयक। सम्यक् आपत्ति

(अच्छे प्रकार प्राप्ति) समापत्ति । किसी विषय में समाधि लगाने से उस विषय का चरम सत्यज्ञान प्रकाशित हो जाता है, और जानने के लिए कुछ अवशिष्ट नहीं रहता सम्प्रज्ञात लक्षण योग का नाम ही समापत्ति है । समापत्ति को प्रत्यक्षवृत्ति भी कहते हैं । ग्राह्य विषयक समापत्ति तीन प्रकार की है— प्रथम, विश्वभेद अर्थात् स्थावरजंगमादि भेद । द्वितीय, स्थूलभूत या क्षति पंचस्थूल भूत । तृतीय, सूक्ष्मभूत शब्दादि पंचतन्मात्रा । ग्रहणविषयक समापत्ति बाह्याभ्यान्तर इन्द्रिय विषयक । बाह्येन्द्रियों में ज्ञानकर्मेन्द्रियां तथा प्राण सम्मिलित हैं । अन्तरिन्द्रियों में मन बुद्धि अहंकार । ग्रहीतृविषयक समापत्ति में अस्मिता ध्यान है, यह बुद्धितत्त्व है अर्थात् यह गौण द्रष्टा है । ईश्वर में समापत्ति अथवा जीवन्मुक्तों में, व्यास शुकादियों में समापत्ति हो सकती हैं । ये सब ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता विषयों के अन्तर्गत हैं ॥ ४१ ॥

यहाँ तक सामान्य समापत्ति का स्वरूप वर्णन किया है । यह समापत्ति अवान्तर भेदों से चार प्रकार की होती है, यथा सवितर्का, निवितर्का सविचारा, तथा निवित्चारा । अब सवितर्का समापत्ति के लक्षण बताते हैं ।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकोर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

तत्र = उनमें; शब्दार्थज्ञानविकल्पैः = शब्द, अर्थ, ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से; संकोर्णा = संकीर्ण—मिली हुई; समापत्तिः समाधि; सवितर्का = सवितर्क है ।

व्याख्या : शब्द, अर्थ, तथा ज्ञान-ये तीनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं । जैसे गाय एक शब्द है । इसका अर्थ सींग चार पावों से युक्त दूध देने वाला एक पशु है । गाय शब्द उच्चारण से गाय का ज्ञान होता है । ये तीनों भिन्न हैं, तो भी इनमें अभेद सा भासित होता है । जब योगी गाय पर समापत्ति करता है तो समाहित चित्त में गाय का नाम आकार तथा उसका ज्ञान मिश्रित से भासते हैं । ऐसी समापत्ति को जिसमें तीनों का विकल्प, भेद बना रहे सवितर्क समापत्ति कहते हैं । जब शब्द और ज्ञान का विकल्प जाता रहे और केवल अर्थ मात्र का ज्ञान हो तब इसे निवितर्क समापत्ति कहते हैं । जब अर्थ के साथ शब्द और ज्ञान का बोझ वृत्ति में रहेगा तब शुद्ध साक्षात्कार नहीं होता, साक्षात्कार कुछ हल्का रहता है । परन्तु जब शब्द और ज्ञान दोनों से रहित केवल अर्थमात्र का प्रत्यक्ष होता है, उसको परम प्रत्यक्ष कहते हैं । इसी प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर महर्षि गण उपदेश करते हैं । यह परम प्रत्यक्ष ज्ञान

आगम शास्त्र का और अनुमान का पिता है। परमर्षि कपिल, पतंजलि मुनि, योगी याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरों ने इसी परम प्रत्यक्ष ज्ञान के बल पर शब्दों से बोधन कराया यानी तत्त्वसमास, योगसूत्र, स्मृति आदि शास्त्रों का प्रथम उपदेश किया। आगम और अनुमान परमप्रत्यक्ष के आश्रित होते हैं। यह ज्ञान निर्वितर्क समाधि से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती ॥ ४२ ॥

अब निर्वितर्क समापत्ति के लक्षण बताते हैं।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ = (शब्द और प्रतीतिकी) स्मृति के भलीभाँति लुप्त हो जाने पर, स्वरूपशून्या = अपने रूप से शून्य हुई के, इव = सदृश, अर्थ-मात्रनिर्भासा = केवल ध्येयमात्र के स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (चित्तकी स्थिति ही), निर्वितर्का = निर्वितर्क समाधि है।

व्याख्या : सवितर्क समापत्ति में चित्त में शब्द अर्थ और ज्ञान ये तीनों भासते रहते हैं। चित्त इन तीनों में तदाकार रहता है। चित्त की एकाग्रता में तीन वस्तु रहती हैं जैसे गौ का नाम, गौ का आकार तथा गौ की प्रतीति-ये तीनों प्रकाशित रहती हैं। परन्तु समाधि की गाढ़ता आने पर यानी सत्त्व की अभिवृद्धि होने पर गौ का नाम तथा गौ का ज्ञान विस्मृति हो जाता है, और केवल गौ अर्थ में चित्त तदाकार रहता है। साथ ही चित्त का जो ग्रहणात्मक स्वरूप है वह भी दुर्बल हो जाता है, वह भी भूला सा जाता है, परन्तु पूरा नहीं, क्योंकि 'स्वरूपशून्या इव' बताया है। यदि चित्त नितान्त शून्य हो जायेगा तो ग्राह्यध्येय को भी प्रकाशित नहीं कर सकेगा। तात्पर्य यह है कि जब चित्त शब्द और ज्ञान से निवृत्त होकर, और ग्रहणात्मक स्वरूप को भी विस्मृत सा करके, केवल अर्थमात्र में तदाकार हो जाये तब इसको निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। यह उत्तम समाधि है। इसे निर्विकल्प भी कहते हैं, परन्तु यह सबीज होती है। यह असम्प्रज्ञात नहीं है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार स्थूलभूत और भौतिक ग्राह्यविषयों में सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति बताकर अब अगले सूत्र में सूक्ष्म पदार्थ विषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्ति बताते हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

एतयाएव = इस सवितर्क तथा निर्वितर्क समापत्ति के निरूपण से ही सविचारा निर्विचारा च = सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्याता = निरूपित हुई समझना । भेद इतना मात्र है कि ये सूक्ष्मविषया = सूक्ष्म विषयक हैं ।

व्याख्या : सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति में चित्त के ध्यान का विषय स्थूलभूत या स्थूलभूतों से बने पदार्थ होते हैं । परन्तु सविचारा और निर्विचारा समापत्ति में ध्यान के विषय सूक्ष्मभूत होते हैं । यह तब सम्भव होता है जब एकाग्रता की प्रगाढ़ता बढ़ जाती है । सवितर्का समापत्ति में ध्येयविषय, शब्द अर्थ तथा ज्ञान से संकीर्ण, मिश्रित रहता है परन्तु निर्वितर्का में ध्येय, शब्द तथा ज्ञानरहित होकर, केवल अर्थमात्र से प्रकाशित होता है ।

सविचारा समापत्ति में सूक्ष्म विषय, मान लो पृथ्वी तत्त्व है, यह देश, काल, तथा निमित्त से संकीर्ण रहता है । देश से अधः, ऊर्ध्व, पार्श्वदि समझना, काल से वर्तमान काल जानना, निमित्त से कारण समझना । सूक्ष्म तत्त्व कहने से तन्मात्रादि से प्रकृति तक समझना, क्योंकि अगले सूत्र में सूक्ष्म-विषय का निरूपण करेंगे । जब सूक्ष्म ध्येय देश-काल-कारण सहित साक्षात् अनुभूयमान हो तब उस समापत्ति को सविचार समापत्ति कहते हैं । चित्तवृत्ति तीन धर्मों के सहित सूक्ष्म ध्येय में तदाकार होने में विशेष पुरुषार्थ करना पड़ता है अतः साक्षात्कार शुद्ध साक्षात्कार से कुछ निचले दर्जे का होता है ।

निर्विचारा समापत्ति में, यानी जब एकाग्रता का गुण (Quality) बढ़ जाता है तब देश, काल तथा निमित्त के धर्मों से निवृत्त होकर चित्त केवल अर्थ मात्र में समाहित हो जाता है । चित्तवृत्ति को हल्का सा अपना ग्रहणात्मक ज्ञान भी रहता है, परन्तु वह नगण्य सा ही होता है ॥ ४४ ॥

क्योंजी सूक्ष्म तत्त्वों की सीमा कहाँ तक है ?

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं च = और सूक्ष्म विषयों की सीमा अलिङ्गपर्यवसानम् = प्रकृति पर्यन्त है ।

व्याख्या : पृथ्वीपरमाणु का गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, यानी गन्ध-तन्मात्रा पृथ्वी का कारण है। पृथ्वीपरमाणु उसका कार्य है। कार्य से कारण सूक्ष्म होता है। जलपरमाणु का रसतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। तेजपरमाणु का रूपतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। वायुपरमाणु का स्पर्शतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। आकाशपरमाणु का शब्दतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। इन पाँचों तन्मात्राओं का अहंकार सूक्ष्म विषय है। अहंकार का महत्तत्त्व सूक्ष्म विषय है। महत्तत्त्व का नाम लिंग है। महत्तत्त्व का प्रकृति सूक्ष्म विषय है। प्रकृति का नाम अलिंग है। जो किसीमें लीन (लय) हो जाये उसे लिंग कहते हैं। प्रकृति किसीमें लीन नहीं होती, अतः उसे अलिंग कहते हैं। प्रकृति ही सूक्ष्मता की चरमसीमा है।

क्योंजी ! आत्मा तो प्रकृति से भी सूक्ष्म है, हाँ ठीक है, परन्तु कारणता की दृष्टि से नहीं, क्योंकि आत्मा अपरिणामी है। आत्मा अपने सान्निध्य से प्रकृति को चेतन-सा करता है। तब प्रकृति अपने व्यापार में तत्पर होती है। आत्मा प्रकृति का आश्रय है। आत्मा की शक्ति है। प्रकृति का कारण कोई नहीं, परन्तु आधार है। 'अव्यक्तनाम्ना परमेशशक्तिः।' अव्यक्त नाम की परमेश्वर की शक्ति प्रकृति है। सूक्ष्मदर्शी लोग माया का उसके कार्य से अनुमान करते हैं। माया का कोई भी साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है। चित्त जब प्रकृति का साक्षात्कार करने के समीप होगा, तब गुणों में परिणत हो जायगा।

निर्विचारा समापत्ति, सूक्ष्मविषया होने से, तन्मात्रा का, अहंकार का तथा अस्मिता का साक्षात्कार करने में समर्थ है। अतः आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधियों का निर्विचारा समापत्ति में अन्तर्भाव है ॥४५॥

क्योंजी ! इन चार प्रकार की समापत्तियों में क्या विशेषता है ? श्रवण करो—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ता एव = वे सबकी सब ही; सबीजः = सबीज; समाधिः = समाधि हैं। ये चारों प्रकार की समापत्तियाँ बहिर्वस्तुबीजा हैं।

व्याख्या : इन चारों समापत्तियों में सवितर्का तथा निर्वितर्का का आलम्बन स्थूल होता है, तथा सविचारा और निर्विचारा का आलम्बन सूक्ष्म-विषय होता है। इस प्रकार चार प्रकार की समाधि वर्णन की गई हैं। इन समाधियों में ध्येय स्थूल या सूक्ष्म होता है, पर वह है द्वैत दृश्यवर्ग ही। इन समाधियों से लोक में प्रसिद्धि तो हो जाती है, पर इनसे संसारबीज नष्ट नहीं होता। मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो असम्प्रज्ञात समाधि में आत्मसाक्षात्कार होने से होता है ॥ ४६ ॥

क्योंजी ! फिर इन समाधियों से होता क्या है ? यह अगले सूत्र में बताया गया है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारवैशारद्ये = निर्विचार समाधि अत्यन्त निमल होने पर (योगीको); अध्यात्मप्रसादः = अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है।

व्याख्या : निर्विचारा समाधि सभी सबीज समाधियों में सर्वोच्च है। इसमें विशारदता प्राप्त होने से अध्यात्मप्रसाद लाभ होता है। निर्विचारा की विशारदता समझनी चाहिए। रजोगुण, तमोगुण ये दोनों बुद्धि की अशुद्धियाँ हैं। इनके दूर होने से प्रकाश-स्वभाव बुद्धिसत्त्व मल और आवरण से नहीं दबता। तब उसका रूप स्वच्छ होकर स्थिरतरूप एकाग्र प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, अर्थात् शुद्धचित्त की एकाग्रताधारा। इसका नाम वैशारद्य है। जब चित्त अत्यन्त स्वच्छ होने से प्रकाशमान हो और उसकी एकाग्रता का प्रवाह स्थिर हो तब वह चित्त विशारद होता है। इसके सहारे योगी महत्तत्त्वपर्यन्त सबका एक ही काल में साक्षात्कार कर लेता है। तब योगी को अध्यात्मप्रसाद होता है। क्योंजी ! निर्विचारा समाधि तो सबीजा होती है, उसमें आत्मा का विषय कैसे होगा, क्योंकि आत्मा तो लक्षणावृत्ति से जाना जाता है, उसको साक्षात् कोई नहीं जान सकता। श्रवण करो। उसको आत्म-साक्षात्कार तो नहीं होता, परन्तु यह ज्ञान हो जाता है कि इन दृश्यप्रपञ्चों का आधार आत्मा है। आत्मज्ञानसम्बन्धी प्रसन्नता। ज्ञान के प्रकाश के उत्कर्ष से आत्मा को सर्वोपरि देखता है। स्वयं तापत्रयरहित होकर दुःखी जनों को जानता है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—

प्रज्ञाप्रासादमाख्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।

भूमिष्ठानिव शैलस्थो सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

प्रज्ञारूपी महल की अटारी पर चढ़कर शोकरहित योगी शोकग्रस्त जनों को ऐसे देखता है जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा मनुष्य पृथ्वी पर खड़े मनुष्यों को देखता है ।

रजोगुण, तमोगुण से शून्यप्राय होने पर बुद्धि में जो प्रकाशगुण का बाहुल्य है, वही अध्यात्मप्रसाद है । बुद्धि प्रधानतया आध्यात्मिक भाव है, क्योंकि बुद्धि आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होती है । यह उरु प्रकाश है । इससे योगी को किसी भी वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान-क्रमहीन या युगपत्-स्फुट-प्रज्ञालोक या साक्षात्कारजनित विज्ञानालोक होता है । अध्यात्मप्रसाद से चरम सत्यज्ञान होता है । उसमें ज्ञेय विषय के सभी धर्म एक साथ प्रकाशित होते हैं । यह प्रज्ञा श्रुतअनुमानजात प्रज्ञा नहीं है, अपितु साक्षात्कारजनित प्रज्ञा है । श्रुति और अनुमान से किसी वस्तु का सामान्यज्ञान होता है । परन्तु प्रत्यक्षज्ञान विशेष होता है । महर्षियों ने इसी प्रकार की प्रज्ञा से युक्त होकर ईश्वर से ज्ञान सीखा है, पुनः उसीको शब्दों द्वारा प्रकाशित किया है, जिसे शास्त्र कहते हैं । पतंजलि मुनि ने योगशास्त्रजाल को विस्तृत और बहुत प्रकार से कथित देखकर समाधि में योगसूत्रों का साक्षात्कार करके इनको प्रकाशित किया है । योगसूत्रों में विषय का स्वाभाविक और क्रमिक विकास है । जैसे दधि को मथने से मक्खन अलग हो जाता है ऐसे ही योगशास्त्रों के मथन से योगसूत्र पूर्ण परम सत्यरूप से पतंजलि मुनि को प्रकट हुए । तात्पर्य यह है कि निर्विचारा समापत्ति में जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह पूर्ण सत्यज्ञान होता है । उस समय योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है ॥ ४७ ॥

अब ऋतम्भरा प्रज्ञा को तीन सूत्रों में कथन करते हैं ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र=उस अध्यात्मप्रसाद के लाभ होने पर ऋतम्भरा=ऋतम्भरा (ऋत, सचाई को धारण करनेवाली) प्रज्ञा = प्रज्ञा, बुद्धि योगी को प्राप्त होती है ।

व्याख्या : निर्विचारा समापत्ति में कुशलता प्राप्त होने पर योगी को ऋतम्भरा बुद्धि उदित होती है । इस प्रज्ञा से योगी सब कुछ को यथार्थ देखते हुए प्रकृष्टतं योग (प्रकृतिपुरुषविवेक) को प्राप्त करता है । प्रत्यक्षकृत सत्य को,

अनुभवसिद्ध सत्य को जो बुद्धि धारण करती है उसे ऋत कहते हैं। कभी भी उसको भ्रान्तिज्ञान नहीं होता, अविद्यादि उसको स्पर्श नहीं करती, न उत्पन्न होती है।

इस प्रज्ञा के उत्पन्न होने से उत्तम योग का लाभ होता है, इस प्रकार वेदव्यासजी ने कहा है—

आगमानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम-वेदान्तज्ञान श्रवण; अनुमान-सुने हुए वेदान्त उपदेश पर मनन, बारम्बार विचार करना, कुतर्कों का नाश करना; ध्यान-अभ्यास-रसेन च— तथा ध्यान, विपरीतभावना का दूर करना, उस ध्यान का पुनः पुनः अनुष्ठान, तथा उसमें रस लेना, यानी सत्कारबुद्धि रखना— इससे निदिध्यासन कहा है। इन तीन साधनों से, श्रवणमनननिदिध्यास से सबीजयोगकाल में प्रज्ञा को, ब्रह्माकारवृत्ति को, उत्पादन करके, तथा उस चिन्मयी परमेश्वरतत्त्वसंबन्धिनी अमिश्रित वृत्ति से परवैराग्य द्वारा उत्तमयोग यानी निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है।

बृहदारण्यक श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है—

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो ।’ (२.४.५)

अरी मैत्रेयी ! आत्मा का दर्शन करना चाहिये। उसका यानी आत्मज्ञान का श्रवण करे, मनन करे तथा निदिध्यासन करे। ऋत में तथा सत्य में अन्तर समझ लेना चाहिये। समाधि में अनुभूत सत्य को ऋत कहते हैं। ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन करके फिर उसको शब्दों से प्रकाशित करना सत्य कहा जाता है। ऋत-ज्ञान सत्यज्ञान का आधार है। ऋत आगम और अनुमान की जननी है ॥ ४८ ॥

अगले सूत्र में आगम-अनुमानजनित ज्ञान से ऋतम्भराप्रज्ञा-जनित ज्ञान का अन्तर बताते हैं—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम् = आगम, और अनुमान के ज्ञान से इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का अन्यविषया = विषय अलग है, क्योंकि यह विषय का विशेषार्थत्वात् = विशेषरूप से साक्षात्कार करवाती है।

व्याख्या : आगमजन्य ज्ञान वस्तु के सामान्यरूप को प्रकाशित करता है, न कि विशेषरूप को । जिस वस्तु के साथ शब्दसंकेत है, उस शब्दसंकेत से वस्तु का सामान्य ज्ञान होता है, विशेष नहीं । इसी प्रकार अनुमान से भी वस्तु के सामान्यरूप का ज्ञान होता है, विशेषरूप का नहीं । अनुमान में लिंग से लिंगी का ज्ञान होता है । जहाँ लिंग की प्राप्ति नहीं, वहाँ लिंगी का ज्ञान नहीं होता, यानी वहाँ अनुमान से ज्ञान नहीं हो सकता । 'जहाँ धूम्र है, वहाँ अग्नि भी होगी ।' जहाँ धूम्र नहीं है, वहाँ अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता । केवल प्रत्यक्षप्रमाण ही वस्तु के विशेषरूप को दर्शा सकता है । इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण भी स्थूल वस्तु का ही विशेष ज्ञान करा सकता है, अतीन्द्रिय पदार्थों का नहीं । निर्विचार समाधि की विशारदता से उत्पन्न होनेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञा सूक्ष्म पदार्थों का विशेषरूप से प्रत्यक्ष ज्ञान करा सकती है । फिर अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं । ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान श्रुत और अनुमान ज्ञान का बीज है । इसलिये श्रुत अनुमान ज्ञान से अन्य विषयवाली यानी विशेष विषयवाली ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है ॥ ४९ ॥

इस प्रज्ञा का फल अगले सूत्र में बताते हैं ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तज्जः संस्कारः = उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य-संस्कारप्रतिबन्धी = अन्य व्युत्थान संस्कारों का प्रतिबन्धी (रोकनेवाला) होता है ।

व्याख्या : समाधि से पूर्वकाल में व्युत्थान संस्कार ही रहते हैं । वे असंख्यात हैं । जब हम चित्त एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, तब ही वे पूर्व के संस्कार उपद्रव खड़ा कर देते हैं । इसमें क्या कारण है ? श्रवण करो । ऋतम्भरा से उत्पन्न होनेवाले संस्कार व्युत्थान संस्कारों को यमराज के सदृश अन्तकारी दिखाई पड़ते हैं, अतः वे पूरा बल लगाकर चित्त की एकाग्रता को भंग करने में उतारू हो जाते हैं । परन्तु ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार बहुत बलवान् होते हैं और व्युत्थान संस्कारों को घराशायी कर देते हैं । इसमें दो कारण हैं । समाधिप्रज्ञा व्युत्थानप्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है । निर्मल वस्तु अनिर्मल वस्तु को अपने प्रकाश से दबा देती है । दूसरे समाधि संस्कार सर्वथा यथार्थविषयक होते हैं । व्युत्थान संस्कार पूर्ण यथार्थविषयक नहीं

होते । इसलिये व्युत्थान संस्कारों की अनन्तराशि भी समाधिप्रज्ञाजनित संस्कारों को दबा नहीं सकती, वरन् स्वयं दब जाती है ।

व्युत्थान संस्कारों के दबने से उनसे वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं । वृत्तियों के निरोध से समाधि उपस्थित होती है । समाधि से समाधि प्रज्ञा (वृत्ति); प्रज्ञा से संस्कार । इस प्रकार नये-नये संस्काराशय उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य यह है समाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से समाधिसंस्कार । क्योंजी ! समाधिसंस्कार चित्त को अधिकारविशिष्ट क्यों नहीं करते ? श्रवण करो । चित्त को दो कार्यों में अधिकार है । एक तो पुरुष को शब्दस्पर्शादि भोग देना । दूसरा विवेकख्याति उत्पन्न करके पुरुष को अपवर्ग देना । व्युत्थान के क्लेशकर्माशय संस्कारों को समाधिजन्य संस्कार नष्ट करते हैं । वे चित्त को साधिकार नहीं करते । क्लेशकर्माशय संस्कार क्लिष्ट संस्कार उत्पन्न करके चित्त को साधिकार करते हैं । चित्ताधिकार का अर्थ है चित्त की विषयों में प्रवृत्ति । समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को अधिकाररहित करते हैं, अर्थात् चित्त को विषयों में आकृष्ट नहीं करते । नारायण ऋषि के तप से भयभीत होकर इन्द्र ने रम्भा अप्सरा को ऋषि को तपभ्रष्ट करने के लिये भेजा । रम्भा के हावभावों को देखकर सर्वज्ञ मुनि हँसे । उन्होंने अपनी जंघा से एक बूंद रक्त निकालकर उर्वशी अप्सरा की रचना की और रम्भा को कहा कि यह उर्वशी इन्द्र के लिये उपहार है । उर्वशी के लावण्य को देखकर रंभा संकुचित-सी हो गयी । महर्षि के प्रज्ञाजन्य संस्कारों ने रंभा की सुचेष्टाओं को विफल कर दिया । विवेकख्याति के उदय तक ही चित्त की चेष्टाएँ हैं । विवेकख्याति चित्ताधिकार को समाप्त कर देती है । मार्कण्डेय मुनि को तप से च्युत करने के लिये जब अप्सरायें आईं तो मुनि ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया । न रंजन किया, न शाप दिया । तब वे अप्सरायें मुनि के महान् संयम की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई पलायन कर गईं । मुनि को विवेकख्याति प्राप्त हो चुकी थी ॥ ५० ॥

प्रज्ञासंस्कारों का प्रयोजन भोगाधिकार की प्रशान्ति है । क्योंजी ! इससे क्या लाभ होता है ?

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

परवैराग्य द्वारा तस्य अपि निरोधे = उस ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार के भी निरुद्ध हो जाने पर सर्वनिरोधात् = सर्ववृत्तियों के निरोध होने से निर्बीजः समाधिः = निर्बीज समाधि होती है ।

व्याख्या : समाधि से समाधिप्रज्ञा और प्रज्ञा से संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा संस्कारों से समाधि उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहेगा। कुछ अन्य भी करने के लिये बाकी रहता है। वह क्या ? सूत्र में बताते हैं। वह निर्बीज समाधि न केवल सम्प्रज्ञात समाधिप्रज्ञा की ही विरोधी है, अपितु प्रज्ञाकृत संस्कारों की भी विरोधिनी है। क्योंजी ! वैराग्य से उत्पन्न ज्ञान वृत्तिमात्र को बाँध सकता है, संस्कार को नहीं। जैसे स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्न की स्मृति तो रखता ही है। श्रवण करो। जिससे वृत्ति का निरोध हो वह निरोध, उससे उत्पन्न संस्कार अर्थात् परम वैराग्य। परम वैराग्य से उत्पन्न संस्कार से प्रज्ञासंस्कार बाधित हो जाते हैं, वैराग्य से नहीं।

क्योंजी ! निरोधजसंस्कार के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? निरोधजन-संस्कार को सिद्ध करने में प्रमाण समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि सर्ववृत्ति-निरोध होने से संस्कार स्मृति उत्पन्न नहीं कर सकते। घड़ी देखकर कि एक घड़ी, दो घड़ी, एक प्रहर तक चित्त निरुद्ध रहा है, निरोधसंस्कारों का अनुमान होता है।

परवैराग्य एक दिन में सिद्ध नहीं होता। दीर्घकाल तक, निरन्तर आदरसहित अभ्यास से परवैराग्यज संस्कार दृढ़ होते हैं। संप्रज्ञातसमाधि में ध्येय के रूप में किसी आलम्बन, बीज का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये संप्रज्ञात समाधियाँ सबीज होती हैं। असम्प्रज्ञात समाधि निर्बीज होती है, क्योंकि वह दृश्य के किसी बीज का आलम्बन नहीं लेती। वह आत्मविषया होती है।

व्युत्थान को रोकनेवाली संप्रज्ञात समाधि होती है। क्योंजी ! समाधि-प्रज्ञासंस्कारों का निरोधज संस्कारों से उन्मूलन हो सकता है, परन्तु निरोधज संस्कारों का नाश कैसे होगा ? श्रवण करो। निरोधज संस्कारों से चित्त अधिकाररहित होकर अपने कारणप्रकृति में विलीन हो जाता है। निरोध के संस्कार चित्त के अधिकार के विरोधी हैं, उसकी स्थिति के हेतु नहीं।

क्योंजी ! चित्त के लीन होने पर बाकी क्या रहता है ? वही रहता है, जिसके प्रकाश से चित्त व्यापारयुक्त था, जिसके प्रकाश से निरोधज संस्कारों ने चित्त को निरधिकार कर दिया। चित्त का व्यापार विवेकख्याति उदित करके स्वयं निर्व्यापार हो जाना है। चित्त की उछलकूद विवेकख्याति तक ही है। प्रवृत्ति का संसाराभिमुख होना ही चित्त का अधिकार है। प्रकृति

और पुरुष का भेद लखाकर चित्त उपशमित हो जाता है। तब वह चित्ति शक्ति पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठती है और पुरुष अपने स्वरूपमात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है। चित्ति, पुरुष, आत्मा, ब्रह्मा पर्यायवाची हैं।

उस पुरुष ने जो सृष्टि के आदि में संकल्प^१ किया था कि 'मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ' उस संकल्प का अब उपसंहार हो जाता है। मैत्रेय्युपनिषद् की वाणी में स्वरूपस्थिति बताते हैं—

सशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३० ॥

जिस अवस्था में सब संकल्प शान्त हो जाते हैं, जिसमें शरीर की स्थिति शिलावत् निश्चल हो जाती है, जो जाग्रत, स्वप्न, निद्रा से निर्मुक्त होती है, उसे परमश्रेष्ठ स्वरूपस्थिति कहते हैं।

उस चित्ति को माण्डूक्य श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है —

‘नान्तः-प्रज्ञं न बहिः-प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टम-व्यवहार्यम-ग्राह्यम-लक्षणम-चिन्त्यम-व्यप-
देश्यमे-कात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तमद्वैतं चतुर्थं
मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः’ ॥ ७ ॥

‘न वह अन्तर्वृत्तिवाला है, न बहिवृत्तिवाला है, न दोनों तरफ वृत्तिवाला है, वह प्रज्ञानघन नहीं है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है, वह अचिन्त्य है, अवर्णनीय है, वह एकात्मप्रत्ययसार है, उसमें प्रपञ्च का उपशम है, वह शान्त है, अद्वैत है, उसको चतुर्थ (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, इन तीन की अपेक्षा से चतुर्थ) मानते हैं, वही आत्मा है। उसको साक्षात् जानना चाहिये ।’

तब वह पुरुष शुद्ध केवल मुक्त कहा जाता है। पुरुष अविकारी अपरिणामी है, तो भी उपदेशार्थ चित्त निरुद्ध होने पर द्रष्टा (आत्मा) को शुद्ध कहा जाता है। सर्वदुःखनिवृत्ति के कारण द्रष्टा को मुक्त कहा जाता है। चित्त के उपशमन होने के कारण द्रष्टा को केवल कहा गया है। द्रष्टा सदा द्रष्टा ही रहता है। चित्तव्युत्थान से वह गौणद्रष्टा कहा गया है।

क्योंजी ! क्या निर्बीज समाधि से कोई उठता है कि नहीं ? हाँ, उठते हैं। निर्बीज समाधि लगने पर भी यदि उसका प्रारब्धकर्म शेष रहता है, तो पुरुष समाधि से उठेगा। यदि स्वयं उठता है, तो कुछ हल्का बीज अवश्य

१. ‘सोऽकामयत ॥ बहु स्याम्’—तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, ६ अनुवाक् ।

रहता है। दैत्यराज प्रह्लाद की पाँच हजार वर्ष तक समाधि लगी, तब विष्णु भगवान् ने पाँचजन्य शंख बजाकर उसकी समाधि को तोड़ा। आपको तो कल्प तक दैत्यों का राज्य करना है। अभी देहोत्सर्ग कैसे कर सकते हो ? राजा शिखिध्वज की समाधि को उनकी महायोगिनी रानी चुड़ाला ने राजा के पुर्यंष्टक में प्रवेश करके, संकल्प उदित करके, तोड़ा। जिसमें बीज ही नहीं रहेगा, ऐसी समाधि से कैसे उठना संभव है ? उद्दालक मुनि ने बहुत काल तक जीवन्मुक्ति का आनन्द लेते हुए कालयापन किया। अन्त में निर्बीज समाधि में बैठे। उनका शरीर सूख गया। वे यहीं विलीन हो गये।

प्रकृतिलय योगी अस्मिता में समाहित जो जाते हैं। उनको विवेक-ख्याति उदित नहीं होती, अतः उनका चित्त साधिकार रहता है। जिसे एक बार निर्विकल्प समाधि में आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। समाधि से उठने के पश्चात् उन्हें पुनः समाधिस्थिति-प्राप्ति में यत्न करना पड़ता है। जब पाँच-छः घण्टे समाधि का अभ्यास हो जाता है तब वे जीवन्मुक्त होकर वसुधा के मण्डनस्वरूप हो जाते हैं। ऐसे योगीजनों की संख्या सारे विश्व में हाथ की अँगुलियों से अधिक नहीं है।

क्योंजी ! चित्ति को विषय करनेवाली कौनसी वृत्ति है ? श्रवण करो। चित्ति सर्वकाल में प्राप्त है, नित्य होने से। वह शुद्ध अहंभाव सदा सर्वत्र सर्वथा अपना आपा है। वह अतीन्द्रिय विषय है। मन और वाणी वहाँ तक नहीं पहुँच पाते। वह बुद्धिग्राह्य है। बुद्धि भी कैसी हो ? शुद्धःकर्मों के मल से रहित, स्थिरःवासनाओं के उत्पातों से रहित तथा सूक्ष्मःश्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वम्पदार्थ शोधन से सूक्ष्म अर्थात् द्वैतभावों से अमिश्रित एकाग्र परम सत्त्वगुणविशिष्ट। जब इस बुद्धि को आत्मसाक्षात्कार होने को होता है तब यह आत्मा के महान् शान्त तथा कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश के तुल्य, कोटि-कोटि चन्द्रमाओं की प्रभा के सदृश शीतल अनन्तानन्ददायक आत्मतेज के सामने स्थिर नहीं रह सकती और अपनी सत्ता को विस्मृत कर देती है, जैसे नमक की डली समुद्र की गहराई मापने के लिए प्रविष्ट होते ही गलकर समुद्र बन जाती है, वैसे ही बुद्धि भी। आत्मसाक्षात्कार होने से पहले बुद्धि रहती है, साक्षात्कार के समय उसका अभाव होता है।

क्योंजी ! तब उस चित्ति को अथवा ब्रह्म को, बिना साक्षी के, कौन जान सकता है ? कोई नहीं। चित्ति ही चित्ति को जान सकती है। वह स्वयंसाक्षी है। उसका अन्य कोई साक्षी नहीं है। क्योंजी ! तब तो जीव ब्रह्म को जान ही नहीं सकता,। ऐसी बात नहीं है। अपने आपे को जानने में कोई

नियम नहीं है। जीव ब्रह्म बनकर ही ब्रह्मभाव को जान सकता है, क्योंकि जीव सदा से ही ब्रह्म है। 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्।' (कैवल्योपनिषद् २१) मेरा जाननेवाला (मेरे से भिन्न) कोई नहीं है क्योंकि मैं नित्य बोधस्वरूप हूँ। 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेताश्वतर ३.१९) यद्यपि उसके (परमेश्वर के) मन नहीं है, तब भी वह जानने योग्य सब वस्तुओं को जानता है, किन्तु उसको जाननेवाला कोई नहीं।

क्योंजी ! समाधि का अनुभव कैसा है ? समाधि-काल में पुरुष स्वयं अनुभवरूप होता है और स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहता है। समाधि भंग होने के पश्चात् वह अनुभव को स्मरण करता है। वह अपना अनुभव बताता है। क्योंजी ! समाधि में तो चित्त रहता ही नहीं, फिर स्मृति किसको बनेगी ? जिसकी पूर्ण निर्बीज समाधि नहीं होती है, या जो सभंग समाधि होती है, वहाँ चित्त के अत्यन्त सूक्ष्म संस्कार रहते हैं, परन्तु उनका भान नहीं होता। ऐसे साधक (पीछे सिद्ध) अपना अनुभव बताया करते हैं। राजा शिखिध्वज ने समाधि उपरान्त अपना अनुभव इस प्रकार बताया था। लघुयोगवासिष्ठ से उद्धृत करते हैं—

शिखिध्वज उवाच ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन महाविभवभूषिता ।

महती पववी दृष्टा सर्वस्योर्ध्वं स्थिता मया ॥ ४१० ॥

सतां विवितवेद्यानामहो बत महात्मानाम् ।

अपूर्वैकामृतमयः सङ्गः सारफलप्रदः ॥ ४११ ॥

जन्मनापि मया लब्धं यन्न नाम महामृतम् ।

तदद्य त्वत्समासंगात् तेनैवासादितं मया ॥ ४१२ ॥

अनन्तमाद्यममृतमेतत्कमललोचन ।

कथं नासादितमभूत्पूर्वमात्मपदं मया ॥ ४१३ ॥

(कुंभ के उपदेश से राजा शिखिध्वज उसी क्षण आत्मपद में स्थित हो गया। उसके नेत्र बन्द हो गये, मनोवृत्तियों का निरोध हो गया। उसकी वाणी शान्त हो गई और शिला में खोदी हुई आकृति की भाँति उसका देह स्पन्दनहीन स्थिर हो गया। तब ४८ मिनट (२ घड़ी) तक असम्प्रज्ञात समाधि में स्थिर रहकर वह जागा। उसके नेत्र हर्षातिरेक से प्रफुल्लित हुए कुम्भरूपिणी चुडाला (महाराज शिखिध्वज की महायोगिनि पट्टमहिषी)

को देखने लगे कुंभ ने पूछा—हे राजन् ! क्या आपको अत्यन्त शुद्ध अनन्त आत्मपद में महान् विश्राम मिला ? यह आत्मपद निर्विकल्प समाधिवालों के लिये कोमल निर्मल शय्या के तुल्य सुखदाई है ? आपका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो गया है न ? आपकी भ्रान्ति दूर हो गई है न ? जानने योग्य वस्तु को आपने जान लिया है न ? दर्शन योग्य तत्त्व का आपको साक्षात्कार हो गया है न ?)

शिखिध्वज बोले

“हे भगवन् ! आपकी कृपा से अणिमादि सिद्धियों से विभूषित उस महान् विश्रान्ति-स्थल का, जो समस्त उत्कर्षों की पराकाष्ठा है, मैंने साक्षात्कार कर लिया है । अहो ! शुद्ध ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न, जानने योग्य वस्तु को जाननेवाले महात्माओं का संग अपूर्व अमृतमय होता है, और सर्वोच्च मोक्षफल का देनेवाला होता है । हे स्वामिन् ! जिस महाअमृत की प्राप्ति मुझे सारे जन्म में नहीं हो सकी थी, वह आपके दुर्लभ सत्संग से अनायास ही प्राप्त हो गई है । हे कमललोचन ! जो अनन्त और अनादि यह अमृतमय आत्मानन्दानुभूति है, वह मुझे आज से पहले क्यों नहीं हुई ?”

अब आपको निर्विकल्प समाधि से उठने के उपरान्त एक शिष्य ने जो अपना अनुभव बताया, उसे मुमुक्षुओं के हित के लिये सुनाते हैं । यह विषय विवेकचूडामणि के स्वानुभव प्रकरण में श्लोक ४८० से लेकर ४८६ तक आया है । यह विवरण मुमुक्षुओं को हर्षित करेगा और उनकी साधना में उपकारी होगा ।

(गुरु के उपदेश से, श्रुति प्रमाण तथा युक्तियों से परमात्मतत्त्व को समझकर, उस शिष्य के इन्द्रियगण प्रशान्त हो गये, मन वृत्तिरहित हो गया, उसका शरीर पर्वतवत् निश्चल हो गया । वह आत्मपद में प्रतिष्ठित हो गया ।

कुछ काल के लिए (एक मुहूर्त तक) स्वचित्त को ब्रह्म में समाहित करके यानी असम्प्रज्ञात समाधि में निष्ठित होकर उस परमानन्दमयी समाधि से उठकर यह वचन बोला—)॥४८०-४८१॥

शिष्य उवाच

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति

ब्रह्मात्मनोरेकतया-धिगतया ।

इदं न जानेऽप्यनिबं न जाने

किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥ ४८२ ॥

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
 स्वानन्दामृतपूरपूरित-परब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् ।
 अम्भोराशि-विशीर्ण-वार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो
 यस्यांशाशलवे विलीनमधुना-नन्दात्मना निर्वृतम् ॥ ४८३ ॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
 अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महददभुतम् ॥ ४८४ ॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
 अखण्डानन्दपीयूष-पूर्णं ब्रह्ममहाणवे ॥ ४८५ ॥
 न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेदम्यहम् ।
 स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥ ४८६ ॥

शिष्य ने कहा

मेरी सब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होने से बुद्धि नष्टप्राय हो गई। मेरी संसाराभिमुखी प्रवृत्ति भी नष्ट हो गई। मैं इस प्रपंच को ब्रह्म से भिन्न नहीं जानता। न कोई ऐसी वस्तु जानता हूँ जो ब्रह्म से भिन्न हो। यह ब्रह्मानन्द सुख क्या है अथवा कितना गम्भीर है, यह भी मैं नहीं जानता, क्योंकि निर्विकल्प समाधि में सुख अपार है, माप-तौल का विषय नहीं है। यह सब जीव तथा ब्रह्म के एकत्व ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण का महान् फल है ॥ ४८२ ॥

इस स्वानन्दरूप अमृत-प्रवाह से परिपूर्ण परब्रह्मसागर के वैभव को (उसके सामर्थ्य, महिमा को) वाणी वर्णन करने में असमर्थ है। न मन से उसके वैभव का चिन्तन सम्भव है। जैसे वर्षा के साथ ओला (बरफ के टुकड़े) समुद्र में पड़कर अपनी श्वेतता और कठोरता खोकर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही मेरा मन भी ब्रह्मानन्द के अंश के भाग में ही डूब गया (सर्ववृत्तिनिरोध हो गया) और इसलिए अब मैं स्वानन्द में निवास करता हुआ सुखी हूँ ॥ ४८३ ॥

यह विशाल जगत्, जिसको समाधि से पहले मैंने देखा था वह समाधिकाल में कहाँ चला गया? उसका किसने अपहरण किया? क्या यह महान् आश्चर्य नहीं है कि वह विशाल जगत् सूर्य-चन्द्रमा-सागर-भूमि-पर्वतादि तथा जीवसमुदाय से युक्त कहाँ समा गया? ॥ ४८४ ॥

इस अखण्ड आनन्दामृत से भरे हुए ब्रह्ममहासागर में कौन वस्तु त्याज्य है, कौन ग्रहणयोग्य है, कौन वस्तु अनात्मा है, तथा कौन विलक्षण है। समाधि में मुझे ब्रह्म में भेद दिखाई नहीं पड़ा ॥ ४८५ ॥

समाधिकाल में ब्रह्म से अन्यत् मुझे कुछ नहीं दिखाई दिया, न कुछ सुनाई पड़ा, न मैंने ब्रह्म से अन्यत् कुछ जाना। मैं ही स्व-स्वरूप में, जो कि शुद्ध आनन्दमात्र है, प्रतिष्ठित हूँ ॥ ४८६ ॥

अब समाधि से उठकर अर्जुन ने जो अपना अनुभव बताया है, वह भी श्रवण करो। सारा गीताज्ञान सुनाकर आचार्यधर्म के अनुसार श्रीभगवान् ने अर्जुन से पूछा। भगवान् ने दो प्रश्न पूछे—क्या मेरा यह वचन तुमने एकाग्रचित्त से श्रवण किया ? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न सम्मोह प्रनष्ट हुआ ? श्रीभगवान् से गीताज्ञान श्रवण कर अर्जुन का मोह नष्ट हो गया। उसका भ्रमित मन स्थिर हो गया। उसकी इन्द्रियों को शोषण करने-वाला शोक शमित हो गया। उसका शरीर और मस्तक फूल की भाँति हल्के हो गये। ज्ञान के महाप्रकाश से उसका अहंकार गलित हो गया। वह महानन्दसागर में तल्लीन हो गया। एक घड़ी के लिये उसको निर्विकल्प समाधि लग गई, जिसमें उसको परम विश्रान्ति मिली। अर्जुन ने समाधि से उत्थित होकर कहा—

अजुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे मेरे मौलिक स्वरूप की स्मृति हो गई है कि 'मैं ही स्वयं ब्रह्म हूँ'। इसलिये अब मैं संशय-रहित हुआ स्वस्वरूप में स्थित हूँ। अब मैं आपका वचन पालन करूँगा कि मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी लोकसंग्रह के लिए युद्ध करूँगा। (उसका युद्ध-कर्म भी अकर्म ही था ।)

क्योंजी ! निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि की विधि क्या है ? श्रवण करो। शंकरभगवत्पाद ने जो विधि विवेकचूड़ामणि में बताई है, उसीका अवतरण करते हैं—

लक्ष्ये ब्रह्माणि मानसं दृढतरं, संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।

ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ॥ ३७९ ॥

ब्रह्मलक्ष्य में चित्त को दृढ़ता से स्थिर करके, शरीर की स्थिति की ओर ध्यान न देकर उसको निश्चल करो। बाह्येन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में

स्थिर करो। अखण्डब्रह्माकार वृत्ति से जीव तथा ब्रह्म के एकत्वभाव में तन्मय होकर अपने भीतर अन्तःकरण में ही आनन्दपूर्वक ब्रह्मानन्द रस का अर्हानिष पान करो। अनात्म सारहीन भ्रांतियों से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं सिद्ध होता। उस लक्ष्य का स्वरूप भी बताते हैं—

एषः स्वयंज्योति-रशेषसाक्षी

विज्ञानकोषे विलसत्यजन्म ।

लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षणं

अखण्डवृत्त्यात्मतया-नुभावय ॥ ३८१ ॥

यह ब्रह्म स्वयंप्रकाश सर्व का साक्षी है। यह विज्ञानमयकोष में निरन्तर प्रकाशमान है। इस ब्रह्म को अपना लक्ष्य बनाकर इसीका अखण्डवृत्ति से निजरूप से अनुभव करो। (यही मेरा स्वरूप है। यही मैं हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ।)

अब साधकों के लिए राजा शिखिध्वज और महायोगिनी उनकी रानी चुडाला (जो कि कुम्भनामक नारदपुत्र के रूप में थी) के पुण्य सम्वाद का उद्धरण करते हैं।^१ शिखिध्वज बोले—भगवन् ! आपके कथनानुसार मूर्ख जीव के लिए ही चित्त है, ज्ञानी के लिए नहीं; किन्तु प्रभो ! यदि आत्मज्ञानी के लिए चित्त है ही नहीं तो ये आप-जैसे जीवन्मुक्त महात्मा मन से रहित होकर जगत् में कैसे आचरण करते हैं ?

कुम्भ ने कहा—तत्त्वज्ञ ! आप जैसा कह रहे हैं, यह ठीक वैसा ही है; इसमें थोड़ा सा भी अन्तर नहीं है। जैसे पत्थर में अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तों का चित्त व्यापारशून्य हो जाता है; क्योंकि पुनर्जन्म लेने में सहायक जो घनीभूत वासना होती है, वही चित्त शब्द से कही जाती है और वह आत्मज्ञानी में नहीं रहती। आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष जिस वासना द्वारा सांसारिक कर्मों का व्यवहार करते हैं, उसे आप 'सत्त्व' नामवाली

शिखिध्वज उवाच

१. प्रबुद्धस्य न तज्ज्ञस्य चित्तं नाम किल प्रभो ।

जीवन्मुक्तास्तदेते हि विहरन्ति कथं वद ॥ (६.९.४१९ योगवासिष्ठ)

^२कुम्भ उवाच

पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।

सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥ ६.९.४२० ॥

यया वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।

तां त्वं सत्त्वाभिर्वा विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् ॥ ६.९.४२१ ॥

समक्षिये । वह वासना पुनर्जन्म से रहित होती है । जो सत्त्व में स्थित हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ सम्यक् प्रकार से वश में हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महात्मा आसक्ति-रहित होकर विचरते हैं, परन्तु चित्तस्थ पुरुष वैसा नहीं कर सकते । राजन् ! अज्ञान से आच्छादित चित्त को 'चित्त' कहते हैं और महाबुद्धिमान् ज्ञानी लोग 'सत्त्व' में स्थित रहते हैं ।

साधकों का उपकारी एक अन्य राम-वसिष्ठ सम्वाद भी लिखा जाता है । रानी चुडाला ने अपने स्वामी महीपति शिखिध्वज को निर्विकल्प समाधि में स्थित देखा । तब उसने उसे समाधि से जगाने का यत्न किया । उसने सिंह-रूप से भयावह सिंहनाद किया, परन्तु राजा न जागा । तब कुम्भरूपिणी चुडाला ने चिन्तन किया कि मेरा यह भगवान् आत्मपद में उपरत हो गया है । पहले मैं यह जान्ती हूँ कि इसमें प्राण हैं कि नहीं ।† यदि इसके हृदय के भीतर सत्त्वशेष जो कि बोध का बीज होता है, नहीं है तो मैं भी इस अंगना-देह को त्यागकर परमपद में मिल जाती हूँ । चुडाला ने अपने पति के शरीर को करस्पर्श से तथा नयन से परीक्षण किया । शरीर के मर्मस्थलों को प्राण-संचार सूचना के लिए स्पर्श किया । नयनों से अगलित तथा रक्करेखायुक्त गोलकों को देखा और निर्णय किया कि राजा अभी जीवित हैं—

अस्त्येव सत्त्वशेषो हृदि संबोधकारणम् ।

संबोधहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत ॥ (६.९.४५५ यो० वा०)

जीवन के कारण राजा के हृदय में सत्त्वशेष बाकी है, इसलिए उसने सत्त्वशेष को जगाया । इस पर श्रीरामजी ने प्रश्न किया ।

श्रीराम उवाच

भूशं प्रशान्तचित्तस्य काष्ठल्लोष्टसमस्थितेः ।

सत्त्वशेषं कथं ब्रह्मञ्जायते ध्यानशालिनः ॥ (६.९.४५६ यो० वा०)

हे ब्रह्मन् ! जिनका चित्त अत्यन्त शान्त हो गया है और समाधि में जिनके शरीर की स्थिति काष्ठ और लोष्ट जैसी हो गई है, ऐसे ध्यानशाली पुरुष के सत्त्वशेष का ज्ञान कैसे होता है ?

(वसिष्ठजी ने जो उत्तर दिया है वह योगरहस्यपूर्ण है । साधकों को सावधानी से पढ़ना चाहिए ।)

† मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।

अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्था सुमहाविधः ॥ (लघुयोगवासिष्ठ)

६.९.४२२

वसिष्ठ उवाच

प्रबोधकारणं ज्ञस्य दुर्लक्ष्याणुवपुहृदि ।

विद्यते सत्त्वशेषोऽन्तर्बीजे पुष्पफलं यथा ॥ (६.९.४५७)

चित्तस्पन्दनमुक्तस्य तस्याचलसमस्थितेः ।

कायः समसमाभोगो न ग्लायति न हृष्यति ॥ (६.९.४५८)

नास्तमेति न चोदेति सममेवावतिष्ठते । (६.९.४५८ ३) ल० यो० वा०

वसिष्ठजी ने उत्तर दिया—वत्स राम ! जैसे बीज में पुष्प और फल दुर्लक्ष्य सूक्ष्मरूप से वर्तमान रहते हैं, वैसे ही समाधि-पुरुष के हृदय में प्रबोध का कारण सत्त्वशेष (वासनारहित अन्तःकरण) दुर्दर्श सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है ।† (जैसे समानरूप से बहनेवाले जलप्रवाह में तरंगों की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही जिस ध्यानीपुरुष की अन्तःकरण की गति सम हो गई है उसमें रागद्वेषादि दोषों का उद्भव नहीं होता। श्री राम ! जिस शरीर में न तो चित्त विद्यमान है और न ही सत्त्व ही, वह शरीर पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है, जैसे गर्मी में बरफ गलकर जलरूप में परिणत हो जाती है। राजा शिखिध्वज का वह शरीर यद्यपि चित्तशून्य था तथापि उसमें पर्याप्त गरमी वर्तमान थी और वह सत्त्वशेष से संयुक्त था। इसी कारण अभी पंचत्व को प्राप्त नहीं हुआ था।) जो चित्त के स्पन्दन से मुक्त हो गया है, और निश्चल समाधि में स्थित हो गया है, उसकी काया समता के आनन्द के भोग के कारण न गलित होती है और न प्रफुल्लित। वह न अस्त होती है और न उदित होती है। वह केवल समता से स्थिर रहता है।

योगसूत्र अल्पाक्षर और शुष्क हैं, परन्तु पूर्ण हैं। उनको सरस बनाने के लिए योगवासिष्ठ तथा अन्य ग्रन्थों से पुरुषार्थ करके प्रमाण उद्धरण दिये हैं। इनसे सूत्रों में अनुक्त बातों का साधक को ज्ञान हो जायगा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर

महाबेवान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी

ओंकाराश्रमजी महाराज बंडी के शिष्य तथा हरियाणा-निवासी

ब्रह्मकुलभूषण पण्डितप्रवर हेमराज शर्मा एवं महायश

मोहरली देवी के सुपुत्र पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए०

‘गुरुभक्तस्तन’ ‘अभिनव जनक’ द्वारा

पातञ्जलयोगसूत्र समाधिपाद पर

ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका समाप्ता ॥ १ ॥

† यह भाग बृहद् योगवासिष्ठ का संक्षेप है। लघुयोगवासिष्ठ में केवल २॥ श्लोक हैं जो ऊपर दिये गये हैं।

साधनपाद २

अब योगदर्शन का द्वितीय साधनपाद आरम्भ होता है। केवल्य का साधन सम्यग्दर्शन है। योगमार्ग से योग के साधन भी सम्यग्दर्शन के ही साधन हैं। उन साधनों को प्रधानरूप से इस पाद में प्रतिपादित किया गया है। इसलिए यह साधनपाद कहा जाता है। प्रथम पाद समाहितचित्तवालों के लिए कहा गया है। समाहितचित्त उसे कहते हैं जिनका चित्त कर्म से लिपायमान न हो। वे मैत्री करुणा मुदितादि साधनों से चित्त की निर्मलता प्राप्त कर लेते हैं। फिर उनके लिए परवैराग्य से विरामप्रत्यय साधनवाली निर्बीज समाधि कही गयी है।

क्योंकी ! पहले पाद में योग के उपाय, अवान्तर भेद और फल बता दिए हैं। अब कौन सी दूसरी वस्तु बची है जिसके लिए द्वितीयपाद आरम्भ किया जाता है ? श्रवण करो। प्रथम पाद में अभ्यास और वैराग्य योग के दो उपाय बताये हैं, परन्तु जो व्युत्थितचित्त हैं उनके लिये ब्रह्मविचार वैराग्यादि संभव नहीं। व्युत्थितचित्त उसे कहते हैं जो योग में प्रवेश करता है, परन्तु जिसे विषयों में रस आता है, जिसका चित्त रागद्वेषादि से कलुषित है। उसके विक्षिप्त चित्त को शुद्ध करने के लिए द्वितीयपाद का उपदेश हुआ है। इस पाद में उपदिष्ट उपायों से युक्त होकर व्युत्थित चित्त भी योगी हो सकता है। जो योगमार्ग में प्रथम बार प्रवेश करता है, उसे युञ्जान योगी कहते हैं। अब सूत्रकार क्रियायोग का उपदेश करते हैं। जहाँ क्रिया ही योग है वह क्रिया-योग। यहाँ चित्तवृत्ति निरोध को योग नहीं कहा है, बल्कि क्रिया को ही (गौण) योग कहा है। प्रथम पाद में समाधि को योग कहा है।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—
ये तीनों; क्रियायोगः = क्रियायोग हैं।

व्याख्या : क्रियायोग के तीन अंग हैं। प्रथम-तप। ब्रह्मचर्य, सत्य, मौन धर्मों का अनुष्ठान करना, द्वन्द्वसहन, मिताहारादिक तप कहे जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में शरीर^१ वाणी तथा मन के तप बताये हैं। देव, द्विज, गुरु, विद्वान् का पूजन, बाहर-भीतर की पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—ये आठ शरीर के तप हैं। अनुद्वेगी, सत्य, प्रिय, हितकारी वाणी तथा स्वाध्याय का अभ्यास—ये वाणी के तप हैं। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-निग्रह तथा भावों की शुद्धि—ये मन के तप हैं। योगसाधकों के लिए चान्द्रायण आदि व्रत वर्जित हैं। इनमें सात्त्विक तप ही श्रेयस्कर हैं। अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकाल से हम कर्म करते आये हैं, क्लेश भी सहते आये हैं। दुर्वासना अनन्त हैं, और वे विषयभोग से अधिक बढ़ती हैं। इनसे जनित अशुद्धि से मन रेंगा हुआ है। यह अशुद्धि तपस्या के बिना छीदी, विरल नहीं हो सकती। अतः क्रियायोग में तप का उल्लेख पहले किया गया है। चित्त-प्रसादकर विघ्नरहित तप ही योगियों द्वारा सेवनीय है।

क्रियायोग का दूसरा अंग स्वाध्याय कहा जाता है। प्रणवमन्त्र-जप, गायत्री-जप, पुरुषसूक्तपठन, गीतापाठादि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है। साधकों को तर्क, व्याकरण, काव्यादि नहीं पढ़ने चाहियें, क्योंकि इनसे चित्त चंचल होता है, और संसार में सत्यत्वबुद्धि दृढ़ होती है। साधकों को विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। यदि विवाद हो जाए तो चुप हो जायें अथवा वहाँ से चल दें। योगसाधक को अपनी बुद्धि अतीन्द्रिय प्रदेश में पहुँचानी है। विवाद में क्या मिलेगा—चित्तविक्षेप और वाणी की थकान।

क्रियायोग का तीसरा अंग ईश्वरप्रणिधान कहा गया है। ईश्वर में अतिशय-श्रद्धा भक्ति रखना तथा फल की इच्छा से रहित होकर अपने शुभा-शुभ कर्मों को परमगुरु ईश्वर में समर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। पिछले पाद में बताया था कि ईश्वरप्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ तथा समाधिफल मिलता है। (देखो सूत्र १.२३) 'स्वकर्मणा तमस्यचर्यं सिद्धिं विन्दति मानवः।' (गीता १८.४६) उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों से उपासना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १ ॥

क्योंजी ! क्रियायोग का फल क्या है ?

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधिभावनार्थः = (यह क्रियायोग) समाधि की सिद्धि करनेवाला, च = और, क्लेशतनूकरणार्थः = अविद्यादि क्लेशों को पतला करनेवाला है।

१. १७ अध्याय के १४, १५, १६ श्लोक।

व्याख्या : क्रियायोग का महान् फल है। भगवान् वेदव्यास के अनुसार 'वह क्रियायोग दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक आसेवित होने पर समाधि-अवस्था को उत्पन्न करता है। क्लेशों को पतला, दुर्बल, छोटा करता है। क्रियायोग का काम क्लेशों को केवल पतला करना है, नष्ट करना नहीं। प्रसंख्यान यानी ब्रह्मविवेक उन तनुकृत क्लेशों को अनुत्पादक बना देता है, दग्धबीज की भाँति।'।

क्योंजी ! जब विवेकमात्र ही क्लेशों को अजनक बना सकता है, तो क्लेशों के तनुकरण की क्या आवश्यकता है ? श्रवण करो। अतनु क्लेश विवेक के प्रबल विरोधी हैं। इनके पतले पड़े बिना विवेकख्याति उठने का साहस ही नहीं कर सकती। क्लेशसमूह क्षीण होने पर नाश के योग्य होते हैं। सम्यक् क्षीण हुए क्लेश प्रसंख्यान या विवेक के द्वारा उत्पादक शक्ति से विहीन कर दिये जाते हैं। दग्धबीज जैसे अंकुरित नहीं हो सकते, वैसे ही प्रसंख्यान द्वारा दग्ध क्लेश चित्त में नहीं उठते। अभ्यास वैराग्य उदित होकर सत्त्व (प्रकृति) और पुरुष (चित्ति) की भिन्नता का ज्ञान करा देते हैं। तब सूक्ष्म प्रज्ञा यानी साक्षात्कार-रूपिणी प्रज्ञा क्रम से चरम असम्प्रज्ञात समाधि चित्त का प्रलय करने में समर्थ होती है। इस प्रकार क्रियायोग मोक्षज्ञानादि तक ले जानेवाला होने से ज्ञान-का ही अंग है, परन्तु मोक्ष का साक्षात् हेतु नहीं है। क्योंजी ! 'तपः स्वाध्याये-श्वरप्रणिधानानि' की तो नियमों में आगे सूत्र (२.३२) में गणना की गई है, यहाँ किस प्रयोजन से कहा है ? यदि आप कहें कि इससे व्युत्थित चित्तवाला भी योगी बन सकता है, तो यह प्रयोजन तो पाँच नियमों से भी सिद्ध हो सकता है। 'शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' (२.३२) यदि आप कहें कि इसका प्रयोजन क्लेशों को पतला करना है, तो यह प्रयोजन तो योग के अंगों के अनुष्ठान से भी सिद्ध होता है। 'योगाङ्गानुष्ठानावशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति-राविवेकख्यातिः।' (२.२८) योग के अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होता है। अशुद्धि का अर्थ है क्लेशादि। अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है। यदि आप कहें कि समाधि-भावनार्थ इसका प्रयोजन है, तो यह तो इसी पाद के सूत्र 'समाधित्तिद्विरी-श्वरप्रणिधानात्।' (२.४५) से भी पूरा हो जाता है। श्रवण करो। साधक की श्रेणीभेद से क्रियायोग बताया है। ये साधन मध्यम साधकों के लिए हैं। यमनियमादि अष्टांगयोग साधन मंद साधकों के लिए मुनिवर ने बताये हैं ॥ २ ॥

क्योंजी ! क्लेश किसे कहते हैं, तथा वे कितने प्रकार के हैं ?

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः क्लेशः ॥ ३ ॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (ये पाँचों), क्लेशः = क्लेश हैं ।

व्याख्या : इन पाँचों क्लेशों में प्रत्येक का लक्षण आगे एक-एक सूत्र में दिया गया है । इसलिए इनका व्याख्यान का प्रयत्न नहीं किया गया है । जैसे प्रमाणविपर्ययविकल्पादि वृत्तियाँ परस्पर भिन्न हैं, इस प्रकार क्लेशों का विपर्यय से भेद नहीं है, अपितु ये पाँचों क्लेश विपर्यय के ही भेद हैं । क्लेश वृत्ति नहीं होते । क्लेश तो चित्त के मल होते हैं, जैसे अस्थि के मल नाखून । चित्त को क्लेश देने से इन्हें क्लेश कहते हैं ।

पाँचों क्लेश विपर्यय हैं अर्थात् संसार के हेतु हैं । इनके चार व्यापार सुतो । १. वे व्यापारयुक्त होने पर गुणों के अधिकारों को दृढ़ करते हैं, बलवान् करते हैं । क्लेश का स्यन्दन, अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियों के उत्पन्न होते रहने से आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता । 'मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।' (गीता ७.१३) इन तीनों गुणों के प्रभाव से मोहित पुरुष मुझ अविनाशी परमेश्वर को, जो कि गुणों से ऊपर है, नहीं जानता । वे गुणों के प्रभुत्व को जीव पर दृढ़ करते हैं । २. गुणों के परिणामों को स्थिर करते हैं, अर्थात् परिणाम चक्र चालू रहता है । ३. अव्यक्त से महत् अहंकारादि के कारणकार्य प्रवाह परम्परा को प्रवर्तित रखते हैं । ये क्लेश ऐसा क्यों करते हैं ? इसलिए कि जीवों को कर्म-फल—जन्म, आयु, भोग—मिलते रहें । क्योंजी ! क्या प्रत्येक क्लेश स्वतंत्र होकर ऐसा करता है ? नहीं । परस्पर अनुग्रह, सहयोग से यानी कर्मों से क्लेश, क्लेशों से कर्म । एक-दूसरे के सहयोग से क्लेशों की स्थिरता बनी रहती है, जिसके कारण कर्मविपाक परम्परा का निर्वाह होता रहता है ॥ ३ ॥

अविद्या सब क्लेशों के मूल में है ।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् = जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार— (इस प्रकार चार) अवस्थाओं में (वर्तमान) रहनेवाले हैं एवं, उत्तरेषाम् = जिनका वर्णन (तीसरे सूत्र में) अविद्या के बाद, किया गया है, उन (अस्मितादि चारों क्लेशों) का, क्षेत्रम् = कारण, अविद्या = अविद्या है ।

व्याख्या : अस्मितादि चारों क्लेशों की ही प्रसुप्ततनु आदि चार अवस्थायें होती हैं, अविद्या की नहीं, क्योंकि यह सबका कारण है। अस्मितादि में अनुगत होने से अविद्या सदा ही प्रबुद्ध रहती है, प्रसुप्त नहीं। यदि अविद्या प्रसुप्त हो जाय तो क्लेशों की उत्पत्ति ही न हो।

प्रसुप्तावस्था : चित्त में शक्तिस्वरूप से अवस्थित क्लेशों की जो बीजभाव-प्राप्ति है, वह क्लेश की प्रसुप्तावस्था है। उन अस्मितादि क्लेशों का जागना, अभिव्यक्तावस्था में आना प्रबोध कहा जाता है। जो सम्यग्दर्शी योगी हैं उनके क्लेशबीज ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। वे सम्मुख होने पर भी योगी में अंकुरित या प्रबुद्ध नहीं होते। बीज के अग्नि में भुनने पर वह कैसे अंकुरित हो सकता है ? ऐसे योगियों का वह चरम देह कहा जाता है। इस देहपात के पश्चात् उनका जन्म नहीं होता। इस प्रकार के योगियों की ही दग्धबीज पंचमी क्लेशावस्था है। चूँकि ऐसा योगी अविद्या-क्षेत्र से ऊँचा उठ जाता है, इसलिये अस्मितादि क्लेशावस्थाओं में इसकी गणना करना उचित नहीं।

अब क्लेशों की तनु अवस्था कही जाती है। क्रियायोग के अभ्यास से या क्लेशों की विपरीतभावना के अभ्यास से क्लेश तनु, पतले, दुर्बल हो जाते हैं। अब क्लेशों की विच्छिन्नावस्था श्रवण करो। जो समय-समय पर विच्छिन्न (दबे हुए) होकर पुनः उसी रूप में वृत्तिलाभ करते हैं, वे विच्छिन्न क्लेश कहे जाते हैं। जैसे राग की उदार अवस्था के समय द्वेष दब जाता है। द्वेष की उदार अवस्था में राग क्लेश दबा रहता है, परन्तु निमित्त पाकर फिर उदार हो जाता है। जो क्लेश लब्धवृत्ति होता है यानी अपना काम पूर्ण वेग से करता हो ऐसे क्लेश की उदार अवस्था होती है। ये क्लेश हेय हैं। अतः क्रियायोग से इनको क्षीण करना चाहिये। अविद्या के नाश से सब क्लेशों का नाश हो जाता है। ब्रह्माविद्या ही अविद्यानाश में पटु है ॥ ४ ॥

अब अविद्या के लक्षण बताते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु = अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में,
नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः = नित्य पवित्र, सुख और आत्मभाव का ज्ञान,
अविद्या = 'अविद्या' है।

व्याख्या : अविद्या नामवाली परमेश्वर की एक महान् शक्ति है। इसके दो अस्त्र हैं। एक का नाम आवरण और दूसरे का नाम विक्षेप। आवरण आत्मस्वरूप को ढँक देता है। तब आत्मस्वरूप का भान नहीं होता। मोह के कारण संसार, जीव, ईश्वर आत्मा से भिन्न सत्यवत् भासित होते हैं। विक्षेप के कारण जीव में चंचलता और अशान्ति होती है। सूत्रकार ने अविद्या को चतुष्पदा बताया है। यह अविद्या ही क्लेशसंतान, सविपाक कर्माशय की जननी है। अनित्य वस्तु जैसे पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादिकों में नित्यता का ज्ञान होना अविद्या है। अशुचि अपवित्र वस्तु में जैसे हाड़-मांस-रक्त-मल-मूत्र से पूर्ण देह में पवित्रता की ख्याति अविद्या है। क्षण-क्षण में जिस शरीर के ३३ कोटि छिद्र मलस्राव करते हैं, उस देह में कैसी पवित्रता ! दुःख में सुख की भ्रान्ति उत्पन्न होना अविद्या है। आगे सूत्र (२.१५) में कहेंगे कि परिणाम, ताप, संस्कार दुःखों के कारण तथा गुणवृत्तियों में परस्पर विरोध होने से विवेकी पुरुष की दृष्टि में सभी (सुख भी) दुःखकर होते हैं। इस प्रकार दुःख में सुख का ज्ञान कराना अविद्या है। देहेन्द्रियमनप्राणरूप अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि होना अविद्या है। अविद्या न तो प्रमाण है और न प्रमाण का अभाव। विद्या से विपरीत ज्ञानान्तर ही अविद्या है।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं,
तद्वानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तस्मादविधौ पटीयसी,
न कर्म तज्जं सविरोधमोरितम् ॥ (रामगीता ९)

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही इस संसार का मूलकारण अज्ञान (अविद्या) ही है। मेरे उपदेश में अज्ञाननाश की विधि बताई है। केवल ब्रह्माविद्या ही अविद्या के नाश करने में कुशल है, कर्म नहीं, क्योंकि कर्म अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण अविद्या का विरोधी नहीं है ॥ ५ ॥

अविद्या बताकर अब उसके कार्य अस्मिता को बताते हैं।

दूरदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दूरदर्शनशक्त्योः = दृक्शक्ति यानी पुरुष और दर्शनशक्ति यानी बुद्धि का, एकात्मता इव = एकरूप-सा होना अस्मिता = अस्मिता कही जाती है।

व्याख्या : पुरुष दृक्शक्ति है अर्थात् देखनेवाली शक्ति है। बुद्धि (विचार करनेवाली शक्ति) दर्शन अर्थात् जिसके माध्यम से देखा जाय वह शक्ति है। जब ये दोनों मिलकर एक जैसे हो जाते हैं, तब उसे अस्मिता कहते हैं। इसीको चिज्जड ग्रंथि कहते हैं। यद्यपि ये दोनों पुरुष और बुद्धि वास्तव में भिन्न हैं परन्तु अविद्या के प्रभाव से एकत्व-सा प्राप्त कर लेते हैं। पुरुष असंग है। असंग कभी लिपायमान नहीं होता। पुरुष सदा विशुद्ध, चिद्रूप, साक्षी, अनासक्त है। बुद्धि उसके विपरीत जड़, परप्रकाश्य, साक्ष्यभाव है। बुद्धि परिणामी है। पुरुष सदा एकरस अविकारी है। उनमें एकात्मता सम्भव नहीं, बिना अविद्या के संयोग के। यहीं से सृष्टिक्रम आरम्भ होता है। अहंकार का समष्टिभाव अस्मिता है। यहाँ अस्मिता 'अस्मि अस्मि' कहकर अपनी पृथक् सत्ता दर्शाती है। परन्तु 'मैं क्या हूँ?' यह व्यक्त नहीं है। अस्मिता से जब अहंकार उदित होता है तब स्पष्टता आती है, 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ। मेरा अमुक कर्तव्य है' इत्यादि भेद जागृत हो जाते हैं। पुरुष से प्रतिबिम्बित या प्रकाशित प्रकृति को अस्मिता कहते हैं। पुरुष और प्रकृति के भेदज्ञान का नाम विवेकख्याति है या आत्मा-अनात्मा विवेक है। इस अस्मिता क्लेश के कारण इस देहसंचात में आत्मबुद्धि है। देह को उपयोगी वस्तुओं में ममत्व है। इस जीव को सुख पहुँचानेवाली वस्तुओं में राग, प्रीति है ॥ ६ ॥

अब राग का लक्षण बताते हैं—

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखानुशयी = सुख का अनुसरण करनेवाले चित्त की तृष्णा, लोभ
रागः = राग क्लेश होता है।

व्याख्या : जिस सुख को जीव ने पहले भोगा है, उसके अनुस्मरण से उसे प्राप्त करने की चित्त की तृष्णा या लोभ राग कहा जाता है। जो जिस भोग से अनभिज्ञ है, उस भोग में जीव का राग नहीं होता है। राग क्लेश है, क्योंकि यह जीव को विषयों में बाँध देता है। यह हेय है ॥ ७ ॥

अब द्वेष का लक्षण बताते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःख-अनुशयी = दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा, क्रोध की वासना चित्त में रहती है, उसे द्वेषः = द्वेष क्लेश कहते हैं ।

व्याख्या : जिससे हमें दुःख मिलता है, उसे तुरन्त त्याग देते हैं । दुःख का अनुभव करनेवाले प्राणियों के दुःख की अनुस्मृति से दुःख में या दुःख के साधनों में जो प्रतिघात करने की इच्छा या क्रोध है, वही द्वेष है । यह हेय है ॥ ८ ॥

अब अभिनिवेश का स्वरूप बताते हैं ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

स्वरसवाही = जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं; विदुषः अपि तथारूढः = जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरणभयरूप क्लेश); अभिनिवेशः = अभिनिवेश कहा जाता है ।

व्याख्या : स्वरसवाही—जीते जी किसी को मरणत्रास का अनुभव नहीं हो सकता । मरने पर उस त्रास को बताने कौन आयेगा ? अतः पूर्वजन्मों में जो मरणदुःख का अनुभव है, वह संस्काररूप से चित्त में बैठ जाता है, अतः यह मरणभय क्लेश जन्तुमात्र को सताता है । इससे यह सिद्ध होता है कि पुनर्जन्म होता है । अपने संस्कारों के बशीभूत होकर यह मृत्युभय क्लेश प्रवाहित रहता है । इसीलिये प्रत्येक प्राणी की यह नित्य इच्छा रहती है कि 'मा न भूवं भूयासम्' मेरा अभाव न हो, मैं जीवित रहूँ । जिसने पहले कभी मरणत्रास का अनुभव नहीं किया है, उसकी ऐसी अभिलाषा नहीं हो सकती । मरणभय से पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख का अनुमान होता है । भयरूप से त्रास देने के कारण यह क्लेश है ॥ ९ ॥

क्योंजी ! इन कष्ट देनेवाले क्लेशों का नाश कैसे हो ? इसका उपाय दो सूत्रों में बताते हैं ।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते सूक्ष्माः = ये सूक्ष्म क्लेश प्रतिप्रसवहेयाः = अर्थात् चित्तलय से हेय यानी त्याज्य हैं ।

व्याख्या : प्रतिप्रसव—प्रसव, जन्म, उत्पत्ति को कहते हैं । प्रतिप्रसव का अर्थ है उत्पत्ति, जन्म का विरोधी अर्थात् लय, नाश । जब तक चित्त रहेगा तब तक क्लेश रहेंगे । ज्ञानवान् के चित्त में ये क्लेश दग्धबीजवत् वर्तमान रहते हैं, अर्थात् वे अंकुरित होने में असमर्थ होते हैं । सूक्ष्म क्लेश जो प्रसंख्यान प्रज्ञा यानी सम्प्रज्ञात समाधि से दग्धबीज जैसे हो चुके हैं, वे असम्प्रज्ञात समाधि में कृतकृत्य चित्त के स्वकारण में लय होने पर चित्त के साथ ही निवृत्त हो जाते हैं । अन्य कोई उपाय नहीं है ।

क्योंजी ! ये क्लेश सूक्ष्म कैसे होते हैं ? तपस्यादि क्रियायोग से 'क्लेश-तनुकरणार्थश्च ।' (सूत्र २.२) असम्प्रज्ञात समाधि से चित्त का अरूपनाश होता है । इसलिए ये हेय क्लेश मारने योग्य हैं । धर्मी के नाश से धर्मनाश होता है । इस न्याय से चित्तनाश से संस्कारों का भी नाश होता है । क्लेश चित्तवृत्तियाँ नहीं होते, वे वृत्तियों के संस्कार हैं । संस्कारसमूह का नाम ही चित्त है ॥ १० ॥

क्योंजी ! जो क्लेश तनु तो हो गये हैं, परन्तु जो निमित्त पाकर फिर भी अंकुरित हो सकते हैं, उन्हें किस उपाय से उपद्रवहीन किया जाय ?

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तद्वृत्तयः = क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ यानी उनकी उदार अवस्था
ध्यानहेयाः = ध्यान से त्यागने योग्य हैं ।

व्याख्या : क्रियायोग से यानी तप-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधान से जो क्लेश तनु, दुबले तो कर दिये गये हैं, परन्तु जो निमित्त पाकर पुनः उदारावस्था में उभर सकते हैं, ऐसे क्लेश प्रसंख्यान ध्यान से मार देने चाहिए । जब तक वे तनुकृत क्लेश सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से दग्धबीजवत् न हो जायें तब तक ध्यानाभ्यास करते रहना चाहिए । प्रसंख्यान (सम्प्रज्ञात समाधि) ही ज्ञान का उत्कर्ष है । स्थूल क्लेशवृत्तियाँ योगी के हलके शत्रु हैं, परन्तु सूक्ष्म क्लेशवृत्तियाँ महाशत्रु हैं । तात्पर्य यह है कि क्रियायोग द्वारा तनुभाव, प्रसं-

ख्यान द्वारा दग्धबीजभाव तथा असम्प्रज्ञात द्वारा प्रणाश-क्लेशहानि के ये तीन सोपान हैं ॥ ११ ॥

क्योंजी ! क्लेशों के कारण क्या हैं और क्लेशों को किस जन्म में भोगा जाता है ?

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयः = कर्माशय का कारण क्लेश है। **दृष्ट-अदृष्ट-जन्म वेदनीयः** = ये क्लेश वर्तमान जन्म में और आगे आनेवाले जन्मों में भोगे जाते हैं।

व्याख्या : कर्मों के संस्कारों के समुदाय को कर्माशय कहते हैं। आशय नाम ढेर का है जैसे जलाशय—तालाब। जो कर्म हम करते हैं या जो भाव चित्त में उदित होते हैं, वे कर्म या भाव समाप्त होने पर चित्त में अपने अनुरूप छाप छोड़ जाते हैं। उन्हें संस्कार कहते हैं। ये संस्कार चित्तभूमि में संचित रहते हैं और अनुकूल स्थिति उपलब्ध होने पर क्रियारूप से प्रकट होकर सुख-दुःख देकर चले जाते हैं। कर्माशय का मूल अविद्या अस्मितादि क्लेश हैं। जीवन्मुक्त ज्ञानवान् महात्माओं को, जिनके क्लेशसंस्कार दग्ध हो गये हैं, अगले जन्म में भोगने योग्य कर्माशय नहीं होता, क्योंकि वर्तमान जन्म ही उनका चरम जन्म होता है। ज्ञानाग्नि से जिनके संचित कर्म जल गये हैं, उनके देहधारण निमित्त प्रारब्ध कर्म रहते हैं। संचित कर्म जल जाते हैं। प्रारब्ध कर्म अवश्य ही फलदान देकर समाप्त होते हैं। मूढ़ों की दृष्टि में ज्ञानवान् का प्रारब्ध रहता है, ज्ञानवान् की दृष्टि में केवल ब्रह्मात्मन्, दर्शनीय भोगनीय रहता है। धर्म और अधर्मरूप संस्कारों का समूह ही कर्माशय होता है।

जिस प्रकार के कर्मफल मिलनेवाले होते हैं, उस काल में उसी प्रकार की वासना भी उदित हो जाती है। शुभाशुभ कर्मों से उन्हींके अनुकूल फल भोगने के लिए जो बीजरूप संस्कार चित्त में पड़ते हैं, उन्हींको वासना कहते हैं ॥ १२ ॥

क्योंजी ! कर्माशयों का क्या फल होता है ?

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

सति मूले = यदि अविद्या क्लेश जो कि सब क्लेशों का मूल है रहेगा, (अन्यथा नहीं) तद् विपाकः = तो उस कर्माशय के तीन फल होते हैं जाति-आयुः भोगाः = जन्म, आयु तथा सुखदुःखरूप भोग ।

व्याख्या : यदि वृक्ष का मूल उच्छेदित हो जाय, तो वृक्ष अपने स्कन्ध टहने, शाखा, पत्ते, फूल तथा फलसहित ढह जायगा । यदि मूल सुरक्षित रहे तो वृक्ष भी बना रहेगा । ज्ञान द्वारा जिनकी अविद्या नष्ट हो गई है उनके कर्माशय भी दग्धबीज के समान, फलोदय में असमर्थ हो जायेंगे । इसीलिये विवेकशील पुरुषों को अविद्यानाश के लिए ही भरसक प्रयत्न करना चाहिए । अविद्यामूल कटे बिना यह संसार-चक्र चलता ही रहेगा । वृक्ष से बीज बनता है । बीज से फिर भावी वृक्ष की उत्पत्ति होती है । सूत्रकार कहते हैं कि कारण के विद्यमान रहने से उसका फल भी अवश्यमेव होगा । यह फल पहले जाति के रूप में प्रकाशित होता है । जाति जन्म को कहते हैं । कोई लोग मनुष्य-जन्म लेंगे, कोई देवयोनि में और कोई पशु-योनि में जन्म लेंगे । दूसरे यह कर्माशय आयु को भी नियमित करता है । भोग वर्तमान जन्म में भी होता है तथा आगामी जन्मों में भी होता है । यदि अविद्यादि क्लेश न रहें तो कर्माशय का भी मूल कट जायगा ।

ये कर्माशय दो प्रकार के होते हैं । एक पुण्यकर्माशय, दूसरा पाप-कर्माशय । पापकर्माशय की कामक्रोधलोभमोहादि रजोगुण के घोरधर्मों से उत्पत्ति होती है । उन कर्माशयों में जो पुण्यकर्माशय हैं वह, तीव्र लग्न के साथ किये हुए मंत्र, तप, समाधि से अथवा ईश्वर, देवता वा महानुभाव (तत्त्वज्ञ महात्मा, अथवा तपस्वी) की आराधना सेवा से, शीघ्र ही विपाक यानी पककर फल दे देता है । सुदामा अत्यन्त दरिद्रावस्था में अपने मित्र भगवान् कृष्ण के पास गये । सुदामा वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे और उनकी अयाचना-वृत्ति थी अर्थात् किसीसे माँगते नहीं थे । भगवान् कृष्ण द्रवित हुए और सुदामा के पुण्यकर्माशय को टटोला, उसमें दानपुण्य का संस्कार बहुत कमजोर था तब भगवान् ने मन में कहा—‘अरे, अदाता को मैं कैसे दूँ ?’ तब सुदामा के बगल के नीचे जो एक फटे कपड़े में चक्रा की पोटली थी, भगवान् ने उसे देखा और छीन लिया और चक्रा खाने लगे और बोले—यशोदा माता ऐसा स्वादिष्ट चक्रा दिया करती । अब तो मिलता ही नहीं । नारायण विश्वम्भर ने डकार ली । उनके तृप्त होने से सारा विश्व तृप्त हो गया और

सुदामा को विश्व-यज्ञ का पुण्य-फल मिला। भगवान् ने उस पुण्य के बदले सुदामा को टूटी कुटिया के स्थान में धनवैभव से युक्त द्वारका जैसी सुदामापुरी बना दी। सुदामा को निज में कुछ नहीं दिया, क्योंकि वह अयाचित व्रतवाला था। भगवान् की कृपा से दानपुण्य संस्कार वर्धित होकर फलवान् हुआ।

उसी प्रकार तीव्र अविद्यादि क्लेश से, डरे हुए को, व्याधि से पीड़ित को, दीन, शरणागत, विश्वास करनेवाले या ज्ञानी, तपस्वी को सताने से, उनका पुनः पुनः अपकार करने से वह पापकर्माश्रय भी शीघ्र ही फलदायी हो उठता है। भक्त प्रह्लाद को बार-बार मारने के घोर यत्न करने से हिरण्यकशिपु के पापकर्माश्रय शीघ्र ही पककर नृसिंह भगवान् के रूप में प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु को मृत्युदंड दिया। नरक में जानेवाले दुष्कर्मियों को वर्तमान जन्म में दंडभोग नहीं भोगना पड़ता, अपितु नरक में जाकर उनके पापकर्माश्रय फलभोग देते हैं।

एक जन्म में भोगने योग्य निश्चित कर्माश्रय में जितने कर्मसमूह हैं, उनके भोगने में कितना समय लगेगा, उसीके अनुसार आयु निश्चित होती है। कोई सौ वर्ष, कोई पचास वर्ष जीवनधारण रखता है। यह आयु की विभिन्नता भी पूर्व कर्म द्वारा नियमित होती है। आदिगुरु शंकरभगवत्पाद ३२ वर्ष की छोटी आयु में कितना बड़ा कार्य—ब्रह्मविद्या का उद्धार, भ्रान्त मतों का खण्डन, ज्ञान, उपासना, योग आदि प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना, उनकी रक्षा के लिए चारों दिशाओं में शंकराचार्य मठों की स्थापना करके चले गये। भगवान् वेदव्यास चिरजीवी (कल्पजीवी) हैं। उनकी गणना कारक पुरुषों में है। नारायण की इच्छा से सृष्टिरक्षण, ज्ञानरक्षण में लगे रहते हैं। पूर्वकृत पुण्यकर्मों का फल सुख है, पूर्वकृत पापकर्मों का फल दुःख है। किसीके पीछे सुख फिरते हैं, किसीके पीछे दुःख। कर्मों का तीसरा फल सुख-दुःख-भोग हैं।

भगवान् वेदव्यास ने इस सूत्र का विस्तृत भाष्य किया है। उसका तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से कर्मों के संस्कार संचित चले आते हैं। वे संस्कार भी अनन्त हैं। जिन कर्माश्रयों के संस्कार मृत्यु के समय चित्त में प्रबलरूप से उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रधान कहते हैं। जो कर्मसंस्कार क्षिथिल-रूप से रहते हैं, उन्हें उपसर्जन, गौण सहायक कहते हैं। मृत्यु के समय प्रधान कर्माश्रय पूरे वेग से जाग उठते हैं, और अपने जैसे उपसर्जन संस्कारों को भी अपने में सम्मिलित कर लेते हैं। अनन्त संस्कारों से भरे हुए कर्माश्रय में से केवल प्रधान संस्कारपुंज ही जन्म, यानी देव, मनुष्य,

पशु-योनि में देह धारण करवाते हैं। इन प्रधान संस्कारों के आधार पर ईश्वर जन्म भी निश्चित करता है तथा देह का स्थितिकाल, यानी आयु भी निश्चित करता है। जितने काल में वे संस्कार भोगफल देकर निवृत्त हो सकें, उतनी ही आयु होती है। इस प्रधान कर्माशय से जन्म, आयु तथा भोग नियत होते हैं। इन्हें प्रारब्धकर्म कहते हैं। उपसर्जन कर्माशय को संचित-कर्म कहते हैं। संचितकर्म अगले जन्म के लिए प्रारब्धकर्म बन जाते हैं। उपसर्जन कर्माशय का फल नियत नहीं होता है। अतः उसके कर्मफलों को अनियत विपाक कहते हैं। सूत्र बारह में उनको अदृष्टजन्मवेदनीय कहा है। क्योंकि ! उपसर्जन कर्माशय या संचितकर्मों को अनियत विपाक क्यों कहा है ? इसलिये कहा है कि उनके फल अभी निश्चित नहीं हुए हैं। ब्रह्मज्ञान उदय होने पर संचित कर्म या उपसर्जन कर्माशय समूल नष्ट हो जाता है। पंचदशीकार कहते हैं—

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।

अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ (१.५९)

इस अनादिकाल से प्रवाहित संसार में प्राणियों के कोटि-कोटि संचितकर्मों का समूह यानी असंख्यात पुण्यापुण्यलक्षण संचित कर्म विद्यमान रहते हैं। (विवेकख्याति) समाधि के अभ्यास से संचितकर्म नष्ट हो जाते हैं। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।' (मुं० २.२.८) ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर उसके (साधक के) सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। 'ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।' (गीता ४.३७) ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। अविद्यानिवर्तक साक्षात्कार करानेवाले शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है।

अपरोक्षात्म-विज्ञानं शाब्दं देशिक-पूर्वकम् ।

संसार-कारणाज्ञान-तमसश्चण्डभास्करः ॥ (१.६४ पंचदशी)

आत्मा का अपरोक्ष (साक्षात्) विज्ञान, अर्थात् संशयविपर्ययरहित जो ज्ञान है, जो गुरुमुख से प्राप्त हुआ है, वह संसार के कारण अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने के लिए मध्याह्न-काल के प्रचंड सूर्य के समान है। अतः आत्मज्ञान संचित कर्मों को नष्ट कर देता है, जिससे भावो जन्म नहीं होता। जन्म के बिना न आयु को और न कर्मविपाक को ही अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। प्रारब्ध पुण्यकर्म से संचित दुष्कर्म क्षीण होते हैं। क्योंकि ! क्या वे संचित दुष्कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं ? नहीं। वे प्रबल पुण्यकर्मफल को दुर्बल

करके नष्ट होते हैं। या वे उपसर्जन कर्माशय उपयुक्त अवसर पाने तक दबे पड़े रहते हैं, नष्ट नहीं होते। वे लाख वर्ष बीतने पर भी नष्ट नहीं होते, यदि उनका मूल (अविद्या) रहे तो।

क्योंजी ! क्या प्रधान कर्माशय बिना फल दिये नष्ट हो सकता है ? ज्ञानियों की दृष्टि में प्रारब्धकर्म अटल है। पंचदशीकार का वाक्य लिखते हैं—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।

तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ॥ (७.१५६)

यदि प्रारब्ध (अवश्यंभावि दुःख) के परिहार का कोई उपाय होता तो सब प्रकार से समर्थ राजा नल, राजा राम तथा राजा युधिष्ठिर दुःखों से पीड़ित न होते। गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य ! बलादिव नियोजितः ॥ (३.३६)

अर्जुन ने पूछा—हे नारायण ! यह पुरुष, किससे प्रेरित होकर, न चाहता हुआ भी, पापाचरण करता है, मानो कि वह पुरुष किसीसे बलपूर्वक पाप में जोड़ दिया हो। श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि सर्वानर्थबीज रजोगुण-समुद्भूत कामरूप अनिच्छा प्रारब्ध ही इसमें कारण है। कोई भी प्रारब्ध कर्म के परिहार में समर्थ नहीं है।

भक्तिदृष्टि में प्रारब्ध कर्म टाला जा सकता है। भगवान् के गीतावाक्य इसमें प्रमाण हैं—‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान्तथैव भजाम्यहम् ॥’ (४.११) जो भक्त जिस आशय को लेकर मेरी शरण में आते हैं, वैसा ही मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ। मान लो, किसीका प्रारब्ध ऐसा है कि उसकी छाती में भाले का प्रहार होगा। भक्त नारायण की शरण पकड़ता है। तब नारायण के अनुग्रह से प्रहार के समय फौलाद की मोटी प्लेट भक्त की छाती के सामने लग जायगी और भक्त की रक्षा हो जायगी। मार्कण्डेय मुनि की आयु सोलह वर्ष की नियत थी। उसने भगवान् शंकर का तीव्र संलग्नता से भजन किया। भोले भंडारी ने मार्कण्डेय मुनि की आयु सोलह वर्ष पर स्थिर कर दी अर्थात् वह सदा १६ वर्ष के ही रहेंगे। कभी भी वह सोलह वर्ष को पार न करेंगे। मार्कण्डेय मुनि चिरजीवी हैं ॥ १३ ॥

पुण्य पाप के अनुसार ही जाति, आयु और भोग सुख-दुःख-फल देने-वाले होते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते = वे (जन्म, आयु और भोग); ह्लादपरितापफलाः = हर्ष और शोकरूप फल को देनेवाले होते हैं; पुण्यापुण्यहेतुत्वात् = क्योंकि उनके पुण्यकर्म और पापकर्म क्रमशः कारण हैं ।

व्याख्या : ह्लाद सुख को कहते हैं । परिताप दुःख को कहते हैं । पुण्य को कुशल कर्म तथा अपुण्य को, यानी अकुशल कर्म को पाप कहते हैं । पुण्यकर्मों से आरब्ध जाति-आयु-भोग सुखफल देते हैं । अपुण्यकर्मों से आरब्ध जाति-आयु-भोग दुःखफल देते हैं । क्योंकि ! तब तो अपुण्यारब्ध जाति-आयु-भोग ही हेय हैं । सुखफल देनेवाले जाति-आयु-भोग हेय नहीं होने चाहियें । ऐसी बात नहीं है । जैसे दुःख में बन्धक शक्ति है, वैसे ही सुख भी संसार में बाँधनेवाला है । लौकिक पुरुषों को दृष्टि में सुखफला कर्माशय वाञ्छनीय हैं, दुःखफला नहीं । परन्तु जो विवेकशाल योगी हैं, उनके लिये विषय, सुखकाल में भी, दुःख हो हैं, क्योंकि लक्ष्यभ्रष्ट करने से वे प्रतिकूल ही हैं । योग में सुखात्मक और दुःखात्मक सभी वृत्तियों को निरोध करने योग्य बताया है । ज्ञानवानों को, चित्तनाश के कारण, सुखदुःखादि क्लेश बाधा नहीं देते ॥ १४ ॥

क्योंजी ! योगी के लिये विषयसुख भी दुःख क्यों है ? सूत्रकार बताते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव
सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखः = परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख से तथा गुणवृत्तिविरोधात् च = गुणों की वृत्तियों के विरोध से दुःखमेव सर्वं सब सुख भी दुःख ही है, विवेकिनः = विवेकवान् योगी के लिये ।

व्याख्या : परिणाम-दुःख—सभी विषयसुखों का परिणाम दुःख होता है । अठारहवें अध्याय में भी श्री भगवान् ने कहा है ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ (१८.३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, और भोगकाल में अमृत के सदृश भासता हो, परन्तु परिणाम में विष के सदृश हो, वह सुख राजस कहा जाता है । प्राणियों के उपघात किये बिना उपभोग कभी संभव

नहीं हो सकता। यह विषयसुख अविद्या नाम से कहा गया है। तृष्णाक्षय होने पर भोग्यविषयों में इन्द्रियों की जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है, वही सुख है। इन्द्रियों की विषयलोलुपता या भोगतृष्णा के कारण जो अनुपशान्ति है, वही दुःख है। भोगाभ्यास से विषयों में तृष्णा और इन्द्रियों की कुशलता बढ़ जाती है। भोग परमार्थ सुख नहीं दे सकता।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥

विषयों की कामना, विषयों के उपभोग से, कभी शान्त नहीं होती, बल्कि और अधिक बढ़ती है। जैसे अग्नि में आहुति डालने से अग्नि बुझती नहीं, अपितु बढ़ती ही है, उसी प्रकार। सारे संसार की स्त्रियाँ तथा धन एक आदमी की तृप्ति के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिये विचारवान् योगी के लिये विषय-सुख परिणाम-दुःख से युक्त रहता है।

अब ताप-दुःख बताते हैं। विषय-सुख की प्राप्ति में तथा सुखसाधनों में जो राग होता है वह राग क्लेश है। सुख और सुखसाधनों की प्राप्ति में जो बाधाएँ आती हैं, उनसे जो द्वेष होता है वह द्वेष क्लेश है। सुख तथा सुखसाधनों के नाश होने के भय से क्लेश होता है। ये सब क्लेश ताप हैं। विवेकशील योगी इन पर दृष्टि रखता है, और सब सुखों को इसलिये दुःख ही मानता है। भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

कलत्र-मित्र-पुत्रार्थ-गृह-क्षेत्र-धनादिकैः ।

क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम् ॥

रे मनुष्यो ! नारी, मित्र, पुत्र, अर्थ, घर, खेत, धनादिक मनुष्यों को उतना सुख नहीं देते जितना दुःख देते हैं। किसीने एक उदास पक्षी से पूछा, 'अरे पक्षी ! तू अपने आशयाने में भी सुख से बैठा हुआ दुःखी क्यों है ?' पक्षी बोला, 'हे मित्र ! मैंने एक-एक तिनका चुगकर बड़े पुरुषार्थ से यह आशयाना (घोंसला) सुखार्थ बनाया था, पर अब मैं देखता हूँ कि मेरा आशयाना ही मेरा पिंजरा बन गया है। यह ताप-दुःख का उदाहरण है।

संस्कार-दुःख—सुख के अनुभव से सुख का संस्कार बनता है। दुःखानुभव से दुःख का संस्कार बनता है। इन संस्कारों से सुख का या दुःख का विपाक होता है। सुख-दुःख-फलानुभव से पुनः कर्माशय का संचय होता है। इस प्रकार यह अनादि विस्तृत दुःखस्रोत प्रतिकूलता से योगी को ही क्लेश देता है, क्योंकि उसका चित्त बहुत कोमल होता है। उसे अल्प दुःख भी खटकता है। यद्यपि संस्कार के स्वरूप से दुःखता नहीं है, तो भी संस्कार

दुःख का हेतु है। इस प्रकार जाननेवाले योगी को परिणामतापसंस्कार-दुःखकारणों से सर्व ही यानी सुख भी दुःख ही है। अन्यो को यानी विवेकहीनों को नहीं, क्योंकि वे अविद्या में डूबे रहते हैं। योगीजन अपने-आपको और अन्य जनों को इस अनादि दुःखस्रोत में बहते हुए देखकर समस्त दुःखक्षय के लिये सम्यग्दर्शन की शरण लेते हैं। 'नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्त्यतृष्णासमं सुखम्।' तृष्णा के समान कोई दुःख नहीं है। अतृष्णा (तृष्णारहितता) के समान कोई सुख नहीं है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षय-सुखस्येते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसार में कामसुख बहुत बड़ा है और स्वर्ग में दिव्यसुख और भी महान् है, तो भी तृष्णाक्षय से जो सुख होता है, उस सुख के सामने कामसुख और दिव्यसुख सोलहवीं कला के समान भी नहीं हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखों का प्रतिपादन करने का प्रयोजन वैराग्यजनन करना है, क्योंकि 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' (१.१५) सूत्र में ऐसा ही वैराग्यलक्षण दिया है। सब विषयों में दुःख न देखनेवालों के लिये वैराग्य की कल्पना भी नहीं हो सकती। सभी महापुरुषों ने स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये विषयों का त्याग किया है। योगी याज्ञवल्क्य, महात्मा बुद्ध, राजा भर्तृहरि, विद्यारण्यमुनि आदि उदाहरण हैं। 'इन्द्रियों को विषयों से हटाये बिना तथा अध्यात्म-विचार से सम्पन्न हुए बिना' मोक्ष सम्भव नहीं है।

गुणवृत्तियों के विरोध से दुःख। इसका प्रयोजन पर-वैराग्यजनन करने में है। इसीलिये इस सूत्र के दो भाग हैं। पहला भाग 'परिणामताप संस्कार-दुःखैः' इससे वैराग्यकथन किया है, तथा दूसरा भाग 'गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' इससे परवैराग्य कथन किया है। सुखदुःखमोहरूपा सत्त्वरजतमगुणों की वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध देखी जाती हैं। सत्त्वगुण का स्वभाव सुख और प्रकाश, रजोगुण का स्वभाव दुःख, चंचलता क्रिया तथा तमोगुण का स्वभाव मोह, स्थिरता, जड़ता आदि एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, तो भी ये तीनों मिल-जुलकर ही कार्य करते हैं। जब एक गुण अपना प्रभाव प्रकट करता है तो दूसरे दोनों दब जाते हैं। न भूलोक में और न स्वर्ग में ऐसा कोई व्यक्ति या पदार्थ है जो कि इन तीनों गुणों से शून्य हो। सत्त्वगुण का स्वभाव ज्ञान और सुख है। ज्ञानसुखकाल में भी रजोगुण दबा रहता है। उसका

अभाव नहीं होता। गुण परिणामशील हैं। सुख के पश्चात् दुःख, फिर मोह आते-जाते रहते हैं। ईश्वर में भी तीनों गुण हैं। सत्त्वगुण की उत्कृष्ट अवस्था में बाकी दोनों गुण दबे रहते हैं। इसलिये माया को शुद्धसत्त्वगुणप्रधाना कहा है और अविद्या को मलिनसत्त्वगुणप्रधाना कहा है। शिशुपालवध में भगवान् कृष्ण में क्षणिक रजोगुणाभास का प्राकट्य हुआ था, परन्तु भीतर से शान्त और अच्युत हैं। गुणों का स्वभाव चंचल है। चित्त भी त्रिगुणात्मक होने से क्षिप्रपरिणामी है। विवेकी के लिये सभी दुःखमय होते हैं।

इस विपुल दुःखराशि का कारण अविद्या है। इस अविद्या के नाश का कारण है सम्यग्दर्शन या ब्रह्मात्मैक्य का अहंरूप से अनुभव।

अब योगशास्त्र की तुलना चिकित्साशास्त्र से करते हैं। चिकित्सा-शास्त्र के चार व्यूह हैं, यानी चार संक्षिप्त अवयव-रचना है, यथा १. रोग, २. रोग का हेतु, ३. आरोग्यता, ४. आरोग्य का साधन औषधि—ये चार चिकित्सा-शास्त्र के व्यूह हैं। वैसे ही योगशास्त्र के भी चार व्यूह हैं, यथा १. संसार, २. संसार-हेतु, ३. मोक्ष, ४. मोक्ष-हेतु। दुःखबहुल संसार हेतु है यानी त्यागने योग्य है (सूत्र १६ में)। २. अविद्यामूलक प्रधान-पुरुषसंयोग इस हेतु संसार का कारण है (सूत्र १७ में)। ३. मोक्ष का स्वरूप—इस संयोग की आत्यंतिकी निवृत्ति ही मोक्ष है (सूत्र २५ में)। ४. संयोग की आत्यंतिकी निवृत्ति का उपाय सम्यग्दर्शन है (सूत्र २६ में)। योगशास्त्र के ये ही चारों व्यूह हैं।

यह चतुरंग व्यूह संसार-सम्बन्ध में है। इस विश्व का अधिष्ठान, प्रकाशक, इससे असंपृष्ट चेतन आत्मा न हेतु है, न उपादेय है। यह अज, अमृत, शाश्वत, पुराण, नित्य, एकरस है। यह अपरिणामी तत्त्व है। इसको जानना है, साक्षात्कार करना है, तथा यही होना (बनना) भी है। यही आत्मा तुम सदा से हो और रहोगे। यही सम्यग्दर्शन, स्वरूपप्रतिष्ठा, मोक्ष, कैवल्य है ॥ १५ ॥

अब इस चतुर्व्यूह का नया प्रकरण आरम्भ होता है। अब त्यागने योग्य प्रथम व्यूह बताते हैं।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अनागतम् = जो आया नहीं है—आनेवाला है वह; दुःखम् = दुःख; हेयम् = हेतु (नष्ट करने योग्य) है।

व्याख्या : इन चतुर्व्यूहों में प्रथम व्यूह जो कि त्यागने योग्य है, बताते हैं। पिछले जन्म का दुःख बीत गया है। वह हेय पक्ष में नहीं आता। वर्तमान जन्म का जो दुःख है, वह भोगारूढ़ है। वह भोग से स्वयं ही हीन हो जायगा। वह भी हेयपक्ष में नहीं आता। इसलिये जो अनागत दुःख है, मृत्यु के पश्चात् भावी जन्म में आनेवाला दुःख है, वह ही कोमल-चित्त योगी को क्लेश देता है, वह हेय है। सम्यग्दर्शन से हटाने योग्य है। इसलिये भविष्यजन्म के अभाव के लिये यत्न करना चाहिये। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। वर्तमान जन्म पूर्वजन्मकृत प्रारब्ध-कर्मों से बना है। प्रारब्धकर्म भोग देकर ही क्षीण होंगे। उनको मिटाने का किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। प्रारब्धकर्म ईश्वरीय संकल्प है। इसलिये भावी जन्म देनेवाले लिंगदेह का नाश करना चाहिए। उसका उपाय केवल ब्रह्मविद्या है ॥ १६ ॥

प्रथम व्यूह प्रतिपादित हो चुका है। अब दूसरा व्यूह कहा जाता है। यानी उस दुःख का कारण बताया जाता है। यह रोगहेतु स्थानीय व्यूह है।

द्रष्टृदृश्योः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टृ-दृश्योः = द्रष्टा (परमात्मा, चित्ति, ब्रह्मा, आत्मा) का तथा दृश्य (प्रकृति) का संयोगः = संयोग हेयहेतुः = दुःख का कारण है।

व्याख्या : इस सूत्र में दुःख के कारण का अनुसंधान है। योग का यह दूसरा व्यूह है। चेतन तथा अचेतन का अन्योन्याध्यास, एक-दूसरे के धर्मों का आपस में आरोपण ही सृष्टि की जड़ है। यही चिज्जड़ ग्रन्थि है। यद्यपि यह मिथ्या है, परन्तु बड़ी कठिनाई से टूटती है। असंग आत्मा का, बिना अज्ञान के, किसी प्रकार भी प्रकृति से संयोग नहीं हो सकता। प्रकृति जड़ है। प्रकृति क्या है ? शंकर भगवत्पाद के वचन सुनो—

देहेन्द्रिय-प्राण-मनोऽहमादयः,

सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।

व्योमादिभूतान्याखिलं च विद्व-

मव्यक्तपर्यन्तामिव ह्यनात्मा ॥ १२४ ॥ (विवेकचूडामणि)

देह, दश इन्द्रिय, पंच प्राण, मत्त-अहंकारादि अन्तःकरणचतुष्टय, सुखदुःख-

मोहसंकल्पादि सारे विकार, शब्दस्पर्शादि पंच विषय, आकाश-वायु-अग्नि-जल-भू पाँच महाभूत, सारा विश्व, अधिक क्या कहें, मायापर्यन्त सब अनात्मा है।

भ्रान्ति विना त्वसंगस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः।

न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥ १९७ ॥

(विवेकचूड़ामणि)

असंग, निष्क्रिय और निराकार आत्मा का, भ्रम के बिना, अन्य किसी प्रकार भी बुद्धि से संबंध नहीं हो सकता। जैसे भ्रान्ति के कारण वर्णरहित आकाश को मूढ़ जन नीला कहते हैं। वायु के व्यवधान से आकाश में वर्ण भासता है। बुद्धि उपाधि के संबंध से आत्मा में जो जीवभाव कल्पित किया गया है और जो आत्मा से भिन्न भासता है, वह आत्मा के स्वरूप से वास्तव में भिन्न नहीं है। अपने आत्मा का बुद्धि के साथ संबंध मिथ्या अज्ञानमूलक है। 'विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ॥ २०३ ॥ (वि० चू०)' इसकी निवृत्ति सम्यक् ज्ञान से ही हो सकती है। अन्य किसी प्रकार भी नहीं।

इस पुरुष और बुद्धि के संयोग से समस्त सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। पुरुष स्वतः शुद्ध स्वरूप है। जब वह प्रकृति में प्रतिबिम्बित होता है, तभी वह सुखदुःख का अनुभव करता है। यद्यपि यह दुःख अनादिकाल से हैं तो भी यह ब्रह्मविद्या से सान्त किया जा सकता है। वह चेतन आत्मा स्वयं ही जीव, ईश्वर, जगत्, भोग, भोक्ता बनता है और लीला करता है। वह एक ही काल में विश्व भी है और विश्वोत्तोर्ण भी है। दृश्य प्रपंच या प्रकृति का काम पुरुष को भोग और अपवर्ग देना है। अतः यह भोग और अपवर्ग देने में स्वतंत्र होती हुई भी पुरुष के अधीन होने से परतन्त्र है। आत्मा जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो प्रकृति को खटर-पटर भी उपशमित हो जाती है ॥ १७ ॥

योग का दूसरा व्यूह प्रतिपादित हो चुका है। अब आरोग्यस्थानीय तीसरे योगव्यूह, मोक्ष का स्वरूप बताना है। उसकी भूमिका ७ सूत्रों में बाँधकर २.२५ सूत्र में मोक्षस्वरूप बतायेंगे।

अब दृश्य का स्वरूप बताते हैं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलम् = प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति जिसका स्वभाव है, भूतेन्द्रियात्मकम् = भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप है, तथा पुरुष (जीव) को भोग-अपवर्गार्थम् = भोग और मोक्ष देना जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

व्याख्या : पहले दृश्य का स्वभाव बताते हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है। रजोगुण क्रियाशील है। तमोगुण स्थितिशील है। समस्त दृश्यप्रपञ्च सत्त्वादि त्रिगुण का परिणाम है। इसलिए दृश्यवर्ग भी प्रकाश-क्रिया-स्थितिरूप स्वभाव-वाला है। किसी भी दृश्य में प्रकाशरूपता सत्त्वगुण के कारण है। स्पन्दन, क्रिया, प्रवृत्ति, चंचलता रजोगुण के कारण है। स्थिति, कुछ नियमित काल के लिए एकरूप में स्थिति तमोगुण के कारण है।

यह सारा दृश्य गुणों का ही खेल है। साम्यावस्था को प्राप्त हुए गुण प्रकृति कही जाती है। विषमावस्था में ये मिल-जुलकर काम करते हैं, तथा अंग-अंगीभाव से रहते हैं। जब सात्त्विक पदार्थ उत्पन्न होता है तो सत्त्वगुण अंग (मुख्य) होता है। रजोगुण तमोगुण अङ्गभाव (सहायक, गौणभाव) से रहते हैं। जब रजोगुणी पदार्थ उत्पन्न होता है तो रजोगुण अङ्गी और तमोगुण सत्त्वगुण अङ्ग होते हैं। इसी तरह तमोगुणी पदार्थ में भी समझना। अंग-अंगीभाव से कार्य करते हुए भी प्रत्येक गुण की शक्ति भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुण रहते हैं। अकेले शुद्धसत्त्वगुण से कोई पदार्थ नहीं बनता। न अकेले रजोगुण से या तमोगुण से कोई पदार्थ बन सकता है।

अब दृश्य का स्वरूप सुनो। भूत और इन्द्रियाँ दृश्य का स्वरूप है। दशभूत पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश। स्थूलभूत का अर्थ पंचीकृतभूत है। सूक्ष्म यानी अपंचीकृत भूत व्यवहारयोग्य नहीं होते। गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द—ये पाँच सूक्ष्मभूत या अपंचीकृतभूत अथवा पाँच तन्मात्रा कहे जाते हैं। दश इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, घ्राण-रसना-चक्षु-त्वक् तथा श्रोत्र। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, वाक्-पाणि-पाद-उपस्थ (लिंग)-गुदा इन्द्रियाँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार अन्तःकरण यानी भीतर की इन्द्रियाँ हैं। इनका विषयों से साक्षात् सम्पर्क नहीं होता। ये इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को ग्रहण करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये तीनों गुण ही भूत और इन्द्रियों के रूप में परिणत होते हैं।

अब दृश्य का प्रयोजन सुनो। भूत और इन्द्रियरूप से प्रकृति का परिणाम दृश्य निष्प्रयोजन नहीं है। इसका प्रयोजन पुरुष यानी जीव को भोग अपवर्ग देना है। मूढ़ों को भोग देकर प्रसन्न रखता है, नचाता है और रलाता है। जब उसके पुण्य उदय होते हैं तब वह सद्गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मज्ञान सीखता है। ब्रह्मज्ञान से सम्यग्दर्शन होता है। इसीका नाम अपवर्ग है।

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥ २०४ ॥ वि० चू०

ब्रह्म और जीव की एकता का विज्ञान यानी प्रत्यक्ष अनुभव ही सम्यक्-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान है। ऐसा श्रुतिभगवती का मत है। पुरुष को भोग और अपवर्ग देकर प्रकृति कृतार्थ हो जाती है। जीव को केवल भोग देकर प्रकृति जीव को नहीं छोड़ती है। अपवर्ग देने पर भगवती महामाया की पूर्ण कृपा होती है। प्रकृति सर्वहितैषिणी स्नेहमयी माता है। वह चोर को दण्ड दिलाकर भी उसका कल्याण करती है। वह विषकोट को विष में रखकर उसका हित करती है। वह महापरीक्षक है। उसको कोई धोखा नहीं दे सकता। वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए, परमेश्वर की आज्ञा से, उसीकी शक्ति से, सृष्टि का निरन्तर मंगल करती है। अपवर्ग प्राप्त करना तीक्ष्ण छुरे की धार पर चलना है। यह गुणमयी दिव्य माँ अपवर्ग भी देती है, सही अधिकारी बनाकर। उसके लिए कुछ अदेय नहीं है। 'पुरुष' शब्द कई अर्थों में प्रयोग होता है। कहीं जीव अर्थ में, कहीं परमेश्वर अर्थ में। भोग और अपवर्ग जीव के लिए हैं। परमेश्वर के लिए नहीं, क्योंकि परमेश्वर सबविध तृप्त है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। 'आप्तकामस्य का स्पृहा' माण्डूक्यकारिका (१-९)।

बन्धं च मोक्षं च मृषेव मूढा,
बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति।

दृगावृत्ति मेघकृतां यथा रवौ,

यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ॥ ५७२ ॥ वि० चू०

मूढ लोग झूठमूठ ही बन्ध और मोक्ष को, जो कि बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा में कल्पित करते हैं। जैसे मेघ के द्वारा नेत्र ढँक जाने पर सूर्य को ढँका हुआ कहते हैं। ब्रह्म तो सदैव ही अद्वय, असंग, चेतन, एकतत्त्व तथा अविनाशी है। (यदि बादल सूर्य को ढँकता है, तो आपने जाना कैसे? यदि कहो कि सूर्य के प्रकाश से, तब तो सूर्य ढँका नहीं, आपका नेत्र ढँका है।)

क्योंजी! भोग और अपवर्ग क्या है? श्रवण करो। पंचदशीकार ने 'भोक्ता कौन है?' इस विषय पर सातवें प्रकरण में विचार किया है। चेतन आत्मा तो भोक्ता हो नहीं सकता, क्योंकि वह असंग, आप्तकाम है। उसको कोई कामना नहीं। प्रकृति भी भोक्ता नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। भोक्ता चेतन ही हो सकता है। तब तो यह बताना चाहिये कि वह भोक्ता कौन है। पंचदशीकार निर्णय करते हैं कि परमात्मा ही अपनी माया से मोहित-सा हुआ जीव-सा बनकर जाग्रदवस्था में स्त्री-अन्न-पानादि विचित्र स्थूल भोग भोगता है। स्वप्नावस्था में तैजसनामा जीव-सा बनकर सूक्ष्म भोग भोगता है। सुषुप्ति में प्राज्ञनामा जीव-सा बनकर तमोऽभिभूत आनन्द

भोगता है। विज्ञानमय शब्द से कहा जानेवाला साधिष्ठान चिदाभास ही भोक्ता है। लौकिक दृष्टि से भोक्ता उभयात्मक (बुद्धिसत्त्व में प्रतिबिम्बित चैतन्य) है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (१३.२१ गीता)

पुरुष, क्षेत्रज्ञ, परमात्मा जब प्रकृति में स्थिर होता है, यानी अविद्यालक्षणा कार्यकरणरूप में परिणत हुई प्रकृति के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होता है, तब वह असंग क्षेत्रज्ञ अपने को कर्ताभोक्ता जीव मानने लगता है। प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्वरजतम गुणों को भोगता है। गुण ही सुख-दुःख और मोहरूप में परिणत होकर प्रकट होते हैं। अपने को 'सुखी, दुःखी, मूढ़, पण्डित' मानता हुआ गुणों को भोगता है। अविद्या में डूबा हुआ होने के कारण सुखदुःख-मोहरूप में बदले गुणों के भोगने में जो 'संग' आत्मभाव, अपनापन, आसक्ति, वासना है, यानी मैं ही वास्तविक भोक्ता हूँ, यह संगदोष ही उसके संसाररूप जन्म का मुख्य कारण है। इस भोक्ता पुरुष के सत्-असत् योनियों में जन्म का कारण गुणसंग है। देवादि योनियाँ सत् योनियाँ कही जाती हैं। पशु—आदि असत् योनियाँ कही जाती हैं। मनुष्ययोनि सत्-असत् मिश्रितयोनि कही जाती हैं। उस परमेश्वर को जानकर ही अमरतापद प्राप्त करता है। 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।' (गीता १३.१२) उस परमेश्वर को जानकर अमरपद प्राप्त करता है।

क्योंजी ! जीवन्मुक्त किस प्रकार भोग करता है ? सबको भोग प्रारब्ध कर्मानुसार मिलते हैं। ऐसे ही मुक्तपुरुष को भी। ब्रह्मज्ञान प्रारब्धकर्म का विरोधी नहीं है। प्रारब्ध का प्रयोजन सुखदुःख भोग देना है। ब्रह्मविद्या का प्रयोजन भोगों को मिथ्या बताना है। ब्रह्मविद्या का विषय भी भिन्न है। इन्द्रजाल मिथ्या होते हुए भी विनोद तो देता ही है। यदि प्रारब्धकर्म जगत् को सत्य सिद्ध करके भोग देता है, तो वह विद्या का विरोधी होता। वह तो केवल सुखदुःखरूप भोग देता है। भोग्य होने से सत्यता सिद्ध नहीं होती। स्वप्न सामग्री से भी, स्वप्नजीव को, पूरा भोग मिलता है। ब्रह्मविद्या भी प्रारब्ध की विरोधिनी नहीं है। यदि विद्या जगत् का नाश कर देती तो वह प्रारब्ध की विरोधिनी होती। ब्रह्मविद्या जगत् का मायापन बताती है। वह भी केवल नामरूप को मायारचित बताती है। मायात्व बताना नाश नहीं है। इन्द्रजाल को बिना नष्ट किये भी तो उसका मिथ्यात्व जाना जाता है। यदि तत्त्वदर्शन होते ही देहपात हो जाता तो ब्रह्मविद्या के याज्ञवल्क्यादि

आचार्यों का अभाव हो जाता। तत्त्वदर्शी को भोजनादि अवसरों पर तत्त्व-विस्मृति किंचित् काल के लिए हो जाती है, परन्तु भोगोपरान्त पुनः स्मृति आ जाती है। स्वरूपविस्मृति कोई अनर्थ नहीं है। मिथ्याज्ञान अनर्थ है। कृषि, वाणिज्य, न्याय, तर्क आदि के अभ्यासी को तत्त्वस्मृति का अवसर नहीं मिलता। तत्त्व की उलटी उपेक्षा होती है। आहारत्याग से जीवन ही नहीं रहेगा। विरोधी शास्त्रों के त्याग से कोई नहीं मरता। जनकादि राज्य करते थे। उनका ऐसा ही प्रारब्ध था। उनका बोध दृढ़ था। उनकी बुद्धि इतनी निर्मल थी कि उस पर कर्मलेप नहीं चढ़ता था। कर्म का बीज पड़ते ही ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता था।

अपवर्ग का अर्थ है चरमफल की प्राप्ति यानी कैवल्य मोक्ष। गौणद्रष्टा को अपने मुख्यद्रष्टास्वरूप की उपलब्धि मोक्ष है। अपवर्ग होने पर दृश्य निवृत्त हो जाता है। क्योंजी! दृश्य कहाँ जाता है? जहाँ से वह आया था। जैसे जल सूखने पर सूर्य प्रतिबिम्ब सूर्य में चला जाता है, वैसे ही समाधिकाल में दृश्यों का ब्रह्म में उपशम होता है और समाधि से व्युत्थानकाल में स्वप्न-दृश्यवत् अल्प प्रतीत होते हैं। दृश्य उपशम हो जाता है, नष्ट नहीं। स्वप्नावस्था में जाग्रत का अदर्शन होता है, नाश नहीं। असल बात यह है कि द्रष्टा और दृश्य में आत्यन्तिक भेद नहीं है। वह द्रष्टा ही जीव, जगत्, ईश्वर बनता है, अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति से। वही खेल-कूदकर फिर द्रष्टा का द्रष्टा रहता है। वह सदा ही द्रष्टा रहता है, भोगकाल में भी वह अच्छूता ही रहता है, असंग होने से। आप भी वही हो। पुरुषार्थ करो। माया की चादर फेंक दो। सर्वत्र सुख, शान्ति और आनन्द का साम्राज्य भोगो।

क्योंजी! आपने दृश्यों का उपशम कहा है, नाश नहीं। ऐसा क्यों? श्रवण करो। समाधिकाल में बोधवानों के लिए दृश्य का अभाव हो जाता है। दृश्यों की आत्मा के साथ अभिन्नता हो जाती है। जागने पर उनकी प्रातिभासिक सत्ता रह जाती है। अज्ञानियों की दृष्टि से यह कहा है कि दृश्यों का नाश नहीं होता। ज्ञानियों के लिए व्युत्थानकाल में भी दृश्य आत्मरूप भासते हैं ॥ १८ ॥

अब दृश्यों के भेदों का वर्णन करते हैं।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये चार; गुणपर्वाणि = (उपर्युक्त) सत्त्वादि गुणों के भेद (अवस्थाएँ) हैं ।

व्याख्या : सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—ये तीनों गुण चार अवस्थाओं में रहते हैं । विशेष रूप से प्रकट होनेवाले गुणों के सोलह विकार हैं । पाँच स्थूल महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका । पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु, (गुदा) तथा उपस्थ (लिंग) । एक मन । इस प्रकार ये सोलह विशेष हैं । सूक्ष्म महाभूत पंचतन्मात्राओं के कार्य पंचस्थूल महाभूत । पंचतन्मात्राओं के सत्त्वांशों से निर्मित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । पंचतन्मात्राओं के रजांशों से बनी पाँच कर्मेन्द्रियाँ । पंच तन्मात्राओं के सामूहिक सत्त्वांश से मन । ये सोलह विकार हैं । इनसे आगे कोई विकार नहीं । ये सोलह बाह्येन्द्रियों के विषय हो जाते हैं, अतः ये विशेष हैं । इनको सब देख सकते हैं ।

अविशेष छः हैं । पंचतन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध । ये पाँचों स्थूलभूतों के कारण हैं । एक अहंकार । ये सूक्ष्म होते हैं । इनकी उपलब्धि साधारण आदमी नहीं कर सकते । परन्तु योगाभ्यास से इनका भी साक्षात्कार हो सकता है । पंचतन्मात्राओं का कारण अहंकार है । ये छः गुणों के अविशेष परिणाम हैं ।

लिंगमात्र—महत्तत्त्व का नाम लिंग है । इसे समष्टि बुद्धि भी कहते हैं । यह विशेष-अविशेष से रहित है । प्रकृति का यह प्रथम परिणाम है । यह अस्पष्ट सत्तामात्र है । 'अस्मि, अस्मि' 'हूँ हूँ' इस प्रकार इसकी अनुभूतिमात्र होती है । यही चिज्जड़ ग्रन्थि है । यहीं से सृष्टि का आरम्भ है । विवेकख्याति से यह ग्रन्थि भेदित होती है । लिंग चिह्न को कहते हैं । महत्तत्त्व अहंकार का कारण है । महत्तत्त्व सृष्टि का बीज है । प्रकृति का आधार पुरुष है । महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा तथा षोडश विकारों में पुरुष व्याप्त रहता है । पुरुष न प्रकृति है, न विकृति । अलिंग—इसे अव्यक्त, माया, मूलप्रकृति, मूल-विद्या, प्रधान भी कहते हैं । यह गुणों की साम्यावस्था है । यह महत्तत्त्व का कारण है । प्रकृति का कारण कोई नहीं । यह चित् की शक्ति है । यह चेतन पुरुष से भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है । यह न सत् है, न असत् है । उभयात्मक भी नहीं है । यह परमेश्वर की शक्ति है । स्वरूपावस्थान-काल में यह अलिंग चित् से अभिन्न हो जाती है । सृष्टिकाल में, पुरुष के सान्निध्य

से, यह कुछ भिन्न-सी भासती है। अज्ञानियों के लिए यह वास्तविकी है। जिज्ञासुओं के लिए यह अनिवर्चनीया है। ज्ञानियों के लिए यह तुच्छा है। अलिङ्ग इसलिये कहते हैं कि इसका कोई चिह्न नहीं है। इसका अनुमान कार्य से होता है।

जैसे बाँस (Bamboo) के पोरे होते हैं, ऐसे ही गुणों के चार पोरे हैं और बीज अंकुर की भाँति ये अवस्थाभेद हैं। ये गुणों से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। इसलिये सब दृश्यों का गुणों में ही अन्तर्भाव है। यही सूत्रकार का आशय है। कार्यों से गुणों का अनुमान होता है। इसी अभिप्राय से विशेषादि क्रम से गुणात्मक बाँस की पोरियों की गणना की है। विशेषादि पहले बताकर पीछे अलिङ्ग प्रकृति बताई है। यह सृष्टि से उलटा यानी संहारक्रम बताया है।

यह सृष्टि प्रकृतिपुरुषात्मक है। जब प्रकृति पुरुष से अभिन्न हो जाती है, तब द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है। परमेश्वर की अपनी शक्ति का नाम प्रकृति है। पुरुष ही प्रकृति का आधार है, प्रकाशक है। उसकी सत्ता से यह माया दुर्बद्धकारिणी, अघटितघटनापटोयसी है। ब्रह्म, माया उपाधि से युक्त-सा हुआ, अथवा माया ब्रह्मप्रकाश से चेतनी हुई ईश्वर संज्ञा-वाला होता है। पुरुष माया का कारण नहीं है, क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' श्वेताश्व० (६.८)। ब्रह्म का कोई कार्य नहीं, न उसका कोई करण (इन्द्रिय) है। अलिङ्ग, माया के विषय में अधिक विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अनन्त है। माया का कोई साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। माया के ज्ञान से किसीका मोक्ष भी नहीं होता। राजा विपश्चित माया की खोज में निकले थे। वे अग्नि के उपासक थे। उनके पास बड़ी शक्तियाँ थीं। वे कई जन्म घूमते रहे। उनका अन्तिम जन्म हिरण का हुआ। राजा दशरथ ने उनसे पूछा, आपने क्या-क्या देखा। उन्होंने उत्तर दिया, सब जगह इन पंचभूतों का ही कार्य देखा। माया का मुझे अन्त नहीं मिला। तब वसिष्ठजी की कृपा से राजा विपश्चित को बोध हुआ और वह मुक्त हो गया। मुक्ति ब्रह्मज्ञान से होती है। योगवासिष्ठ में यह कथा आई है।

विशेष के बाद कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। उनके धर्म, लक्षण तथा अवस्थारूप तीन परिणामों की व्याख्या सूत्र ३.१३ में आगे की जायगी ॥ १९ ॥

दृश्य व्याख्यात हो चुका है। द्रष्टा के स्वरूप को समझने के लिए यह सत्र रचा गया है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः = चेतनमात्र ज्ञानस्वरूप द्रष्टा, शुद्धः अपि = यद्यपि शुद्ध यानी निर्विकारी है तो भी वह प्रत्यय-अनुपश्यः = बुद्धिवृत्तियों के अनुसार देखनेवाला है

व्याख्या : द्रष्टा केवल दृशिमात्र है। मात्र कहने से द्रष्टा सर्व विशेषणों, धर्मों से असंपृष्ट, यानी रहित है। द्रष्टा दृक्शक्तिमात्र है, देखनेवाली शक्ति। यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, वह शुद्ध दृक्शक्ति है। उसमें परिणाम नहीं होता। वह प्रकाशक शक्ति है। ज्ञान' न तो आत्मा का धर्म है, न गुण है। आत्मा नित्य, विभु और शिव ज्ञानस्वरूप है। द्रष्टा से अप्रकाशित कोई दृश्य ही नहीं हो सकता। जैसे निर्मल दर्पण में सूर्यबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही द्रष्टा के प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित होती है। चेतन की छाया से युक्त होकर बुद्धि द्वारा संपृष्ट होने पर शब्दस्पर्शादि विषय दृश्य होते हैं। क्योंजी ! यदि ऐसी बात है तो पुरुष और बुद्धि का एकत्व पारमार्थिक ही होना चाहिए। ऐसी बात नहीं है, क्योंकि बुद्धि का स्वरूप पुरुष का स्वरूप नहीं है। पुरुष का बुद्धि के साथ वास्तविक तादात्म्य नहीं होता। यद्यपि बुद्धि द्रष्टा जैसी प्रतीत होती है, परन्तु दोनों में अन्तर है। बुद्धि परिणामिनी होती है। बुद्धि कभी शब्द को विषय करती है, कभी स्पर्श को जानती है, कभी रूपाकार हो जाती है। जब रूपाकार होती है, तो शब्द अज्ञात हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि परिणामिनी है। पुरुष में परिणाम नहीं होता। वह बुद्धि को सदा जानता है, साक्षीरूप से। उसके प्रकाश के बिना बुद्धि बुद्धि ही नहीं हो सकती। क्योंजी ! जब पुरुष का स्वरूप ज्ञान है तो वह केवल नहीं हो सकता। ऐसी बात नहीं है। वृत्तिनिरोधावस्था में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। बुद्धि की अपेक्षा से वह साक्षी है। स्वरूप से सदा अच्युत है। पुरुष अपरिणामी है।

दूसरी बात यह है कि बुद्धि परार्थ है, पुरुष के लिए है, पुरुष स्व-अर्थ के लिए है। क्लेशकर्मवासनादि से प्रेरित होकर, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय शरीरादि की सहायता से, प्रकृति ही पुरुष के लिए भोग अपवर्ग सम्पादित करती है, अपने लिए नहीं। पुरुष ऐसा नहीं है। सब वस्तु पुरुष के लिए

१. ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।

ज्ञानस्वरूप एव आत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

कल्पित की गई हैं। पुरुष किसी अन्य के अर्थ के लिए नहीं है। तीसरा अन्तर यह है कि बुद्धि त्रिगुणात्मक और जड़ है। पुरुष, इसके विपरीत गुणों का उपद्रष्टामात्र है, यानी बुद्धि में केवल प्रतिबिम्बित होता है, तदाकार में परिणत नहीं होता। वह गुणातीत और चेतन है।

क्योंजी ! यदि पुरुष बुद्धि का स्वरूप नहीं है तो विरूप होगा। नहीं, वह अत्यन्त विरूप भी नहीं है, यानी अत्यन्त भिन्न भी नहीं है, क्योंकि वह शुद्ध यानी सब विकारों, परिणामों से रहित होता हुआ भी बुद्धिवृत्ति के अनुसार देखता है। वह बुद्धि को प्रकाशित करके उसमें प्रवेश-सा करता है, और बुद्धि-वृत्ति के अनुसार देखता है। चित्ति शक्ति सृष्टि से अत्यन्त विरूप हो भी कैसे सकती है, क्योंकि 'सैव सृष्टिर्भवति अजा' (सप्तशती-१२.३९) वह चित्ति भगवती, नित्या, अजन्मा होती हुई भी, सृष्टिरूप में प्रकट होती है। वह विश्व-रूपा है तथा एका भी है। विश्वरूप कहने मात्र से परमेश्वर का पूर्णस्वरूप प्रकट नहीं होता है, क्योंकि वह अद्वैत भी है। जो वस्तु जिसके प्रकाश के बिना अनुभव में न आ सके, वह वस्तु वह प्रकाश ही होता है। हम सूर्य के अभाव में, चाँद के प्रकाश से, उसके अभाव में तारों के प्रकाश से, तारों के अभाव में अग्नि के प्रकाश से, उसके अभाव में शब्द-प्रकाश से देखते हैं, सब प्रकाशों के अभाव में हम परमेश्वर के प्रकाश से देखते हैं। परमेश्वर के प्रकाश के बिना किसी वस्तु की सत्ता की अनुभूति हो ही नहीं सकती, अतः परमेश्वर स्वयं ही वह वस्तु बना है। पुरुष प्रकृति से भिन्न भी है, परन्तु अत्यन्त भिन्न भी नहीं है। जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा बिना प्रवेश किये भी चन्द्रप्रतिबिम्बरूप संक्रान्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही बिना प्रवेश किये ही बुद्धि में अपना प्रति-बिम्ब प्रवेश-सा करके चित्ति संक्रान्त-सी प्रतीत होती है। उस प्रतिबिम्ब से युक्त होने के कारण बुद्धि को अपना स्वरूप-सा मानकर बुद्धिवृत्ति के 'अनु-पश्यति' अर्थात् बुद्धिवृत्ति के आकार के अनुसार चित्ति देखती-सी है, व्यापार-सा करती है।

बुद्धि, परमेश्वर (चित्ति) के अत्यन्त समीप है। इस देह में रहनेवाला पुरुष उपद्रष्टा है, यानी उप-समीप से देखनेवाला उपद्रष्टा। स्वयं कुछ भी न करते हुए, यानी शरीर-अन्तःकरण-इन्द्रियों के व्यापारों में न लगा हुआ, उनसे विलक्षण आत्मा उन कार्यकरण के व्यापारों को तटस्थ-सा होकर समीप

१. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ (गीता १३.२२)

से देखनेवाला उपद्रष्टा कहा जाता है। वह अनुमन्ता^१ भी है। अपने-अपने व्यापार में लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियों की चेष्टाओं में परितोषरूप अनुमोदन, अनुमनन करनेवाला अनुमन्ता कहा जाता है। कार्यकरण की चेष्टाओं में स्वयं प्रवृत्त न होकर भी उनके अनुकूल प्रवृत्त-सा दीखता है। बुद्धि ही पुरुष की साक्षात् दृश्य है। अन्य वस्तु दो प्रकाशों से प्रकाशित हैं। एक तो चैतन्य के सामान्य प्रकाश से, दूसरे बुद्धि के प्रतिबिम्बित प्रकाश से। तात्पर्य यह है कि बुद्धि का परमेश्वर से साक्षात् सम्पर्क है, अन्यो का बुद्धि के माध्यम से ॥ २० ॥

द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप निरूपण करके अब द्रष्टा का मुख्यत्व बताते हैं। द्रष्टा तथा दृश्य का संबंध बताते हैं।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

तद् अर्थः एव = द्रष्टा पुरुष के लिए ही दृश्यस्य आत्मा = दृश्य का स्वरूप है।

व्याख्या : प्रकृति की अपनी कोई शक्ति नहीं है। जब तक पुरुष उसके सान्निध्य में है, तभी तक उसकी शक्ति है। चन्द्रमा का प्रकाश अपना नहीं है, वह सूर्य से लिया गया है, इसी प्रकार प्रकृति (गुणों के विभिन्न रूपों में परिणामरूप दृश्य) की शक्ति भी, उस चिन्मय, द्रष्टा, चित्ति, पुरुष, ब्रह्म से प्राप्त है। प्रकृति का अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है। वह पुरुष को भोग, मोक्ष देती है। पुरुष की सेवा में तत्पर प्रकृति पुरुष के लिए जीती है, मरती है। वह जीवों की परम हितैषिणी माता है।

माया का घर बावला, करता उलटे काम।

पाके पाके फेंक दे, काचे राखे थाम ॥

माया उलटे काम करती है। चित्तवृत्ति-निरोध से जो साधक नारायण का साक्षात्कार कर लेते हैं, यानी जो साधना में पक जाते हैं, उन्हें माया संसार-सागर से पार कर देती है। परन्तु जिनके कषाय पके नहीं हैं, जो चित्तवृत्ति-निरोध में कच्चे हैं, उन्हें सँभालकर रखती है, यानी उनको सुख-दुःखरूप भोग देती है। क्योंजी ! पुरुष को बन्धन में डालने में तथा फिर उसको मुक्त करने में माया को क्या मजा मिलता है ? श्रवण करो। माया तो हरि को

चेरी है। उसे अपना स्वामी प्रसन्न करना है, चाहे वह भोग से हो, चाहे मोक्ष से। उसका अपना निजी उद्देश्य नहीं। जैसे नारायण का संकल्प बनता है, वैसा ही वह करती है। सृष्टि को प्रकट करना तथा तिरोहित करना नारायण का अनादिकाल से स्वभाव है। स्वभाव में कारण नहीं खोजा जाता। तात्पर्य यह है कि प्रकृति की अपनी निजी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। पुरुष को भोगमोक्ष देकर प्रकृति निष्प्रयोजन हो जाती है, उसकी सत्ता नहीं रहती। जो वस्तु पर-प्रयोजन के लिए होती है, वह पर-प्रयोजन के बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती। भोगापवर्ग सिद्ध होने पर वह पुरुष को दर्शन नहीं देती। प्रकृति, अपने स्वरूप की हानि होने से यानी 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' पूरा होने पर वह नष्ट हो जाती है, परन्तु विनष्ट यानी अत्यन्त नष्ट नहीं। भगवान् वेदव्यास के भाष्य के वचन देते हैं—'स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो, न तु विनश्यति।' ये वचन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अपने स्वरूप की हानि (निष्प्रयोजनता) से वह दृश्य नष्ट हो जाता है, परन्तु विनष्ट नहीं (अत्यन्तोच्छेद नहीं) ॥ २१ ॥
 क्योंजी ! दृश्य विनष्ट क्यों नहीं होता ?

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थप्रति नष्टं अपि = जिस पुरुष ने परमपद पा लिया है, उसके लिए दृश्य (प्रकृति) नष्ट-सी होती हुई भी अनष्टम् = दूसरे (जिन्हें मोक्षपद प्राप्त नहीं हुआ है) के लिए वह अनष्ट ही रहती है, तद् अन्यसाधारण-त्वात् = क्योंकि दूसरे के लिए वह साधारण ही है।

व्याख्या : जिस पुरुष ने निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म का अहंरूप से साक्षात्कार कर लिया, उस कृतार्थ यानी मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति निष्प्रयोजन होने से नष्ट हो जाती है। क्योंजी ! यदि कोई मुक्त पुरुष असम्प्रज्ञात समाधि से व्युत्थान करेगा, तो उसे प्रकृति की आवश्यकता पड़ेगी। ज्ञानवान् को भूख-प्यास भी लगेगी। मलमूत्रत्यागादि नित्यकर्म भी करेगा। यदि प्रकृति नष्ट हो जायगी तो मुक्त पुरुष की आवश्यकताओं को कौन पूरा करेगा ? असम्प्रज्ञात समाधि-प्राप्ति का अर्थ सदा देहपात नहीं है। जिनका प्रारब्ध-भोग बाकी

१. पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते (सांख्यकारिका ५८) । पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए प्रकृति सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होती है।

रहता है, उन मुक्त पुरुषों को प्रारब्धकर्मक्षय निमित्त देह धारण रखना ही होगा। उस अवस्था में प्रकृति मुक्तपुरुषों को संभालती है, उन्हें भोग उपलब्ध कराती है, परन्तु इतनामात्र ही करती है, उनको प्रलोभनों में नहीं फँसा सकती। वे भोग नवीन भोगों के लिए संस्कार नहीं छोड़ते। मुक्तपुरुषों के लिए दृश्य केवल विनोद के लिए होते हैं। दृश्यों में उनकी सत्यत्वबुद्धि नहीं होती। ऐन्द्रजालिक के करतब यद्यपि मिथ्या होते हैं, परन्तु विनोद तो देते ही हैं। जो मुक्तपुरुष ज्ञान की सप्तमी भूमि में यानी कैवल्यवस्था में पहुँच जाता है, वह समाधि से नहीं उठता। उसका शरीर क्षीण हो जाता है। क्योंजी ! तब दृश्य कहाँ जाते हैं ? द्रष्टा के साथ अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं। द्रष्टा का स्वरूपावस्थान हो जाता है, जैसे जल सूखने पर सूर्य-प्रतिबिम्ब सूर्य में मिल जाता है।

क्योंजी ! क्या एक के मुक्त होने से सब मुक्त हो जाते हैं ? इसमें दो दृष्टियाँ हैं। मुक्त पुरुष के लिए अपने सिवा कुछ नहीं रहता, तब अमुक्त कौन रहेगा ? अमुक्त पुरुषों के लिए प्रकृति रहेगी, क्योंकि उनको अपवर्ग देना बाकी है। अज्ञानियों के लिए दृश्य रहेगा। जो करोड़ों की सख्या में अज्ञानी जनसमुदाय है उसके लिए प्रकृति नष्ट नहीं होती है, क्योंकि प्रकृति का पुरुषार्थ अभी पूरा नहीं हुआ है। सांख्यकारिका अवतारित करते हैं—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथाऽस्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तत्स्थार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे सतिर्भवति ।

या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

जैसे कोई नर्तकी शृंगारादि रसों से युक्त रति हासादि भावों से रंग-शाला में उपस्थित दर्शकों को गीत-वादन-नृत्य दिखाकर कृतकार्या होकर नृत्य-कार्य से निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृति भी साधक के लिए बुद्धि-अहंकार-तन्मात्रा-इन्द्रिय-आदि से भिन्न आत्मा के स्वरूप को दिखाकर सृष्टि-कार्य से निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥ गुणवती एवं उपकारिणी प्रकृति बिना किसी स्वार्थ के ही इस निर्गुण एवं प्रत्युपकारहीन पुरुष का अनेक उपायों द्वारा कार्य-साधन करती है ॥ ६० ॥ प्रकृति से बढ़कर अधिक सुकुमार (लज्जाली) कोई अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा मेरा मत है। प्रकृति को यह ज्ञान होता ही कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया है' फिर उसकी दृष्टि में नहीं आती ॥ ६१ ॥

विद्यारण्य मुनि ने पंचदशी ग्रन्थ में वेदान्त और योग का विरोध बताया है, उस पर विचार करना चाहिए।

तूणाचंकादि-योगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाधिताः।

लोकायतादि-सांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाधिताः ॥ ६.२१६ ॥

तूण के पूजकों यानी पीपल आदि वृक्ष को ईश्वर माननेवालों से लेकर योग-मतावलंबियों तक ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्त हैं। जीव के विषय में कौन भ्रान्त हैं ? देहात्मवादी लोकायतक चार्वाकादि से लेकर सांख्यमतावलंबियों तक जो व्यक्ति हैं, वे जीव के स्वरूप के विषय में भ्रान्त हैं। अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को बिना जाने सभी भ्रान्त हैं।

आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम्।

त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ॥ ६.२२८ ॥

यदि सांख्य और योग तीन मान्यताओं को छोड़ दें, तो सांख्य-योग-वेदान्त इन तीनों की समानमति (एक राय) हो जायगी। वे तीन मान्यतायें कौन सी हैं—जीव नाना हैं, जगत् सत्य है, तथा ईश्वर अन्य है यानी ईश्वर, जीव तथा जगत् से, भिन्न, तटस्थ है।

क्योंजी ! वेदभगवान् भी तो कहते हैं कि ईश्वर ने संकल्प किया मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ, सृष्टि रचूँ। तब उसने लोकों की रचना की (देखिये छान्दोग्योपनिषद् ६.२.३; ६.२.४; ऐतरेयोपनिषद् १.१.२; १.३.११; तैत्तिरीयोपनिषद् २.६) इससे जीवों का नानात्व सिद्ध होता है।

तब तो योग और वेदान्त का विरोध नहीं हुआ। ऐसी बात नहीं है। वेदान्ती जीव ब्रह्म की पारमार्थिक एकता मानते हैं, योग भिन्नता मानता है, क्योंजी ! जब जीव असम्प्रज्ञात समाधि में केवलीभाव प्राप्त करता है तब क्या उस योगी को नाना जीवों का अनुभव होता है ? नहीं। भेदज्ञान रहते-रहते समाधि नहीं लग सकती। समाधि में जिसकी सत्ता का अनुभव न हो परन्तु व्युत्थानावस्था में जिसका अनुभव हो, उसकी सत्ता नहीं होती। जिसकी सत्ता वास्तव में न हो परन्तु जो सत्यवत् भासे उसे मिथ्या कहते हैं। अज्ञानी जनों की दृष्टि का अनुवादन करके श्रुति ने नाना जीवों की सत्ता कही है। योग के अभिप्राय में द्वैत को स्थान नहीं है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' (१.३ सूत्र) 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्' इस सूत्र से यह सूचित होता है कि यह प्रकृति (तथा प्राकृतात्मक जगत् सहित) मुक्त पुरुष की अपेक्षा से नष्ट हो जाती है, परन्तु दूसरों की यानी अकृतार्थों की अपेक्षा से

विद्यमान रहती है। इस प्रकार प्रकृति का एक ही काल में नष्ट होना, तथा अमुक्त पुरुषों के लिए विद्यमान रहना इसके मिथ्यात्व को सिद्ध करता है।

क्योंजी ! यदि ऐसी बात है तो योगदर्शन ने स्पष्ट ही क्यों न कह दिया कि जगत् असत् है। श्रवण करो। योगदर्शन के अधिकारियों की योग्यता को सहसा ठेस न पहुँचाने की इच्छा से जगत् को स्पष्टरूप से मिथ्या नहीं कहा है। यदि प्रथम बार ही जगत् को मिथ्या घोषित कर देते तो साधक निरुत्साहित हो जाता, उसकी योगप्रवृत्ति में आकुलता आ जाती। तो भी सिद्धान्त में वेदान्तियों की भाँति योगदर्शन ने जगत् के मिथ्यात्वको स्वीकार कर लिया है। योग का लक्ष्य द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थित करना है। यदि योगदर्शन जगत् को सत्य कहेगा तो समाधि में कैवल्यावस्था कैसे प्राप्त होगी ? क्योंकि सत्य वस्तु का कोई निवारण नहीं कर सकता, परन्तु समाधि काल में जगत् नहीं रहता।

क्योंजी ! ईश्वर, जीव और जगत् से भिन्न है, यह बात तो वेदान्तियों ने भी स्वीकार की है। श्रवण करो। वेदान्तियों ने निष्प्रपञ्च ब्रह्म में सृष्टि की रचना, उसके बाध के लिये दिखाई है। जीव-ईश्वर का भेद तथा ब्रह्म जगत् का भेद वेदान्त की सिद्धान्त-कोटि में नहीं आता। वेदान्त का सिद्धान्त केवल एक अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्व को प्रतिपादित करता है। जीव, ईश्वर, जगत् की चर्चा पूर्वपक्ष के लिये है, पीछे इस भेद को भी मिथ्या बताकर एकमात्र ब्रह्म का ही सत्यत्व, चैतन्यत्व, आनन्दत्व और अनन्तत्व बताना है। ब्रह्म में जीव, ईश्वर तथा जगत् का आरोपण, इनको मिथ्या सिद्ध करने के लिए है, इनका सत्यत्व बताने के लिए नहीं।

शंकरभगवत्पाद के अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं—

यथैव मृण्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः।

आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव क्रियतेऽ बुधैः ॥ ६९ ॥

घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।

जगन्नाम्ना चिदाभाति ज्ञेयं तत्तदभावतः ॥ ६४ ॥

श्रुत्या निवारितं नूनं नानात्वं स्वमुखेन हि।

कथं भासो भवेदन्यः स्थिते चाद्वयकारणे ॥ ४७ ॥

दोषोऽपि विहितः श्रुत्या मृत्योर्मृत्युं स गच्छति।

इह पश्यति नानात्वं मायया दञ्चितो नरः ॥ ४८ ॥

जैसे घड़ा मिट्टीरूप होता है, वैसे ही देह भी चेतनरूप है। अज्ञानीजन वृथा ही आत्मा-अनात्मा का यह भेद करते हैं ॥ ६९ ॥ जैसे घटनाम से पृथ्वी और पटनाम से घागे ही होते हैं, वैसे ही जगत्नाम से चेतन आत्मा ही है। नामरूप बाध से वह आत्मा ही अवशिष्ट अधिष्ठान रहता है ॥ ६४ ॥ श्रुति भगवती ने अपने मुखारविन्द से ब्रह्म में नानात्व का निषेध किया है। कारण के अद्वितीय होने पर अन्य प्रतीति कैसे हो सकती है ॥ ४७ ॥ जो ब्रह्म में नानात्व भेद देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रुति ने नानात्व-दर्शन में दोष भी बतलाया है। माया से बहकाया अज्ञानी ब्रह्म में नानापन देखता है ॥ ४८ ॥

यह पक्ष ज्ञानी को दृष्टि से कथित हुआ है। अज्ञानी की दृष्टि का मूल्य नहीं होता। इस सूत्र में दोनों दृष्टियाँ दी हैं। मुक्त की दृष्टि से माया का उपशम तथा अज्ञानी की दृष्टि से माया की विद्यमानता, एक ही काल में बताई हैं।

क्योंजी ! योगसूत्रों में सृष्टिरचनाक्रम नहीं बताया है। यह भी नहीं बताया है कि सृष्टि रचता कौन है। उस रचयिता का जीव, जगत्, चित्ति से क्या सम्बन्ध है ? श्रवण करो। योगसूत्र एक ही मुख्य विषय को लेकर चलते हैं। चित्तवृत्तिनिरोध योग का विषय है। यह बात नहीं है कि सर्वज्ञ पतंजलि मुनि सृष्टि-रचयिता को नहीं जानते थे। वे सब बातें उन्होंने छोड़ दी हैं क्योंकि उपनिषदों में, ब्रह्मसूत्र में, आगमग्रन्थों में, पुराणादि में इस विषय पर पूरा प्रकाश डाला है। पतंजलि ने अतीन्द्रिय विषयों के साक्षात्कार के लिए चित्तवृत्तिनिरोध द्वार से सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार के योग बताये हैं। आप चित्त को एकाग्र करके स्वयं देख लो कि सृष्टि का रचयिता कौन है, और उसका जीव, जगत्, ईश्वर तथा चित्ति से क्या सम्बन्ध है।

चित्ति सृष्टिकर्ता नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वमहिमा में ही स्थिर रहती है। प्रकृति भी सृष्टि नहीं रच सकती, क्योंकि वह जड़ है। ईश्वर ही सृष्टि रच सकता है क्योंकि वह ऐशचित्त युक्त होता है। ईश्वर क्या है ? ब्रह्म (अधिष्ठान) + प्रकृति + प्रकृतिगत चेतन प्रतिफलन। इन तीनों के संयोग से ईश्वर बनता है। ईश्वर को बनानेवाला कौन है ? उसकी शक्ति माया।^१

१. मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सो जीवेश्वरावुभौ ।

यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥ (पंचदशी ६.२३६)

ईश्वर और जीव दोनों के दोनों मायारूपी कामधेनु के बछड़े हैं और द्वैत का तृप्ति से दूध पीते हैं। क्योंजी ! योग में तो ईश्वर को सृष्टि-रचयिता नहीं बताया है ? तो आप बतायें कि बिना सृष्टि रचे ईश्वर किस पर अनुग्रह करेंगे ? ममत्व अपने पर ही होता है। चूँकि चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है, इसलिए योग में चित्तवृत्तिनिरोध सम्बन्ध में जितना ईश्वर का उपयोग हो सकता है उतना ही उसका स्वरूप बताया है, बाकी आप आगमों में ईश्वर के नाम, महिमा, प्रभावादि खोजें। असली बात यह है कि चिति ही ईश्वर है, चिति ही जीव है, चिति ही प्रकृति है, चिति ही संसार है। चिति से भिन्न कुछ नहीं है। चिति के इस अचिन्त्य स्वरूप को अवगत कराने के लिए ही योगसूत्र हैं, ब्रह्मसूत्र हैं, वेद, पुराण, इतिहास आदि हैं। वे तटस्थ होकर केवल मार्ग दर्शाते हैं। चलना तो साधक को ही पड़ेगा।

जाग्रदवस्था में समष्टिस्थूलशरीराभिमानी ईश्वर, विराट् कहा जाता है। स्वप्नावस्था में समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी ईश्वर, हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में समष्टिकारणशरीराभिमानी ईश्वर, विशुद्ध सत्त्व-चित्तयुक्त ईश्वर कहा जाता है। सर्वोपाधिनिर्मुक्त चैतन्य को ब्रह्म या चिति कहते हैं। कर्मकाण्डियों का ईश्वर अनन्तविभूतियुक्त होता है। भक्तों का ईश्वर मायाविशिष्ट कहा जाता है। माया जिसका विशेषण हो वह माया विशिष्ट। माया ईश्वर के कलेवर में अभंग व्याप्त होती है, जैसे नीले घोड़े में नीलापन। ज्ञानियों का ईश्वर मायोपहित (माया उपाधिवाला) होता है। विज्ञानियों का इष्ट शुद्धब्रह्म, चिति होता है। एक ही ईश्वर की अनेक संज्ञा हैं। संज्ञा (नाम) भेद हो सकता है, पर वस्तुभेद नहीं है। ईश्वर के सब प्रकार के लक्षण एक ही काल में लागू होते हैं। ईश्वर सर्वरूप है। विष्णु-सहस्रनाम में विष्णु का प्रथम नाम 'विश्वस्' दिया है।

ईश्वर के विषय में नाना मत हैं और आगे भी होंगे। अनुभव के बिना इसका इत्थंभूत निर्णय भी नहीं हो सकेगा। ईश्वर का स्वरूप उपासना से जाना जाता है, युक्तियों से नहीं। विद्यारण्यमुनि ने योगियों की दृष्टि से ईश्वर का स्वरूप-निरूपण पंचदशी में इस प्रकार किया है—

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।

ईश्वरं ब्रूते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥ (६.१०२)

आत्मा की समीपता में, उसके प्रकाश से चेतन-सी होकर निजव्यापार सृष्टिरचनादि कार्यों में प्रवृत्त हुई प्रकृति के नियन्ता को योगीगण ईश्वर कहते हैं। वह ईश्वर, पुरुषविशेष, जीवों से उत्कृष्ट सुना गया है। जो

क्लेशपंचक, कर्म तथा कर्मों के फलरूप धर्माधर्म संस्कारों से असंबद्ध है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यह ईश्वर जीव की भाँति असंग है और चेतन है।

तथापि पुं-विशेषत्वात् घटतेऽस्य नियन्तृता।

अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥ (६.१०६)

ईश्वर के असंग होने पर भी पुरुषविशेष होने से उसकी सर्वनियामकता घटित होती है, क्योंकि नाना पुरुषों के मध्य में ईश्वर पुरुषविशेष है। ईश्वर जीवों से श्रेष्ठ है। यदि ईश्वर ईशानशील न होता तो इस लोक में बन्धमोक्ष के विधान व्यवस्थारहित यानी मर्यादाशून्य हो जाते। क्या तो सब मुक्त हो जाते या सब बद्ध रहते ? प्रस्तुत मर्यादित अवस्था में कोई बद्ध है, कोई मुक्त है। अनुशासनहीन अवस्था में बन्धमोक्ष का कौन विधान करता ? कौन कर्मफल देता ?

वैदिक ईश्वर का चित्रण बहुत विशाल हैं। गीताशास्त्र के विश्वरूप एकादश अध्याय में विराट् ईश्वर का वर्णन किया है। पुरुषसूक्त में भी विराट् ईश्वर का वर्णन है। पंचदशीकार लिखते हैं—

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।

धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान्विदुः ॥ (६.२०५)

गीता शास्त्र के विश्वरूप-दर्शन एकादश अध्याय में इस विराट्, ईश्वर का वर्णन किया है। नारायण ने अर्जुन से कहा कि मेरे शरीर सब जगत् को एक ही जगह देखो। 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।' (गीता ११.७) हे अर्जुन ! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देखो।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी विराट् ईश्वर का वर्णन किया है, यथा 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' वह विराट् पुरुष सहस्रों सिरोंवाला, सहस्रों नेत्रोंवाला, सहस्रों पाँववाला है। ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीटपर्यन्त या तृणपर्यन्त इस विराट् के अवयव जानो। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं' यह सब वर्तमान, अतीत तथा आगामी जगत्—विराट् पुरुष ही है। पंचदशीकार कहते हैं—

ईश-सूत्र-विराड्-वेधो विष्णु-रुद्रेन्द्र-वह्नयः ।

विघ्न - भैरव-मैराल-मारिका-यक्ष-राक्षसाः ॥ ६.२०६ ॥

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा गावाश्च-मृग-पक्षिणः ।

अश्वत्थ-वट-चूताद्या यव-त्रीहि तृणादयः ॥ ६.२०७ ॥

जलपाषाण-मृत्काष्ठ-वास्या-कुहालकादयः ।

ईश्वराः सर्व एवेते पूजिताः फलदायिनः ॥ ९.२०८ ॥

ईश, अन्तर्यामी, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, गणेश, भैरव, भैराल, मारिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़ा, हिरण, पक्षी, पीपल, बट, आम आदि वृक्ष, यव, जो, घास-फूस, जल, पाषाण, मिट्टी, काष्ठ, खाती का वसोला, खुदाल आदि ये सब ईश्वर हैं। इनकी विधिपूर्वक श्रद्धा से पूजा करने पर अवश्यंभावी फल देनेवाले हैं। अज्ञानीजन विवाद करते रहें, हम अपनी यथार्थ वाणी को कहते रहेंगे। ईश्वर का इतना उदार चित्रण, तथा पूजा को इतनी बड़ी स्वतंत्रता, सिवाय सनातन धर्म के, विश्व के अन्य किसी भी धर्म में नहीं मिलेगी। तो भी यथार्थ बात यह है कि 'मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।' (६.२१०) मुक्ति तो ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से ही होगी, अन्य किसी प्रकार नहीं।

उपदेशकाल में ब्रह्मा, जीव, ईश्वर तथा जगत् की भिन्नता बताते हैं, परन्तु शिष्य को बुद्धि कुछ पकने पर जीव तथा ईश्वर की उपाधियों का निरसन करते हैं, तब बता देते हैं कि यह भेद काल्पनिक है, वास्तव में ब्रह्मा ही ईश्वर है, वही जीव है तथा वही जगत् है। यह भेद मिथ्या है। यही बात योग ने भी कही है कि सर्ववृत्तिनिरोध होने पर केवल चित्ति रहती है। वेदान्त-कथित ईश्वर तथा योगकथित ईश्वर एक ही वस्तु है। योगदर्शन में ईश्वर की जितनी परिभाषा उपकारी समझी गयी, उतनी ही कथन की है। सूत्रों में कह भी कितना सकेंगे ? योग निश्चय ही वेदान्त का उपकारी बन्धु है, विरोधी नहीं ॥ २२ ॥

अब संयोगस्वरूप का वर्णन करते हैं —

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व-स्वामिशक्त्योः = अपनी शक्ति के यानी दृश्य के स्वरूप तथा स्वामी-शक्ति के यानी द्रष्टा के स्वरूप-उपलब्धिहेतुः संयोगः = स्वरूप की प्राप्ति में संयोग कारण है।

व्याख्या : क्योंजो ! सृष्टि का क्या प्रयोजन है ? श्रवण करो पुमान् (पुरुष, परमात्मा) तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टिरचना होती है। अकेला पुरुष सृष्टि नहीं रच सकता, क्योंकि वह निष्क्रिय और असंग है। अकेली प्रकृति भी सृष्टिरचना नहीं कर सकती, क्योंकि वह जड़ है। यह जगत् प्रकृतिपुरुषात्मक है। यह संयोग वास्तविक नहीं होता, अविद्या द्वारा कल्पित है।

इसी जगत् में भोग-भोक्ष मिलते हैं। अज्ञानी को प्रकृति भोग देती है। जब उसको पुण्यों के परिपाक से सदबुद्धि उदित होती है, तब वह विरक्त होकर विचार करता है 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? यह जगत् क्या है? कहाँ से उत्पन्न हुई? किस सामग्री से बनी है?' इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिए सदगुरु-कृपा से ब्रह्मविद्या का अभ्यास करता है और मुक्त हो जाता है। इस सृष्टि का प्रयोजन साधक को प्रकृति के स्वरूप की तथा पुरुष के स्वरूप की जानकारी प्राप्त करानी है। यदि पुरुष प्रकृति के संयोग से सर्गोत्पत्ति न होती तो कहाँ से गुरु मिलते, कहाँ से भोग मिलते, किस प्रकार प्रकृति और पुरुष के स्वरूपों की उपलब्धि होती?

स्वशक्ति—दृश्यवर्ग पुरुष का अपना स्व होता है। यह दृश्यप्रपञ्च पुरुष की अपनी जायदाद, मिलकियत है। तात्पर्य यह है कि 'सर्वसाक्षी चैतन्यात्मारूप भगवान् अपनी अधोगिनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति द्वारा अनन्त संघातों को धारण करके स्वयं प्रकट हुए हैं।' 'जितने अनन्त संघात हैं, वे सब माया-शक्ति के रचे हुए हैं।' 'ये सब संघात सर्वसाक्षी चैतन्यात्मा के ही संघात हैं।' भगवान् की शक्ति का नाम प्रकृति है। परमेश्वर की अध्यक्षता से यह चेतन-सो होकर सृष्टि रचती है।

यावत्संजायते किञ्चित्, सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्, तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ १३.२६ गीता ॥

जितनी मात्र यह स्थावर-जंगम (सचराचर जगत्) वस्तु उत्पन्न होती है, उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुआ जानो। यह संयोग मिथ्या-तादात्म्य होता है। यह मिथ्याज्ञान यथार्थज्ञान से नष्ट हो जाता है।

स्व शब्द का अर्थ दृश्य होता है। जड़रूप से दर्शन देने को योग्यता को दृश्यशक्ति कहते हैं। स्वामी, पुरुष, परमात्मा को कहते हैं। चेतनरूप से दृश्य को देखने की योग्यता को द्रष्टा की शक्ति कहते हैं। उनके स्वरूप की जो उपलब्धि, क्रम करके भोग्यरूप से तथा भोक्तरूप से प्रतीति है, उसका कारण इन दोनों का संयोग है, यानी स्व तथा स्वामीरूप से प्रसिद्ध सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को कार्यरूप से देख सकते हो। स्व (प्रकृति, नारायण की अपनी शक्ति) तथा स्वामी (पुरुष) शब्द कहने से प्रकृति की परतन्त्रता

१. ज्ञान के रूढ़ सूत्र—श्रीगुरु द्वारा ज्ञान के ११ सूत्र प्राप्त हुए थे। उन्हींमें से प्रथम तीन सूत्र उद्धृत किये हैं।

सिद्ध होती है। द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग अनादिकाल से चला आता है। परन्तु इसका अन्त हो सकता है। इस संयोग को तोड़ने के लिये स्वशक्ति और स्वामीशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है। विवेकख्याति से पुरुष तथा प्रकृति की भिन्नता का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। तब ज्ञानी प्रकृति से भी विरक्त होकर केवलमात्र पुरुष का अहंरूप से दर्शन करता है। 'यही परमेश्वर मैं ही हूँ।' यही मेरा अपना आपा है।' सूत्र १७ में संयोग को हेयहेतु बताया है। इस सूत्र में संयोग का प्रयोजन बताया है। जब तक चित्ताधिकार रहेगा, तब तक संयोग रहेगा। विवेकख्याति उदित होने पर संयोग समाप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अब इस संयोग का कारण बताते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तस्य = उस संयोग का; हेतुः = कारण; अविद्या = अविद्या है।

व्याख्या : प्रत्यक् चेतन (व्यक्तिगत जीव का अपना स्वरूपभूत आत्मा) सर्वान्तर आत्मा। पंचकोश के निराकरण से जो इनका अधिष्ठान स्वयंप्रकाश तत्त्व अवशिष्ट रहता है, जिसका किसी प्रकार भी निराकरण नहीं हो सकता उसे प्रत्यक् चेतन कहते हैं। दृश्य (प्रकृति, माया) का जो आत्मा से संयोग है, तादात्म्य-सा है, उसका कारण अविद्या, यानी मिथ्याज्ञान है। विपर्ययज्ञानवासना का नाम अविद्या है। बुद्धि और अविद्या एक ही बात है। ब्रह्म का संयोग जब माया से होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। ब्रह्म का संयोग जब बुद्धि से होता है तब उसे जीव कहते हैं। विपर्ययज्ञान से रंगी हुई बुद्धि पुरुषख्याति नहीं प्राप्त कर सकती, और अधिकार से युक्त रहने के कारण जन्म-मरण-कुचक्र से नहीं छूटती। जब उसे पुरुष-विवेक हो जाता है, तो बुद्धि का कार्य समाप्त हो जाता है और वह पुनरावर्तन में नहीं पड़ती।

देह में आत्मबुद्धि का नाम विपर्ययज्ञान है। यह विपर्ययज्ञान संयोग का कारण है। बुद्धि और आत्मा में अन्योन्याध्यास हो जाता है। वास्तव में नहीं। अपने गुणों, धर्मों का अदल-बदल होकर दोनों का एकाकार मेल-सा हो जाता है। बुद्धि आत्मा के चैतन्यस्वभाव को अपना धर्म मानने लगती

हे । 'मैं ज्ञाता हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता हूँ।' आत्मा अपने को जन्ममरणशील अल्पशक्ति जीव मानने लगता है । इस संघट्ट को चिज्जड़ ग्रन्थि कहते हैं । विवेकख्याति उदित होने पर यह ग्रन्थि विघटित हो जाती है । अविद्या नारायणी महाशक्ति है । यही इस संयोग का कारण है, अन्यथा असंग पर-मात्मा का किसी प्रकार भी बुद्धि से संयोग नहीं हो सकता ।

कैवल्यवस्था में विवेक भी समाप्त हो जाता है । अविद्या के नष्ट होने पर उसकी संतान अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश सभी नष्ट हो जाते हैं । विवेक अविवेक का विपरीत है, और बाधक है ॥ २४ ॥

हेय दुःख (सूत्र १६); हेय का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग (सूत्र १७); संयोग में स्वशक्ति तथा स्वामी के स्वरूप को उपलब्धि (सूत्र २३) संयोग का कारण अविद्या (सूत्र २४)—ये सब कहे गये हैं । अब हान नाम का आरोग्यस्थानीय तीसरा व्यूह बताना है ।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तददृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तदभावात् = उस (अविद्या) के अभाव से; संयोगाभावः = संयोग का अभाव (हो जाता है, यही) हानम् = 'हान' (पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव) है (और); तत् = वही; दृशेः = चेतन आत्मा का; कैवल्यम् = 'कैवल्य' है ।

व्याख्या : अविद्या के अभाव से बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव ही अत्यन्त दुःख निवृत्ति है । यही हान कहा जाता है । यही द्रष्टा का कैवल्य है, अर्थात् पुरुष का अमिश्रीभाव है यानी गुणों के साथ पुरुष का पुनः असंयोग । जैसे दही से मक्खन विलग होने पर दही में नहीं मिल सकता, वैसे ही पुरुष का गुणों से फिर संग नहीं हो सकता, 'न गंगदत्तः पुनरेति कूपम् ।' दुःख के कारण के निवृत्त होने पर दुःख की निवृत्ति होती है; वही हान है । तब यह कहा जाता है कि पुरुष स्वरूप में प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

क्योंजी ! हान प्राप्ति का क्या उपाय है ?

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

विवेकख्यातिः अविप्लवा = दृढ़, निर्मल, निरन्तर विवेकख्याति हान-
उपायः = हान का उपाय है ।

व्याख्या : हान नाम का आरोग्यस्थानीय तीसरा व्यूह कह चुके हैं । अब चौथा व्यूह, भेषजस्थानीय व्यूह कहा जाता है । उसका यह प्रयोजन है कि श्रुति से जो विवेकज्ञान जाना है, उस पर युक्तिपूर्वक विचार करके उसे बुद्धि में स्थापित करना तथा दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक अभ्यास करके उसे दृढ़ कर लेना ताकि वह मिथ्याज्ञान से धर्षित (धराशायी) न हो सके । आत्मा-अनात्मा के विवेक का साक्षात्कार करनेवाली ज्ञानवृत्ति अविप्लवा विवेकख्याति कही जाती है । पुरुष और बुद्धि की जो अतिसंकीर्ण ग्रन्थि लगी हुई है, उस ग्रन्थि को तोड़कर पुरुष और बुद्धि को भिन्न-भिन्न जान लेना विवेकख्याति कही जाती है । यह विवेकज्ञान विप्लवरहित, यानी मिथ्याज्ञान से रहित होना चाहिए । ऐसी अविप्लवा विवेकख्याति हानोपाय, चौथा व्यूह है यानी द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग के वियोग का कारण है । आत्मा-अनात्मा के परोक्ष भेदज्ञान से मोक्ष नहीं होता । इस भेदज्ञान का साक्षात्कार होना चाहिए । परोक्षज्ञान-अविद्या निवृत्ति में असमर्थ होता है । आत्मा का अपरोक्ष-ज्ञान अविद्या को निवृत्त कर देता है । बन्धन से उपराम ही हान है । यद्यपि यह अविद्या अवस्तु है, तो भी इससे छुटकारा यत्नसाध्य होता है । मिथ्या-ज्ञान निवृत्ति के बिना विवेकख्याति अविप्लवा यानी स्थिर नहीं होती, कार्य-क्षमा नहीं होती । अपक्वकषाय साधक को विज्ञान प्रकाशित नहीं होता । वासनारूपी ग्राह के चंगुल में फँसे हुए का ज्ञान स्थिर नहीं हो सकता । जब विवेकख्याति से मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव प्राप्त कर लेता है, यानी कार्यारम्भ में अक्षम हो जाता है, तब रजतममल से रहित होकर चित्त निर्मल हो जाता है और विवेकख्याति का प्रवाह निरन्तर चलता है । मिथ्याज्ञान का पुनः प्रसव नहीं होता । कहा गया है—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।

ज्ञानदग्धेस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥

जैसे अग्नि में भुने हुए बीज फिर नहीं उगते, वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध क्लेश आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकते । ऐसी विवेकख्याति मोक्ष का मार्ग है; हान का उपाय है ।

भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है—

क्षेत्र-क्षेत्रयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ १३-३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति, दृश्य, अनात्मा) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष, परमात्मा, स्वामी) के भेद को जो ज्ञाननेत्र द्वारा (विवेकख्याति द्वारा अनुभव से जान लेते हैं तथा जो प्रकृति से भी छूट जाते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यहाँ दो बातें कही हैं १) प्रकृति पुरुष के भेद का साक्षात्कार करना तथा फिर प्रकृति से भी परवैराग्य द्वारा मुक्त होना । केवल भेदज्ञान से कैवल्य नहीं मिलता । प्रकृति से छुटकारा लेना होगा । यदि ऐसा न होगा तो कैवल्यावस्था सिद्ध नहीं होगी । जब विवेकख्याति निरन्तर बनी रहे उसे अविप्लवा विवेकख्याति कहते हैं । इसीका नाम धर्मभेध समाधि है । फिर परवैराग्य के उदित होने से विवेकख्याति से भी मन हट जाता है । चित्त अचित्त हो जाता है और पुरुष स्वमहिमा में स्थिर हो जाता है । हान का यही उपाय है । यही भवरोग की भेषज है ॥ २६ ॥

जिस योगी की विवेकख्याति में निष्ठा हो जाती है, तब उसकी प्रज्ञा किस प्रकार की होती है यानी उसकी विचारधारा किस प्रकार की होती है—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्य = उस विवेकख्यातिप्राप्त योगी की प्रान्तभूमिः प्रज्ञा = सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञा सप्तधा = सात प्रकार की होती है ।

व्याख्या : जिस योगी को अविप्लवा विवेकख्याति उपलब्ध हो गई है, उसकी बुद्धि की विचारधारा सात प्रकार की होती है । निर्मल विवेकख्याति द्वारा चित्त का अशुद्धिरूप आवरण मल नष्ट हो जाने से यानी क्लेश और कर्मों के नष्ट हो जाने से, उसमें द्वैतज्ञान-सम्बन्धी चित्तवृत्तियाँ नहीं उठतीं । इस प्रकार प्रान्तभूमि प्रज्ञा—प्रज्ञा यानी बुद्धि की चरम अवस्था, जिस भूमि, प्रज्ञा अवस्था का प्रान्त, अच्छे प्रकार अन्त आ गया है, उसे प्रान्त-भूमि प्रज्ञा कहते हैं—के विषयभेद से सात प्रकार होते हैं, वह बुद्धि तो एक ही होती है । यह प्रज्ञा सर्वोत्कृष्ट होती है । इससे प्रज्ञा की समाप्ति अथवा निवृत्ति होती है । सम्यक्दर्शियों को ही ऐसी प्रज्ञा उपलब्ध होती है । विद्यारण्यमुनि ने पंचदशी के १४वें प्रकरण में इसको विद्यानन्द कहा है । ब्रह्म-विद्या के अनुभूत आनन्द का संस्मरण विद्यानन्द कहा जाता है । जो धवान् की

जाग्रदावस्था का नाम विद्यानन्द है। अज्ञानियों के आनन्द का नाम विषयानन्द होता है।

अविप्लवा विवेकख्यातिप्राप्त योगी की बुद्धि की स्वनिधन की ओर प्रगति में सप्तधा प्रज्ञा सात कदम हैं। उस प्रज्ञा के सात प्रकार इस भाँति हैं—

१. परिज्ञातं हेयं, नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति (व्यासभाष्य)—परिणाम, ताप एवं संस्कारजनित दुःखों से तथा गुणवृत्तिविरोध से सब दृश्य, जगत् दुःख ही है। इतना जान लेने के पश्चात् अन्य कुछ जानने के लायक नहीं रहता। (देखो सूत्र २.१५, २.१८, २.२०) इस प्रकार हेय की शून्यता हो जाने के कारण, इसे प्रज्ञा की ज्ञेयशून्य अवस्था कहते हैं।

२. क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति—(व्यास भाष्य) हेय हेतुओं को क्षीण कर दिया गया है। विवेकख्याति से मेरे दुःख तथा दुःख के कारण अविद्याकामकर्मादि, द्रष्टा-दृश्यसंयोग क्षीण, नष्ट हो गये हैं। अब और कुछ दूर करने के लिए बाकी नहीं है। प्रज्ञा की इस दूसरी अवस्था को हेयशून्य अवस्था कहते हैं।

३. साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् (व्यासभाष्य)—मुझे संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में ही यह साक्षात् अनुभव हो गया है कि हान, निरोधसमाधि से साध्य है। इससे आगे और कुछ निश्चय करने के लिए नहीं रहा है। प्रज्ञा की इस तीसरी अवस्था को प्राप्य प्राप्त अवस्था कहते हैं।

४. भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः इति (व्यास भाष्य)—मैंने हान के उपाय विवेकख्याति को अभ्यास से सिद्ध कर लिया है। अब अन्य अभ्यास की अपेक्षा नहीं। प्रान्तभूमि प्रज्ञा की यह चौथी अवस्था है। इसे कृतकृत्यता अवस्था कहते हैं।

ये चारों अवस्थायें पुरुषार्थ से प्राप्त होती हैं। इसके बाद योगसाधनों से मुक्ति हो जाती है। इन चारों को प्रज्ञा की कार्यविमुक्ति अवस्था कहते हैं। 'ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।' (अपरोक्षानुभूतिः १२६) तब वह योगीराज सब साधनों से छूटकर सिद्ध हो जाता है।

५. 'चरिताधिकारा बुद्धिः'। (व्यासभाष्य)—चित्त का जो कार्य भोग-अपवर्ग देना है, वह पूरा हो गया। अब उसका कोई कार्य अधूरा नहीं

है। अब चित्त निश्चिन्त है। यह प्रान्त प्रज्ञा की पाँचवीं अवस्था है। यही परवैराग्यरूपा चित्तनाश की आदि भूमिका है।

६. 'गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव प्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखा सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुन रस्तुत्पादः प्रयोजनाभावादिति।' (व्यासभाष्य) — जिस प्रकार कोई विशाल चट्टान, पर्वत के शिखर से टूटकर, बिना रुके, पृथ्वी पर गिर कर चूर-चूर हो जाती है, तथा पुनः शिखर पर जाने की संभावना नहीं रहती, उसी प्रकार चित्त के रचनेवाले गुण अपने कारणप्रकृति में लय होने के अभिमुख चित्त के सहित अस्त को प्राप्त होते हैं, क्योंकि अब उनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। प्रान्तभूमि प्रज्ञा की यह छठी अवस्था है। यह लिंगशरीर के विनाश की अवस्था है।

७. आत्मस्थिति—'एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्र-ज्योतिर-मलः केवलो पुरुष' इति। (व्यासभाष्य) — इस अवस्था में वह पुरुष गुणों के सम्बन्ध से अतीत हुआ स्वरूपमात्र ज्योतिरूप, निर्मल, केवल पुरुष रहता है। इस प्रकार सात भाँति की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को साक्षी-वत् देखनेवाला कुशल जीवन्मुक्त पुरुष कहा जाता है। चित्त प्रलीन होने पर भी उसे मुक्त, यानी विदेहमुक्त, कुशल पुरुष कहते हैं, क्योंकि उस समय पुरुष गुणातीत हो जाता है। यह विदेहकैवल्य की चरम भूमिका है। तात्पर्य यह है कि वह जीता हुआ भी मुक्त है, और देह-त्याग करने पर भी मुक्त है।

ये तीन प्रज्ञावस्था स्वतः उत्पन्न होती हैं। इनके लिए पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं। योगी को मोक्षफल भी यानी स्वात्मरूप में स्थिति भी प्राप्त हो जाती है।

श्री विद्यारण्यमुनि पंचदशी में कहते हैं—

विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः।

दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ १४.२ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ।

प्राप्त प्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥ १४.३ ॥

विषयानन्द की भाँति विद्यानन्द भी एक बुद्धिवृत्ति है, परन्तु यह सत्त्वगुणी होती है। यह विद्यानन्द दुःखाभावादि चार प्रकार का होता है। अब विद्यानन्द के चार प्रकार बताते हैं—१ सब दुःखों से निवृत्ति २—सब कामनाओं

की पूर्ति ३—सब कर्तव्यों की पूर्ति । मेरे योग्य जो कर्तव्यकर्म थे, सब पूरे हो गये । ४—जो प्राप्त करने योग्य वस्तु थी वे सब प्राप्त हो गई । इस प्रकार सब भारों से मुक्त होकर ज्ञानवान् अपने चित्त की लीला समाप्त करता है ।

भगवान् कृष्ण ने जीवन्मुक्तों के सम्बन्ध में अपना उदाहरण देते हुए गीता में कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३.२२ ॥

हे अर्जुन ! तीन लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है । न कोई ऐसी अप्राप्त वस्तु है, जो मुझे प्राप्त करनी हो । तात्पर्य यह है कि कर्तव्य का भार ढोते-ढोते अज्ञानी जन थके रहते हैं । कर्तव्यशेष की भावना आत्मा में विश्रान्ति नहीं लेने देती तो भो मैं सदा लोकसंग्रहार्थ कर्म में ही लगा रहता हूँ । जीवन्मुक्तों का चित्त ज्ञानाग्नि से दग्ध रहता है । वे निर्भय होकर प्रारब्धानुसार कर्म करते हैं, परन्तु उन पर कर्मलेप नहीं चढ़ता । जिस प्रज्ञा में से सब वासना चली गई हैं, उस अवस्थावाली प्रज्ञा को प्रान्तभूमि प्रज्ञा कहते हैं ॥ २७ ॥

चारों व्यूहों को बताकर अब यह कहते हैं सिद्ध हुई अर्थात् अविप्लवा, निरन्तर रहनेवाली विवेकख्याति हान का उपाय है । परन्तु विवेकख्याति की प्राप्ति योगसाधनों से होती है । बिना प्रयत्न किये विवेकख्याति उपलब्ध नहीं होती । अब योगांगों को, विवेकख्याति का उपाय, बताते हैं ।

क्योंजी ! विवेकख्याति के उपाय तो पहले बता चुके हैं । अब पुनः-पुनः बताने से क्या लाभ होगा, तथा भिन्न-भिन्न साधनों का पारस्परिक विरोध भी हो सकता है । श्रवण करो । योगसाधक तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा मन्द । उत्तम साधकों को समाधिपाद में 'अभ्यासवैराग्य' साधन बताये हैं । मध्यम साधकों के लिए 'क्रियायोग' बताया है । यह साधन साधनापाद के आरम्भ में ही दिया गया है । अब मन्दों के लिए योगांगानुष्ठान बताते हैं । इनके अनुष्ठान से मन्द साधक पहले मध्यम बनेगा, फिर अभ्यासपटुता से उत्तम कोटि में आ जायगा । सब साधनों का अन्तिम लक्ष्य अविप्लवा विवेकख्याति प्राप्त करना है । अतः अभ्यास वैराग्य-साधनों में क्रियायोग तथा योगांगों का समावेश है ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्ग-अनुष्ठानात् = योग के अंगों के अनुष्ठान करने से अशुद्धिक्षये = क्लेशरूपी अशुद्धि के नाश होने पर आविवेकख्यातेः = विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानदीप्तिः = ज्ञान का प्रकाश होता है ।

व्याख्या : अब योग के आठ अंगों के अनुष्ठान का फल बताते हैं । अब तक जो बात कही है, वह अपेक्षाकृत ऊँची बात कही है, क्योंकि वह हमारा लक्ष्य है । साधना करके उसे प्राप्त करना है । वे आठ साधन योग के अंग हैं । अगले सूत्र में उनके नाम बतायेंगे । उसके पश्चात् प्रत्येक साधन का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे । अब व्यासभाष्य के अनुसार लिखते हैं । भगवान् व्यास के भाष्य के वचन स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं, क्योंकि वे अनुभवसिद्ध सत्य हैं ।

योगाङ्गों के अनुष्ठान से पंचपोरीवाली विपर्ययरूप अशुद्धि का क्षय होता है । उसके नाश से सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । ज्यों-ज्यों साधनों के अनुष्ठान किये जायेंगे, त्यों-त्यों अशुद्धि क्षीण होती जायगी । अशुद्धि-क्षय के साथ क्षयक्रमानुसारिणी दीप्ति बढ़ती चली जायगी । यह ज्ञानदीप्ति बढ़ती ही चली जायगी, जब तक कि विवेकख्याति प्राप्त न हो, यानी पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का स्पष्ट ज्ञान न हो । विवेकख्याति उदित होने पर साधन समाप्त हो जाते हैं ।

ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।

यत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम् ॥ १२६ ॥

(अपरोक्षानुभूति)

तत्त्वज्ञान हो जाने पर वह योगी सिद्ध योगिराज हो जाता है । तब उस योगी का जो स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) होता है वह मन और वाणी का विषय नहीं है । ज्ञानपूर्वक योगांगों के अनुष्ठान के दो फल हैं । पहला फल है— अशुद्धि का वियोग । जैसे कुल्हाड़ी वृक्ष को काटकर, यानी टुकड़े-टुकड़े करके वियोग का कारण है, वैसे ही योगांगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है । दूसरा फल—यह विवेकख्याति के प्राप्ति में कारण है । जो योगांगों के अनुष्ठान का फल है, वही क्रियायोग का भी फल है, 'यथा समाधिभावानर्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।' (२.२) यह क्रियायोग समाधि की सिद्धि के लिए तथा क्लेशों को शिथिल करने के लिए है ॥ २८ ॥

अब उन योगांगों का उपदेश करते हैं ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान- समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अष्टौ = ये आठ; अङ्गानि = (योग के) अङ्ग हैं ।

व्याख्या : क्योंजी ! कई अन्य योगशास्त्रों में 'षडङ्गो योग उच्यते ।' योग के छः अंग बताये हैं, यानी वे आसन को प्रथम अंग मानते हैं । उनमें यम-नियम शामिल नहीं हैं, क्योंकि आसनादि समाधि में उपकारी होते हैं, यम नियम नहीं । यह कोई दोष नहीं है । यम-नियम-पालन योगाधिकार देता है । यथाकामाचारियों को योगाधिकार नहीं होता । 'नाविरतो बुद्धिचरितान्नाशान्तः ।' (कठ० २.२४) यह ज्ञान अविरक्त, दुराचारी तथा अशान्त को न देना 'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।' (प्रश्नोपनिषद् १.१५) जो तपस्वी हैं तथा ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है, अर्थात् जो सत्यव्रती हैं, वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं । यम-नियमों में यम की प्रधानता बताने के लिये प्रथम यम का नाम लिया है । यमनियमयुक्त साधक को आसनादि उत्तर साधनों में स्थिरपद प्राप्त होता है । भगवान् कृष्ण भी गीता में कहते हैं 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।' (६.१४) योगसिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित रहना होगा । प्रथम सोपान पर चढ़े बिना ऊपर के सोपानों पर कोई नहीं चढ़ सकता ॥ २९ ॥

अब यथाक्रम यमादिकों का स्वरूप बताते हैं, क्योंकि स्वरूप जाने बिना उनका अनुष्ठान नहीं हो सकता ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः = अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच; यमाः = यम हैं ।

व्याख्या : यमों में सबसे पहले अहिंसा का व्याख्यान करते हैं । सर्वथा, सर्वात्मा से, सर्वप्रकार स्थावर जंगम सब भूतों का अनभिद्रोह, अपीडन अहिंसा कहा जाता है । यम-नियमों में अहिंसा सबसे प्रधान है । इसलिए मनवाणी-

काया से अहिंसा का सेवन करना चाहिए। सत्यादि उत्तर यमों का पालन अहिंसा के प्रयोजन के लिए है, क्योंकि अहिंसा ही सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह का मूल है। इन यमों के पालन से ही अहिंसा सिद्ध होती है। शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'यमाः अहिंसार्थाः' सत्यादि यम अहिंसा के अर्थ के लिये हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में 'अहिंसा सत्यमक्रोधः' इति (१६.२) अहिंसा सत्य अक्रोधादि को दैवी सम्पद् कहा है। 'दैवी संपद् विमोक्षाय' इति (१६.५) दैवी सम्पद् का अनुष्ठान मोक्ष के लिए होता है। बौद्धों ने, जैनियों ने 'अहिंसा परमो धर्मः।' अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा को सत्यादि से विरहित करके कोई सिद्ध नहीं कर सकता। गीता के प्रथम अध्याय के अभ्यास से अहिंसादि गुण स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

मोक्षधर्म में ऐसा कहा है -

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।

सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते । इति

जैसे हाथी की पैड़ में अन्य पदचारियों के पैड़ (Footprints) समा जाते हैं, वैसे ही सारे यम-नियम तथा धर्म और अर्थ भी अहिंसा में समा जाते हैं।

अहिंसा को निर्मल करने के लिए ही सत्यादि उपादेय हैं। प्राणियों के प्रति मैत्री आदि सद्भाव का पोषण भी अहिंसा-व्रत में सहायक है। अपने स्वार्थ के बिना त्यागे अहिंसा का आचरण कठिन हो जाता है। स्वार्थ के लिये अन्य को डराना, परुष वाक्य से अन्य के मर्म छेदना हिंसा है। अहिंसा के अनुष्ठान से सद्गुणों के भण्डार साधक में आ जाते हैं।

सत्य—जब मन और वाणी अर्थ (जो कहना चाहते हो) के अनुसार हों तब वह सत्य होता है। जैसा विषय देखा है, जैसा उसका अनुमान किया है, जैसा सुना है, उसीके अनुसार जब वाणी और मन हो, तब वह कथन सत्य कहा जाता है। अपना ज्ञान दूसरे को जनाने के लिए जिस वाक्य का प्रयोग किया जाय, वह वाक्य धोखा देने के लिए, अथवा भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिए अथवा अर्थशून्य नहीं होना चाहिए, तब वह वाक्य सत्य कहा जायगा। वह वाक्य दूसरे में वही ज्ञान उत्पन्न करे जो ज्ञान वक्ता को हो। महाभारत में द्रोणाचार्य की, अपने पुत्र अश्वत्थामा के वध के विषय में, कथा आती है। भीम ने अश्वत्थामा नाम के हाथी का वध कर दिया और द्रोणाचार्य को बताया कि उसका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। द्रोणाचार्य का अपने पुत्र

में बहुत स्नेह था। उसकी मृत्यु सुनकर द्रोणाचार्य भी प्राण-त्याग कर देता। द्रोणाचार्य ने भीम की बात का विश्वास नहीं किया और युधिष्ठिर से पूछा, 'आयुष्मान् ! सत्यधन ! तुम बताओ क्या अश्वत्थामा युद्ध में मारा गया ?' युधिष्ठिर ने अपने मन में अश्वत्थामा नाम के हाथी का विचार रखकर कह दिया कि 'यह सत्य है कि अश्वत्थामा मारा गया।' यह उत्तर युधिष्ठिर के यथार्थ बोध को द्रोण के प्रति प्रकट नहीं करता। इसके विपरीत द्रोण को यह बोध कराया गया कि उसका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। जो वाक्य सर्व-भूतोपकार के लिए प्रयुक्त हो, किसी के विनाश के लिए न हो, वह सत्य है। वाक्य कहने पर किसीका यदि उपघात हो जाय तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं है, परन्तु पाप ही होता है। म्लेच्छ लोग बात-बात में उच्चारण के अयोग्य निरर्थक वाक्य, बात बोलते हैं। यद्यपि उनकी बात दूसरे तक पहुँचती है परन्तु वह निष्प्रयोजन होती है, अतः ऐसा वाक्य सत्य नहीं होता। सत्य वाणी लोकहित साधनेवाली होनी चाहिये। जैसे कोई तापस सत्यव्रत होकर वन में तपता है। उससे डाकू लोग पूछते हैं, 'वह धनी पुरुष किस मार्ग से गया है ?' तपस्वी मार्ग बता देता है, तो ऐसा सत्य सत्याभास है, पुण्याभास है, क्योंकि उसका परापकार फल है। वह सत्य नहीं है। ठेठ सत्य होने पर भी, यदि वह प्राणियों के नाश के लिए हो तो वह सत्य नहीं है। सत्य अहिंसा को पुष्ट करता है। मनुजी ने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

सत्य बोले, प्रिय बोले। अप्रिय सत्य न बोले। सत्य को मोठा करके बोले। कटु करके न बोले। इसलिये योगी परीक्षा करके सर्वहित सत्य बोले। अल्प-भाषिता, मौनादि सत्य में सहायक हैं।

अस्तेय : पहले स्तेय के लक्षण बताते हैं। अशास्त्रपूर्वक (अवेध रूप से) दूसरे की लोभवश होकर वस्तु लेना, स्तेय (चोरी) कहा जाता है। उसका विपरीत अस्तेय अस्पृहारूप अस्तेय। ईशावास्य श्रुति कहती है 'मा गृधः कस्यस्वित् धनम् । १ ।' किसी के धन में लालच न रखे।

ब्रह्मचर्य : व्यासभाष्य कहता है 'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्य उपस्थस्य संयमः'—इन्द्रियों को वश में करके लिंग को संयम में रखना ब्रह्मचर्य है। परन्तु लिंग को संयत रखने पर भी स्त्रियों को देखने, वार्तालाप करनेवाला, उनके मर्मांगों (कामकेन्द्रों) को स्पर्श करनेवाला भी ब्रह्मचर्यवान् नहीं है।

अतः अन्य इन्द्रियों को भी काबू में रखना चाहिए। अब्रह्मचारो को कभी योगसिद्धि नहीं मिल सकती। ब्रह्मचर्य की अनन्त महिमा है।

अपरिग्रहः धन, सम्पत्ति, वस्त्र, अन्नादि भोगसामग्री का आवश्यकताओं से अधिक संग्रह परिग्रह कहा जाता है। इन परिग्रहों को अस्वीकार करना अपरिग्रह है। दूसरों पर निग्रह अनुग्रह किये बिना भोगों का जुटाना मुश्किल है। विषयों के संग्रह में कष्ट, रक्षा में कष्ट, उनके नष्ट होने पर कष्ट, उनमें संगदोष से कष्ट, इस प्रकार योगी परिग्रह को अस्वीकार करे। भगवान् ने भी गीता में योगाभ्यासी के लिए अपरिग्रह बताया है, 'एकाकी यत-चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।' (६.१०) योगी अकेला रहकर मन और देह को वश में करके तृष्णारहित और संग्रहरहित होकर योगाभ्यास करे। जीवन-रक्षामात्र के लिए उपयोगी सामान को छोड़कर अन्य सामान से रहित होना अपरिग्रह है।

यहाँ तक यम कहे हैं। यमों के पालन बिना कोई भी योगी पूर्ण नहीं हुआ है। कोई भी अनावश्यक परिग्रह स्वीकार करने पर, दाता के पाप साधक पर चढ़ जाते हैं। उसका मन दोन होता है। साधना की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है ॥ ३० ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः = जाति, देश, काल, समय (नियमविशेष) से अमर्यादित **सार्वभौमाः** = सर्व अवस्थाओं में अनुष्ठान किये जाने पर यमसमूह **महाव्रतम्** = महाव्रत कहा जाता है।

व्याख्या : वैसे तो यम प्रत्येक व्यक्ति के अनुष्ठान के लिए उपयोगी हैं, परन्तु योगी को तो अहिंसादि यम कठोरता से पालन करने पड़ेंगे। तब ये महाव्रत कहे जायेंगे। इनके पालन में छूट की या अपवाद की कोई गुंजाइश नहीं है। यह योगसाधना करनेवाले के लिए कहा है। अहिंसा का जो कि मुख्य यम है उदाहरण देते हैं। मैं गौ, ब्राह्मण की हिंसा नहीं करूँगा। यह जाति से सीमित अहिंसा महाव्रत नहीं है। मैं तीर्थों पर हिंसा नहीं करूँगा। यह देश से सीमित अहिंसा महाव्रत नहीं है। मैं एकादशी को हिंसा नहीं करूँगा। यह काल से संकुचित अहिंसा भी महाव्रत नहीं है। समय नियम को कहते हैं। यह काल से भिन्न है। मैं देवता तथा अतिथि के प्रयोजन-सिद्धि के अतिरिक्त हिंसा

नहीं करूंगा। यह समय (उद्देश्य, अवसर) से नियमित अहिंसा भी महाव्रत नहीं है। इसी प्रकार सत्यादि अन्य यमों में योजना कर लेना। जाति-देश-काल-समय से मर्यादित यमपालन असार्वभौम है। अहिंसादि यम सर्वथा पालने चाहिये—सब जातिदेशादि अवसरों पर भी, सब प्राणियों के प्रति बिना व्यभिचार के। तब इस प्रकार विशिष्ट हुए अहिंसादि सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं। यमपालन योगसिद्धि की आधारशिला है। यम के कमजोर होने पर सिद्धि नहीं मिलती। आगे के योगांगों में स्थिरता नहीं होती। यमों के सिद्ध होने पर स्थिति अन्य प्रकार से होती है। उस अवस्था में कमल्लेप नहीं चढ़ता ॥ ३१ ॥

अब योग के दूसरे अंग जिसे नियम कहते हैं, का वर्णन किया जाता है।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि = शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—(ये पाँच); नियमाः = नियम हैं।

व्याख्या : इन पाँच नियमों में तीन नियम अर्थात् तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान तो इस साधनापाद के प्रथम सूत्र (२.१) क्रियायोग में आ चुके हैं। वहाँ देखना चाहिए। इस सूत्र में शौच और संतोष ये दो क्रिया-योग से अधिक हैं। शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य शौच तथा आभ्यन्तर शौच। मृत्तिका जलादि से शरीर की बाह्य शौच की जाती है। अपवित्र मनुष्य कभी भी योगी नहीं बन सकता। भीतर की शौच इससे अधिक महत्त्व-शाली है। चित्त के मलों का, कामक्रोधलोभादि षड्रिपुओं का, मैत्री, करुणा, मुदितादि शुभवासनाओं से, प्रतिपक्षभावना से, बिना जल के ही, आक्षालन हो जाता है। मैत्रीकरुणादि शुभवासनाओं के अभ्यास से अन्तःकरण शुद्ध होता है। योगी को अन्तःशौच अधिक उपकारी है। अब संतोष का वर्णन करते हैं। प्राणयात्रा के लिए जो वस्तु वर्तमान हो उसी में अलंबुद्धि हो जाना संतोष। प्राणयात्रा-निर्वाह से अधिक सामग्री में तृष्णारहितता। तपः का अर्थ है द्वन्द्वों का सहन। सुख-दुःख, शीतोष्ण, भूख-प्यास के जोड़े द्वन्द्व कहलाते हैं। इनको सहन करना, बिना विलाप और खेद के। कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत, काष्ठमौन व्रत आदि भी तप में शामिल हैं। इन व्रतों को योगी यथायोग्यता,

यथासम्भव, यथावश्यकता करे। कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत विशेष पापों के क्षय के लिए करणीय हैं, अन्यथा नहीं। मोक्षशास्त्राध्ययन एवं प्रणव-गायत्री आदि पवित्र मन्त्र का जप स्वाध्याय कहलाता है। मोक्ष-धर्म ग्रंथों के अध्ययन से विषयचिन्ता क्षीण होती है, और परमार्थ में रुचि बढ़ती है। इष्टदेव का साक्षात्कार होता है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है सब शुभाशुभ कर्मों का परमगुरु ईश्वर में अर्पण कर देना। ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक् चेतनाधिगम तथा विघ्नों का नाश होता है। ईश्वरप्रणिधान से समाधि भी सिद्ध होती है। (देखिये सूत्र १.२३, १.२९, २.४५) ॥ ३२ ॥

यम-नियम के विरोधीभाव उत्पन्न होने पर योगी क्या करे ?

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कबाधने = यम-नियम पालन में यदि विरोधीभाव उपस्थित हों तो उनके प्रतिपक्ष-भावनम् = प्रतिपक्षी विचारों का बार-बार चिन्तन करे।

व्याख्या : साधना में विघ्न आते हैं। ये विघ्न साधक की परीक्षा लेते हैं। यदि साधक विघ्नों से धर्षित होगा तो योग-प्रगति रुक जायगी। यदि उनका मुकाबला करेगा तो विघ्न पलायन कर जायेंगे। ईश्वर पर दृढ़ भरोसा रखने से साधक विघ्नों को मार भगाता है। ये विघ्न हठ से काबू में नहीं आते। विघ्नों के हन्ता उनके विपक्षियों का चिन्तन करना चाहिए। उनके दोषों पर दृष्टि रखनी चाहिए। यमों के विरोधीभाव १. हिंसा, २. असत्य, ३. स्तेय, ४. अब्रह्मचर्य तथा ५. परिग्रह। नियमों के विरोधी-भाव, १. अशौच, २. असंतोष, ३. तप का अभाव, ४. स्वाध्याय का त्याग तथा ५. ईश्वर से विमुखता। जब वितर्कों का उत्पात हो, तो उनके प्रतिपक्षियों का चिन्तन करे। वितर्क के अनर्थों पर दृष्टिपात करे। यमों तथा नियमों के गुणों पर विचार करे। जैसे किसी साधक को क्रोध सताये तो क्षमा का गुणगान करे और क्रोध के घोर दोषों पर विचार करे। दान से लोभ दबता है। प्रेम से नफरत वशीभूत होती है।

अब भगवान् वेदव्यास की वाणी सुनिये। जब कभी इस ब्राह्मण (योगसाधक, मुमुक्षु) को यमादि धर्मों के विरोधीभाव चित्त में उदित हों, यथा 'मैं अपने अपकारी का वध करूँगा, झूठ भी बोलूँगा, उसका धन भी

हरण करूँगा। उसकी भार्या से व्यभिचार करूँगा। उसकी सब वस्तुओं का स्वामी हो जाऊँगा।' जब साधक इस प्रकार के अतिदीप्त उन्मार्ग में ले जाने वाले वितर्कज्वर से पीड़ित हो उठे, तो उसके प्रतिपक्षों की भावना करे, जैसे 'घोर संसारारिण से जलते हुए मैंने सर्वभूतों को अभयदान देकर योग की शरण पकड़ी थी। अब उन छोड़े हुए हिंसादि अधर्मों को ग्रहण कर मैं कुत्तों जैसा आचरण कर रहा हूँ। कुत्ता अपनी वमन की हुई वस्तु को चाटता है।' धिक् धिक्। यदि किसी प्रकार भी स्थिति काबू में न आये तो नारायण की शरण पकड़ लो। 'चन्द्रशेखर! चन्द्रशेखर! पाहि माम्। चन्द्रशेखर! चन्द्रशेखर! रक्ष माम्।' नारायण आपकी अवश्य रक्षा करेंगे। एक शराबी ने शराब छोड़ दी, पर निमित्त पाकर वह लालसा उठने लगी। तब उसने नारायण की शरण से अपनी रक्षा की। 'ऊदी ऊदी घटायें, मौसम सुहाना। इलाही मेरी आज तोबा बचाना।' सात्त्विक संकल्प को हरि तत्क्षण पूरा करते हैं, राजस-तामस को नहीं। सभी साधकों के सामने ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं। नारायण ही रक्षक होते हैं। योगसाधक को एक इष्टदेवता का भजन करते रहना चाहिए। योगी श्यामाचरण लाहड़ी राम के उपासक थे। भगवान् शंकराचार्य विष्णु के उपासक थे। हमारे गुरुदेव के उपास्यदेव भगवान् कृष्ण थे ॥ ३३ ॥

अब सूत्रकार वितर्कों का स्वरूप, प्रकार, कारणधर्म और फल बताते हैं।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

वितर्काः हिंसादयः = यम नियम के विरोधी अधर्म यथा हिंसा-अनु-तादि होते हैं, उनके तीन भेद हैं, **कृत-कारिता-अनुमोदिताः** = १. स्वयं किये हुए हिंसादि, २. दूसरों से कराये हुए तथा ३. अनुमोदन किये हुए। इनके तीन कारण हैं **लोभ-क्रोध-मोहपूर्वकाः** = १. लोभ के वशीभूत होकर जैसे मांस, चर्म प्राप्त करने के लिये हिंसा करना। २. क्रोध से प्रेरित होकर जैसे अपने अपकारी की हिंसा करना तथा ३. मोहवश होकर जैसे पशुबलि से धर्मा-चरण होगा इस भावना से बकरे, भैंसे आदि की हिंसा करना। लोभ, क्रोध तथा मोह भी त्रिविध हैं **मृदु-मध्य-अधिमात्राः** = १. मृदु, २. मध्य तथा ३.

अधिमात्र यानी तीव्र । इस प्रकार हिंसा सत्ताईस प्रकार की हुई । मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भी पुनः त्रिविध हैं, यथा 'मृदुमृदु, मध्यमृदु और तीव्रमृदु; मृदुमध्य, मध्यमध्य और तीव्रमध्य; मृदुतीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र । इस प्रकार हिंसा इक्यासी (८१) प्रकार की होती है । वही हिंसा फिर नियम विकल्प और समुच्चयभेद से असंख्य प्रकार की होती है । इसी प्रकार की विभाग-प्रणाली का अनृत, स्तेय, व्यभिचार तथा परिग्रह में भी योजना कर लेना ।

दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः इति = इन सब वितर्कों का अनन्त दुःख तथा अनन्त अज्ञानफल है । प्रतिपक्षभावनम् = इसे प्रतिपक्षभावन कहते हैं ।

व्याख्या : भगवान् व्यास इस विषय में उदाहरण के रूप में कहते हैं : 'हिंसक पहले वध्य का वीर्य (बल) नाश करता है (भूखा रखकर, बन्धनादि-पूर्वक) । फिर शस्त्रादि से मारकर उसे दुःख देता है । फिर उसे जीवन से छुड़ा देता है । वध्यपशु के बल को नष्ट करने से हत्यारे के स्वयं शरीर, इन्द्रिय आदि का बल, तथा पुत्र पौत्र घनादि उपकरण नष्ट हो जाते हैं । शस्त्र द्वारा पशु को दुःख देने से वह नरक में, तिर्यक्, पशु आदि योनियों में वैसा ही दुःख भोगता है । वध्य पशु के जीवननष्ट करने के फलस्वरूप वह वध्य पशु हिंसक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवननाशकारक मोहभय से पीड़ित रुग्णावस्था में वर्तमान रहकर मरण की इच्छा करते हुए भी, दुःखफल अवश्य भोग्य होने से बड़े कष्ट से लम्बे-लम्बे साँस लेता हुआ, जीता है । यदि किसी कारण से हिंसादोष का अपगम भी हो जाये तो सुखप्राप्ति होने पर अल्पायु होता है । यह युक्ति अनृत-स्तेयादि में भी यथासम्भव लगानी चाहिए । वितर्कसमूह के इस प्रकार के अवश्यंभावी अनिष्टफल का चिन्तन करके मन को वितर्कों में न लगाये । यही प्रतिपक्षभावन है ।'

भगवान् वेदव्यास ने वितर्कसेवन का कितना भीषण परन्तु यथार्थफल दिखाया है । इसके पठनमात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं । व्यासजी ने कटु सत्य बताकर साधकों का उपकार किया है और उनको सावधान किया है ॥ ३४ ॥

प्रतिपक्षभावना के द्वारा योगी के हिंसादि वितर्कसमूह अप्रसवधर्मा अर्थात् फलोत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं । तब यमादि अनुष्ठान से योगी को योग-सिद्धि ऐश्वर्य मिलते हैं, यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायाम् = अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर तत् सन्निधौ = उसकी सन्निधि में वैरत्यागः = सब प्राणियों की वैरभावना समाप्त हो जाती है ।

व्याख्या : इस सूत्र के अन्त में 'सर्वप्राणिनां भवति ।' सब प्राणियों में वैरभावना का त्याग हो जाता है । अहिंसा के स्थिर होने पर, उस योगी के निकट स्वाभाविक वैरियों में भी यथा अहिनकुलादियों में भी वैरत्याग हो जाता है । वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन करते हुए तुलसीदासजी अयोध्याकाण्ड में लिखते हैं—

खगमृग बिपुल कोलाहल करहीं ।

विरहित बैर मुदित मुनि घरहीं ॥

जब योगी अपने समीप शाश्वतवैरियों को भी वैर त्यागते देखे, तो यह समझ ले कि उसकी अहिंसा साधना सिद्ध हो गई है । अहिंसादिफल सिद्धिज्ञापक होते हैं ॥ ३५ ॥

अब सत्य स्थिर होने का चिह्न बताते हैं ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यप्रतिष्ठायाम् = सत्य में स्थिर होने पर (योगी का वाक्य) ; क्रियाफल आश्रयत्वम् = कर्म और उसके फल का आश्रय हो जाता है ।

व्याख्या : सत्यवादी के वाक्य से धर्माधर्म कर्मों का तथा उनके फल स्वर्ग-नरकादि की प्राप्ति होती है । यदि सत्य में प्रतिष्ठित योगी किसी अधर्मी को भी धर्मी कह दे, तो उसके सत्यवाक्य से वह धार्मिक हो जाता है । देवताओं के कहने से कि इस ब्राह्मण का मन धर्म में रमण करे, कुण्डधार मेघ की आराधना करनेवाला ब्राह्मण धार्मिक हो गया । यह कथा महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व के २७१ अध्याय में वर्णित है । एक ब्राह्मण यज्ञ करने के लिए सदा ही धन की इच्छा रखता था, परन्तु देवताओं की अर्चा करने पर भी वह धन न पा सका । तब उसने कुण्डधारनामक एक बादल को देखा और धन के लिए उसकी आराधना की । कुण्डधार सन्तुष्ट हो गया

और उस ब्राह्मण के उपकार में प्रवृत्त हो गया। तब उस बादल ने अपने भक्त ब्राह्मण के कल्याण के लिए मणिभद्र यक्ष से प्रार्थना की। मणिभद्र बोले, 'भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधस्यते मतिः।' (२७१.२९)। यह ब्राह्मण धर्मात्मा होगा और इसकी मति सदा धर्म में लगी रहेगी। विश्वामित्र के कहने से कि 'तुम स्वर्ग को प्राप्त होओ' राजा त्रिशंकु को स्वर्ग प्राप्त हुआ। अधिक क्या कहा जाय, उस सत्यप्रतिष्ठ योगी का वाक्य अमोघ हो जाता है। वाक्य का अमोघ होना सत्य में प्रतिष्ठा का सूचक है ॥ ३६ ॥

अब अस्तेय की दृढ़ स्थिति की पहचान बताते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायाम् सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायाम् = अस्तेय में दृढ़स्थिति होने पर सर्वरत्न-उपस्थानम् = सब रत्न उपस्थित होते हैं।

व्याख्या : धनसम्पत्ति धर्मशील के पास जाकर प्रसन्न होते हैं। जो योगी विषयों में अस्पृह हो गया है, उसको ही चारों दिशाओं में फैले हुए रत्न अपना दर्शन देते हैं। वे रत्न ऐसे पुरुष का आश्रय खोजते हैं, परन्तु उसको चाह नहीं होती। सब रत्नों का अनिच्छित प्रकट होना अस्तेय की दृढ़ता का सूचक है ॥ ३७ ॥

अब ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति की पहचान बताते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्य-लाभः = सामर्थ्य का लाभ होता है।

व्याख्या : ब्रह्मचर्यव्रत के दृढ़ पालन से निरतिशय सामर्थ्य का लाभ होता है। इस सामर्थ्य के प्राप्त होने पर योगी प्रतिघातारहित गुणों को अर्थात् अणिमामहिमादि सिद्धियों को बढ़ाता है। सब शुभार्थ प्रवृत्तियों में अप्रतिबद्ध वीर्य होता है। कोई भी बाधा उसको नहीं रोक सकती। स्वयं सिद्ध होकर,

ऊहापोहविक्षण होकर यानी खंडनमंडन में समर्थ होकर अपने विनीत शिष्यों में, साधु पुरुषों में ज्ञान, योगविद्या तथा उसके अंगों का ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

अब अपरिग्रह स्थिरता की पहचान बताते हैं ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये = अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर; जन्मकथन्ता-संबोधः = पूर्वजन्म कैसे हुए थे ? इस बात का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ।

व्याख्या : देहेन्द्रियादि संघात से संबंध का नाम जन्म है । उसकी कथन्ता, किंप्रकारता, यानी यह जन्म क्यों, किस प्रकार हुआ इत्यादि जिज्ञासाओं का बोध, साक्षात् ज्ञान हो जाता है, कब ? अपरिग्रह दृढ़ होने पर । मैं कौन था ? मैं किस प्रकार का था ? ये प्रश्न अतीत काल के संबंध में हैं । वर्तमान जन्म का स्वरूप भी जानना चाहता है । 'यह शरीर भूतों का समूह-मात्र है, या कुछ भिन्न है ?' आगे के बारे में भी जानना चाहता है । 'भविष्य में हम क्या होंगे ? किस प्रकार होंगे ?' इस प्रकार योगी अतीतकाल, वर्तमान-काल तथा भविष्यत्काल के जन्म का साक्षात् करता है, यानी उसको अपने पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म तथा भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है । यमों के स्थिर होने पर ये सब सिद्धियाँ होती हैं ॥ ३९ ॥

यमों से जायमान सिद्धियाँ बताकर अब नियमों से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ कथन करते हैं ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचात् स्व-अंगजुगुप्सा = शौच-पालन से अपने अंगों से यानी शरीर से नफरत होती जाती है । तथा परैः असंसर्गः = दूसरों के शरीरों से असंसर्ग होता है ।

व्याख्या : बाह्यशौच से दो सिद्धियाँ होती हैं । अपने शरीर में निन्द्य दृष्टि हो जाती है । काया के प्रति वैराग्य हो जाता है । काया को शुद्ध करने

के लिए बार-बार स्नान करता है, परन्तु नौ छिद्रों से बराबर मलस्राव होता रहता है। अतः इस शरीर से घृणा हो जाती है। दूसरे, स्वयं अपनी काया में दोष-दर्शन करनेवाला योगी दूसरों के अशुचि स्वभाव शरीरों से सम्पर्क नहीं रख सकता। शौच के स्थिर होने पर अपने शरीर की अशुचिता का साक्षात् दर्शन करता है। तब वह शरीर से विरक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

अब आभ्यन्तर शौच का फल बताते हैं।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-एकाग्र्य-इन्द्रिय-जय-आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च=चित्त की शुद्धि, मन की प्रीति, मन को एकाग्रता, इन्द्रियजय, आत्मदर्शन की योग्यता—ये पाँच सिद्धियाँ आभ्यन्तर शौच की स्थिरता होने पर आती हैं।

व्याख्या : इस सूत्र के अन्त में 'भवन्ति' यानी ये सिद्धियाँ होती हैं—इतना वाक्य जोड़ लेना चाहिए।

पहले-पहले की स्थिरता होने पर आगे-आगे स्थिरता मिलती है। शुचि के स्थिर होने पर सत्त्वशुद्धि यानी चित्त का मल क्षालन हो जाता है। चित्त में सत्त्व-गुण का उत्कर्ष होता है। तब सुमनता यानी मन में प्रीति, स्वच्छता, स्वतः ही आनन्द उदित होता है। तब प्रीतचित्त में विक्षेप के अभाव से एकाग्रता उत्पन्न होती है। तब मन के तन्त्र में रहनेवाली इन्द्रियाँ भी मनोजय के कारण वश में हो जाती हैं। इसके पश्चात् आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आ जाती है। शौच के स्थिर होने पर ये सिद्धियाँ मिलती हैं। अतः ये पाँच शौच-सिद्धियाँ मिलती हैं ॥ ४१ ॥

अब सन्तोष से उत्पन्न सिद्धि बताते हैं।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषात् = सन्तोष से; अनुत्तमसुखलाभः = जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।

व्याख्या : जिससे उत्तम सुख अन्य न हो वह अनुत्तम, सर्वोत्तम सुख कहा जाता है। सन्तोष से तृष्णा क्षीण होती है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में राजा ययाति का वाक्य उद्धृत किया है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम् ।

तां तृष्णां सन्त्यजन्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते ॥

(विष्णुपुराण ५.१०.१२)

जिस तृष्णा को दुष्टमतिवाले नहीं त्याग सकते; जो वृद्धावस्था में भी बूढ़ी नहीं होती, उस तृष्णा को विवेकशील त्यागकर सुख से भर जाता है।

भगवान् वेदव्यास ने भी अपने भाष्य में नीचे लिखा श्लोक दिया है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

जो सुख इस लोक में कामभोग से होता है, तथा जो स्वर्ग में महान् दिव्य-सुख है, वे तृष्णाक्षय के सुख का एक सोलहवाँ भाग भी नहीं हैं। तृष्णाक्षय का नाम ही सन्तोष है। तृष्णा प्रतिबन्ध के दूर होने पर चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता हो जाती है और सुख का आविर्भाव होता है ॥ ४२ ॥

अब तप की सिद्धि बताते हैं।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसः अशुद्धिक्षयात् = तप से अशुद्धि के क्षय होने पर काया-इन्द्रिय-सिद्धिः = काया और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

व्याख्या : अशुद्धि का अर्थ है तामस अधर्म गुण। यह अशुद्धि, आदि-शुद्धि का, आवरक (ढँकनेवाला) माना जाता है। तप से अशुद्धि के क्षय हो जाने से कायसिद्धि, अणिमा-महिमादि अष्ट सिद्धियाँ मिलती हैं तथा इन्द्रिय-सिद्धि उपलब्ध होती हैं। अणिमादि सिद्धियों को सूत्र (३.४५) में कथन किया है। इन्द्रिय सिद्धियों को सूत्र (३.४८) में बताया है। दिव्यदर्शन, दूर-दर्शन, दूरश्रवणादि इन्द्रियसिद्धियाँ हैं। ये सिद्धियाँ तप की पुष्टि की सूचक हैं। योगसाधना के ये आनुषंगिक फल हैं। मुख्यफल तो आत्मज्ञान है ॥ ४३ ॥

अब अगला स्वाध्यायसिद्धिसूचक सूत्र है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायात् = स्वाध्याय से; इष्टदेवतासम्प्रयोगः = इष्टदेवता की भली-भाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है ।

व्याख्या : प्रणव, गायत्री आदि मन्त्र-जप, जब प्रकृष्ट हो जाय, फलदायी हो जाय, तब अपने इष्टदेवता का योगी को दर्शन, सम्भाषणादि होता है । सम्प्रयोग का अर्थ दर्शन यानी जिस-जिस देवता का दर्शन योगी करना चाहता है, वही दर्शन देता है । देवता, ऋषि, सिद्ध, स्वाध्यायशील को दर्शन देते हैं तथा उसके कार्य भी साधते हैं ॥ ४४ ॥

अब ईश्वर प्रणिधान से सिद्धि बताते हैं—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वर प्रणिधानात् = ईश्वर-प्रणिधान से; समाधिसिद्धि = समाधिकी सिद्धि हो जाती है ।

व्याख्या : ईश्वर में सर्वभाव से छलछिद्ररहित होकर शरणागत होना । 'वासुदेवः सर्वमिति ।' (गीता ७.१९) । यह सब जगत् वासुदेव है । मैं उनकी शरण में जाता हूँ । सब कर्मों को अनन्यभाव से ईश्वर में समर्पण करना अव्यभिचारि भक्ति कहलाती है । ईश्वर-प्रणिधान से समाधि-सिद्धि होती है । तब योगी अपने ईप्सित वस्तुओं का समाधिबल से साक्षात्कार करेगा । समाधि-प्रज्ञा से योगी देशान्तर में दूसरों के देह में, और कालान्तर में होनेवाली घटनाओं का यथार्थ ज्ञान कर लेगा । क्योंजी ! जब ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध हो सकती है, तो अन्य सात योगांगों का अभ्यास व्यर्थ ही होगा । ऐसी बात नहीं है । ईश्वरप्रणिधान में ईश्वर लक्ष्य होता है । ईश्वर भक्ति से प्रसन्न होते हैं । ईश्वर प्रसन्न होने पर भक्त को अभीष्ट वस्तु देते हैं । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४.११) जो भक्त जिस भावना से मेरे शरणागत होता है, वैसे ही मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ । ईश्वर-भक्ति उभयात्मक है । उससे ईश्वर भी प्रसन्न होते हैं और समाधिसिद्धि भी मिलती है । दुर्गासप्तशती में राजा सुरथ और समाधिनामक वैश्य की कथा आई है । अगवती की आराधना से सुरथ राजा को राज्य मिला । समाधि वैश्य ने ज्ञान

मांगा था। भगवती ने उसे ज्ञान दिया। दुर्गा भगवती ने अपने श्रीमुख से कहा—

वैश्यवर्य ! त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः ।

तं प्रयच्छामि संसिद्धयै तव ज्ञानं भविष्यति ॥ (१३.२४, २५)

हे श्रेष्ठ वैश्य ! जो वर तुमने हमसे मांगा है, वही वरदान तुझे देती हूँ—तुम्हें मोक्ष के लिये ज्ञान मिलेगा। इस मंत्र से सम्पुटित दुर्गापाठ समाधि-सिद्धि देता है। ईश्वर-भक्ति के साथ यमादिकों का अनुष्ठान निर्विघ्न शीघ्रता से सिद्ध होता है। ईश्वरप्रणिधान से अहंकार गलित हो जाता है और आध्यात्मिक सिद्धि अचिर काल में हो जाती है। जो योगी भक्तिहीन होते हैं, उनको यमादिकों के अनुष्ठान में देर लगती है। उनके अहंकार भंग करने के लिये माया उनको बार-बार चपेटे देती है। ईश्वर-कृपा में सारे योगांग सम्मिलित हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के प्रसिद्ध योगी श्यामाचरण लाहड़ी रामभक्त थे। गीताशास्त्र ब्रह्मविद्या और योग का ग्रन्थ है। अतः ईश्वरप्रणिधान और योगांगानुष्ठान में विरोध नहीं है ॥ ४५ ॥

यम, नियम और उनसे होनेवाली सिद्धियों को बताकर अब योग के तीसरे अंग 'आसन' के बारे में बताते हैं।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

स्थिरसुखम् = जिस आसन पर बैठने से स्थिरता और सुख मिले वही आसनम् = आसन योगसाधना में उपयोगी है।

व्याख्या : मन स्थिर रखने के लिये शरीर को पहले स्थिर करना चाहिये। जिस आसन पर बैठने से शरीर हिले-डुले नहीं, शरीर को पीड़ा न हो और योगी सुखपूर्वक दीर्घकाल तक योगाभ्यास में बैठ सके वही आसन है। हठयोग में बहुत प्रकार के आसन बता रखे हैं, परन्तु वे सब योगाभ्यास में उपयोगी नहीं हैं। जिस आसन पर स्थिरता से बैठकर दीर्घकाल तक अजस्र ब्रह्मचिन्तन हो सके वही सही आसन है। शंकरभगवत्पाद अपरोक्षानुभूति में लिखते हैं।

सुखेनेव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।

आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥ ११२ ॥

जिस आसन में बैठने पर सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मचिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिये। दूसरे को नहीं, क्योंकि वह सुखनाशक होता है। जो योगी एक प्रहर एक आसन पर स्थिरता और सुखपूर्वक बैठ सकता है, वह आसन सिद्ध हो जाता है। जैसे कोई कोमल पर्यङ्क पर हाथ-पैर फैलाकर सोने से सुख अनुभव करता है, वैसे ही अपने सिद्ध हुए आसन पर बैठने से योगी सुखानुभव करता है। योगाभ्यास में निश्चल आसन आवश्यक है। भगवान् वेदव्यास ने निम्नलिखित आसनों के नाम दिये हैं : १. पद्मासन, २. वीरासन, भद्रासन, ३. स्वस्तिकासन, ४. दण्डासन, ५. सोपाश्रय, ६. पर्यङ्क, ७. क्रौञ्च निषदन, ८. हस्तिनिषदन, ९. उष्ट्रनिषदन, १०. समसंस्थान—ये सब स्थिर और सुखदायी होने से आसन कहे जाते हैं।

आत्मारामयोगी ने हठयोगप्रदीपिका में कहा है कि भगवान् शिव ने चौरासी आसन बताये हैं। उनमें से जो श्रेष्ठ चार आसन हैं, उन्हें कहता हूँ।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।

श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेन्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

‘सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। उन चारों में सुख का कर्ता जो सिद्धासन है, उसमें योगी सदा टिके। ये सब आसन प्रसिद्ध हैं। इनमें कोई एक छाँटकर अभ्यास करना चाहिये। सभी प्रकार के आसनों में मेरुदंड सीधा रखना चाहिये। भगवान् कृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में आसन के सम्बन्ध में इस प्रकार बताया है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ६.११ ॥

‘पवित्र देश में कुशा का आसन बिछाकर, उस पर मृगछाला और उसके ऊपर कोमल वस्त्र बिछाकर योग के लिये बैठे। अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थापन करे। आजकल मृगछाला का अभाव-सा है, अतः कम्बल प्रयोग करें। जब आसन स्थिर और सुखदायी होगा, तभी योगांगों में उसकी गणना होगी और वह फलदायी होगा ॥ ४६ ॥

आसन किन साधनों से सिद्ध होता है ?

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् = (उक्त आसन) प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से, ध्यान लगाने से सिद्ध होता है ।

व्याख्या : आसनसिद्धि में दो कारण बताये हैं । एक तो प्रयत्न की शिथिलता—यानी शरीर की शबवत् निष्प्रयत्न स्थिति । शरीर के हिलने-डुलने से मन चंचल होता है । शरीर को निष्कम्प रखने से शरीर-भूमि की एकभावता हो जाती है । यह शरीर भूमि में दृढ़ जमा हुआ है । पीछे शरीर को भूला जाता है । शरीर-स्थिति का ही ज्ञान नहीं रहता । इस साधना में पहले कुछ कष्ट होता है, पीछे सुख भी बहुत होता है । मन से अनन्त का ध्यान करे, जैसे आकाश का । जो वस्तु सीमित होती है, उसी में कम्पन होता है, उसीमें हलचल भी होती है । अनन्त वस्तु सदा अडिग रहती है, क्योंकि उसको हिलने-डुलने के लिये अवकाश ही नहीं होता । आकाश का ध्यान करने से मन भी आकाशवत् सर्वव्यापी हो जाता है । विज्ञानभिक्षु ने तथा वाचस्पति मिश्र ने अनन्त का अर्थ शेषनाग दिया है । अपने फणों पर विश्व-धारिणी मेदिनी को धारण करते हुए भी शेषनाग अचंचल अखेद रहते हैं । उनका ध्यान करने से मन भी अनन्त की भाँति अचंचल हो जायगा । अथवा भगवान् अनन्त के अनुग्रह से आसनजय हो जाता है । मन स्थिर होने से शरीर स्थिर रहेगा, शरीर और मन दोनों के स्थिर होने से आसनजयसिद्धि मिलती है । शरीर को स्वाभाविक प्रयत्न से उपरम करे तथा मन में अनन्त की धारणा करे । इन दो साधनों से आसन दृढ़ होता है ॥ ४७ ॥

अब आसनविजयसूचक चिह्न बताते हैं ।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

ततः द्वन्द्व-अनभिघातः—आसनजय से योगी द्वन्द्वों से ताड़ित नहीं होता ।

व्याख्या : आसनसिद्धि मिलने पर योगी को गरमी-सरदी, भूख-प्यास नहीं सताते । आसनस्थिर होने से द्वन्द्वों से बोधशून्यता हो जाती है । उनकी तरफ मन की दृष्टि ही नहीं पड़ती ॥ ४८ ॥

अब आसन के पश्चात् योग के चौथे अंग प्राणायाम के बारे में बताते हैं ।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

तस्मिन् सति = आसन के स्थिर होने पर श्वासप्रश्वासयोः = श्वास और प्रश्वास की गतिविच्छेदः = गति के रोकने को प्राणायामः = प्राणायाम कहते हैं ।

व्याख्या : बाहर की वायु को खींचकर भीतर धारण करना श्वास कहा जाता है । इसको पूरक भी कहते हैं । यह श्वास देह को पूरित करता है, इसलिये इसको पूरक कहते हैं । भीतर कोठे की वायु को नासिका द्वारा बाहर निकालना रेचक कहा जाता है । पूरक श्वास के पश्चात् वायु की गति रुक जाती है । इसी प्रकार रेचक प्रश्वास के पश्चात् भी वायु की गति रुकती है । श्वास की अन्तर्गति और प्रश्वास की बहिर्गति का विच्छेद, रोकना प्राणायाम कहा जाता है । साधारणतः श्वास-प्रश्वास बिना व्यवधान के चलते ही रहते हैं, परन्तु इस प्रकार वायु का गमनागमन प्राणायाम का स्वरूप नहीं होता । प्राणायाम तो तभी कहा जाता है, जब श्वास-प्रश्वास की गति को रोका जाये । प्राण को, जो निरन्तर परिश्रम करता रहता है, विश्राम की आवश्यकता है । प्राणायाम से प्राण को विश्राम मिलता है । कुम्भक प्राणायाम में रेचक-पूरक प्रयत्न के बिना केवल विधारक प्रयत्न से वायु को रोका जाता है । इसमें पूरक और रेचक दोनों की गति का अवरोध होता है ।

आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम सिद्धि नहीं होती । आसनसिद्धि तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि सभी योगांगों में आवश्यक है । इसलिये कुछ योगाचार्यों ने योग के आसनप्रभृति छः ही अंग बताये हैं । इसका यह अर्थ नहीं है कि आसनजय के बिना प्राणायाम ही न करे । योगांग एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं । योगसाधनों की पूर्ण पुष्टि तो आत्मदर्शन होने पर ही होती है । इस सूत्र में प्राणायाम के सामान्य लक्षण बताये हैं ।

अब हम वेदान्तियों का प्राणायाम बताते हैं । शंकरभगवत्पाद ने अपने ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में राजयोग के १५ अंगों में इनका वर्णन किया है ।

चित्तादि-सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥

चित्त, मन, बुद्धि तथा अहंकार-ये चार अन्तःकरण की मुख्यवृत्तियाँ हैं । चित्तादि सर्ववृत्तियों में ब्रह्मरूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध प्राणायाम (प्राणों का नियमन) कहलाता है । वेदान्त और योग में

विरोध नहीं है। अन्ततोगत्वा योग का लक्ष्य भी द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करना है। वेदान्त का योग प्रिय हितकारी बन्धु है। योग क्रियात्मक प्रधान है। वेदान्त विचारप्रधान है। योगसूत्रों ने, ब्रह्मविद्या का विचारात्मक अंग वेदान्तशास्त्रों में छोड़कर, उसके केवल क्रियात्मक अंग को अपनाया है। इसलिए योग ब्रह्मविद्या का उपकारी है। ब्रह्मविद्या ही योग की विश्रामभूमि है। प्रयोगसिद्ध ब्रह्मविद्या का नाम योग है ॥ ४९ ॥

अब प्राणायाम के तीन प्रकार के भेद बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः

परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः = (उक्त प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भवृत्ति (ऐसे तीन प्रकार का) होता है; (तथा वह) देश-कालसंख्याभिः = देश, काल और संख्या द्वारा परिदृष्टः = भलीभाँति देखा जाता हुआ; दीर्घसूक्ष्मः = लंबा और पतला (होता जाता है)।

व्याख्या : बाह्यवृत्ति-प्रश्वास को बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना बाह्यवृत्ति (बाहर की ओर जाने का व्यापार) अर्थात् रेचक प्राणायाम कहा जाता है। आभ्यन्तरवृत्ति-श्वास को भीतर भरकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना (प्राण का भीतर की ओर जाने का व्यापार) अर्थात् पूरक प्राणायाम कहा जाता है। स्तम्भवृत्ति—श्वास-प्रश्वास दोनों प्राणायामों की गति का अभाव करना, यानी सहसा जहाँ कहीं रोक देना स्तम्भवृत्तिनामक कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। जैसे कुम्भ में भरा हुआ जल निश्चल होता है, वैसे ही देह में वायु के निश्चल रूप से स्थित होने से इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल तथा संख्या से नापा हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है। कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का होता है। श्वास को बाहर निकालने के पश्चात् वायु को वहीं रोक देना तथा वायु का भीतर न जाने देना बाह्य कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। श्वास को भीतर खींचकर उसे वहीं रोक देना और बाहर न जाने देना आभ्यन्तर कुम्भक होता है। शुद्ध कुम्भक का स्वरूप अगले सूत्र में बतायेंगे। इन तीनों में प्रत्येक प्राणायाम तीन-तीन प्रकार का होता है।

ये तीनों देश, काल तथा संख्या द्वारा अभ्यस्त होने पर लम्बे और पतले हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास कितनी दूर तक जाते हैं, यानी इनके सञ्चार का क्षेत्र कितना है। जितनी दूर तक प्रश्वास जाय उतनी दूर उसका देश समझा जाता है। रेचक (बाह्यवृत्ति) प्राणायाम का देश इस प्रकार मापते हैं। रेचक से प्राण को बाहर फेंकने पर वह कितनी दूर जाता है। इसके लिये किसी निर्वातस्थित पात्र में हलको रूई रखो। प्रश्वास से जितनी दूरी पर रूई हिले उस दूरी को इंचों से या बालिशत से माप लो। यह फासला देशपरिदृष्ट कहलाता है, यानी श्वास की देशव्याप्ति। अभ्यास करने पर प्रश्वास की लम्बाई बढ़ जाती है। प्रश्वास को अभ्यास से बढ़ाते-बढ़ाते जब नासिका से बारह अंगुल की दूरी पर रखी हुई रूई हिलने लगे तब श्वास को दीर्घ सूक्ष्म समझना चाहिये। जैसे बाह्यवृत्ति प्राणायाम अभ्यास से बढ़ जाता है, ऐसे अन्तर्वृत्ति, यानी पूरक प्राणायाम की लम्बाई भी बढ़ती है। भीतर श्वास खींचने में वायु का स्पर्श चींटी के रेंगने के स्पर्श की भाँति प्रतीत होता है। यह श्वास अभ्यास से नीचे की ओर नाभि से पादतल तक और ऊपर की ओर मस्तिष्क तक जाता है। पूरक की लम्बाई का अनुमान श्वास के पिपीलिका-स्पर्शसदृश स्पर्श से किया जाता है। नाभिपर्यन्त पूरक के स्थिर होने पर श्वास को दीर्घ और हलका समझा जाता है। कुम्भक की देशव्यापी परीक्षा नहीं होती, क्योंकि कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है और न भीतर कुछ स्पर्श करता है।

कालपरिदृष्ट प्राणायाम-पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम में पृथक्-पृथक् जितना समय लगता है, उस समय से प्राणायाम का माप किया जाता है। प्राणायाम के समय को मापने के पुराने पैमाने के नाम मात्रा है। गोड़े की कपाली पर चारों तरफ हाथ फेरकर ताली बजाने में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं।

साधारणतः पूरक में जितना काल लगता है, कुम्भक में उससे चौगुना तथा रेचक में उससे दुगुना समय लगना चाहिए। गायत्री-जप से भी प्राणायाम का काल मापा जाता है। प्राणायाम मन्त्र को कुम्भक में तीन बार पढ़ना चाहिए। प्राणायाम मन्त्र इस प्रकार है, 'ॐ भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। आपो ज्योती रसोज्मृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।'।

एक बार मन्त्र जपने में जितना काल लगे उतने में पूरक करे। कुम्भक में चार बार जप करे तथा रेचक में दो बार। अपनी योग्यता के

अनुसार कुम्भक का काल दो या तीन मन्त्र का भी कर सकते हैं। अभ्यास शतैःशतैः बढ़ाना चाहिए। प्राणायाम में हठ न करे। अथवा ॐकार-जप का गुच्छा-सा बनाकर जप करते हुए प्राणायाम करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सात ओम् का समूह बनाये 'ॐ, ॐ, ॐ, ॐ, ॐ, ॐ, ॐ' इस गुच्छे को पूरक प्राणायाम करते हुए छः बार जपे। कुम्भक करते हुए २४ बार जपे तथा रेचक करते हुए बारह बार जपे। धीरे-धीरे अभ्यास करके स्वांस को दीर्घ-सूक्ष्म किया जा सकता है। पूरक में छः बार ॐकार समूह का जप आयत्त होने पर आठ, बारह बार करे। कुम्भक-रेचक प्राणायामों में इसी अनुपात से चौगुना तथा दुगुना जप करे। यह कालपरिदृष्ट प्राणायाम है।

संख्यापरिदृष्ट प्राणायाम—उद्घात क्रम में प्राणायाम के गतिविच्छेद को संख्यापरिदृष्ट कहते हैं। इसमें प्राणायाम के काल का माप साधारण श्वास-प्रश्वास की संख्या से होता है। साधारण आदमी एक मिनट में १५ श्वास लेता है। एक श्वास-प्रश्वास में चार सेकंड लगते हैं। एक श्वास प्रश्वास में जितना काल लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। योगी के एक प्राणायाम में (श्वास-प्रश्वास) जब १२ बारह मात्रा (४८ सेकंड) लगे तो इसे मृदु उद्घात कहते हैं। बारह मात्राओं का नाम एक उद्घात है। चौबीस मात्रा का प्राणायाम द्वि-उद्घात कहा जाता है। यह मध्य उद्घात होता है। छत्तीस मात्रा का तृतीय उद्घात होता है। यह तीव्र उद्घात कहा जाता है। भोजदेव ने नाभिमूल से श्वास उठाकर सिर तक जाने में जितना समय लगे उसे उद्घात कहा है। आचार्यों ने उद्घात को कई प्रकार से समझाया है। इसका सरल अर्थ इस प्रकार होता है—जितने समय तक श्वास या प्रश्वास को रोकने पर जब वायु त्याग या ग्रहण करने के लिए साधक उतावला हो, उतने समय का श्वास या प्रश्वास-रोध ही उद्घात होता है। बारह मात्रा तक समय प्रथम उद्घात होता है। दीर्घ का अर्थ है श्वास-प्रश्वास में अधिक समय लगना। सूक्ष्म का अर्थ है हल्का, पतला या श्वास-प्रश्वास में श्रमहीनता। यदि कोई नाक में रुई लगाकर श्वास या प्रश्वास ले या त्यागे तब यदि रुई स्पन्दनहीन रहे तो समझ लेना कि श्वास सूक्ष्म हो गया है। श्वास जितना सूक्ष्म होगा उतना ही दीर्घ होगा।

शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्मविद्या की दृष्टि से अपरोक्षानुभूति नामक अपने ग्रन्थ में प्राणायाम का वर्णन इस प्रकार किया है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।

ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥ ११९ ॥

ततस्तद्वृत्ति-नैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।

अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ॥ १२० ॥

नामरूप जगत् को मिथ्या जानकर द्वैताकार वृत्ति का उदय न होने देना रेचक का नाम प्राणायाम है। रेचक प्राणायाम में वायु त्यागते हुए यह भावना करें कि द्वैताकार वृत्तियों का त्याग हो रहा है। द्वैत का विष बारह निकल रहा है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ', ऐसी जो वृत्ति है, वह पूरक प्राणायाम कहलाती है। श्वास भरते हुए ऐसी भावना करे कि मैं ब्रह्म ही हूँ। श्वास के साथ ब्रह्म भावना का आलोक भी भीतर जा रहा है। अनात्मा की उपेक्षा और आत्मा का अनुसन्धान ही क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायाम हैं। अब कुम्भक प्राणायाम बताते हैं। उस ब्रह्माकारवृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति को पूरक प्राणायाम कहते हैं। इस वृत्ति की स्थिरता का नाम कुम्भक प्राणायाम है। यह पूर्वोक्त त्रिविध प्राणायाम मुमुक्षुओं का यानी स्वस्वरूप में जागने में यत्नशील साधकों का है। मूढ़ लोग नाक मसोसने को ही प्राणायाम कहा करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम को ब्रह्मविद्या-साधना का अंग बनाये। प्राणायाम ब्रह्मविद्या का सहायक साधन है। निज में साध्य नहीं है। प्राणायाम के साथ ध्यान, प्रणव-जप, सोऽहमादि-मन्त्रों का जप करना चाहिए। ध्यानरहित प्राणायाम शरीर में वायु को विकृत करता है तथा श्वासादि रोगों का भय रहता है। प्राणायाम-विधि गुरु से सीखनी चाहिए और शनैः-शनैः इसका अभ्यास करें। आत्माराम योगी हठयोग प्रदीपिका में कहते हैं—

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।

तथैव सेवितो वायु-रन्यथा हन्ति साधकम् ॥ (२.१५)

जैसे सिंह, वनहस्ती, शार्दूल—ये शनैः-शनैः वश में हो सकते हैं, वैसे ही प्राण भी शनैः-शनैः अभ्यास करने पर वश में आ सकता है। शीघ्रता करने पर कुपित सिंहादि जैसे रिंगमास्टर को, वैसे ही कुपित वायु साधक को नष्ट कर देता है। केवल प्राणरोध करना योगांग प्राणायाम या समाधि नहीं है। इसके साथ चित्तस्थैर्य का प्रयत्न रहना चाहिए। प्राणरोध और चित्तैकाग्रता मिलकर योगांग प्राणायाम कहा जाता है ॥ ५० ॥

प्राणायाम की बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति तथा स्तम्भन वृत्ति यानी तीन प्रकार के प्राणायाम-भेद बताकर अब उनकी अपेक्षा से प्राणायाम की चतुर्थ वृत्ति बतायी जाती है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपो चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपो = बाहर और भीतर के विषयों का आलोचन करनेवाला; चतुर्थः = चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या : गृहस्थ तथा सुकुमार साधकों के लिए चौथे प्राणायाम की विधि अति मधुर और उपयोगी है। यह क्रिया गुरु से सीखनी चाहिए। इसके प्राप्त होने का अर्थ योग की बड़ी निधि प्राप्त करना है। गुरु लोग इसको गुप्त रखते हैं, क्योंकि इसको गोपनीय कहा जाता है। महात्मा बुद्ध अपने अन्तरंग शिष्यों को यह विधि बताया करते थे। सदाशिव, ब्रह्मा, विष्णु, वसिष्ठ, दत्तात्रेय, गोविन्दपादाचार्य, गोरक्षादि इसके महान् आचार्य हैं। बौद्ध शास्त्रों में आनापानसति नाम से इस विद्या की प्रसिद्धि है। प्राण-अपान-श्रुति का अपभ्रंश ही आनापानसति है। हंसोपनिषद् में पार्वतो माता ने यह विद्या सनत्सुजात को सिखाई थी। सनत्सुजात ने गौतममुनि को सिखाई थी। 'अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिनां कोशसंनिभम्।' (हंसोपनिषद् ३) यह विद्या यत्रतत्र कहने योग्य नहीं है। यह योगियों की सिद्धियों की भाँति गोपनीय है। इससे समाधि-लाभ हो जाता है। इसको प्राणविद्या, हंसविद्या, प्राणयज्ञ, अजपागायत्री, आत्ममंत्र आदि नामों से कहते हैं।

भगवान् वेदव्यास ने भी अपने भाष्य में इस विषय पर ऊपरो बातें कही हैं। भीतरी बातें केवल अपने शिष्य को ही बताते हैं।

देश, काल तथा संख्या द्वारा बाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम परिदृष्ट होने पर, अभ्यास से दीर्घ सूक्ष्म होता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर वृत्ति (पूरक) प्राणायाम देश, काल तथा संख्या द्वारा परिदृष्ट होने पर अभ्यास से दीर्घ सूक्ष्म होता है। अभ्यस्त बाह्य-आभ्यन्तरवृत्तिपूर्वक उन दोनों की जो एक प्रयत्न द्वारा गति अभाव है, वही स्तम्भ-वृत्ति (कुम्भक) तीसरा प्राणायाम है। परन्तु श्वास और प्रश्वास के विषय देशादि के आलोचनापूर्वक अभ्यासक्रम से इन दोनों का जो गति अभाव है, वही चौथा प्राणायाम है।

क्योंजो ! स्तम्भवृत्ति यानी तीसरी वृत्ति कुम्भक प्राणायाम में और चौथे प्राणायाम में क्या अन्तर है ? दोनों में ही तो गति अभाव होता है। श्रवण करो। तीसरे प्राणायाम में, यानी कुम्भक में देश, काल तथा गति नहीं देखी जाती, चौथे प्राणायाम में देश, काल तथा गति देखी जाती हैं। तीसरे प्राणायाम कुम्भक में एक प्रयत्न द्वारा श्वास अवरुद्ध कर दिया जाता है। चौथा प्राणायाम शनैः-शनैः बहुत प्रयत्न साध्य है। इस प्रक्रिया में

कुम्भक होता ही नहीं। यह विद्या गुरुओं से सीखनी चाहिये। रेचक द्वारा श्वास को धीरे बाहर निकालिये। फिर पूरक द्वारा प्राण को भीतर भरिये। 'कुम्भको नैव विद्यते।' इसमें कुम्भक की अपेक्षा नहीं होती। फिर रेचक द्वारा वायु का विसर्जन कीजिये। वायु रेचन में पूरक की अपेक्षा अधिक काल लगना चाहिये। पूरक और रेचक मिलकर एक प्राणायाम कहलाता है। २८ प्राणायामों से आरम्भ करके एक प्राणायाम नित्य बढ़ाता जाये। १४४ प्राणायामों का एक चक्र (Course, Round) होता है। पूरक करते समय प्राण को मूलाधार से उठाया जाता है, और आज्ञाचक्र तक ले जाया जाता है, सहस्रार तक नहीं। मार्ग में आनेवाले प्रत्येक चक्र पर श्वास भरते समय तथा उत्तरते समय प्रणव की ठोकर दी जाती है। इससे श्वास दीर्घ और सूक्ष्म होता है। चित्त समाहित होता है। प्रकाश के दर्शन होते हैं। मुख की कान्ति बढ़ती है। शरीर स्वस्थ हो जाता है। इस प्राण-क्रिया को ब्रह्ममुद्रा, गुरुमुद्रा, तालव्य मुद्रा, नाभि मुद्रा से पीछे तथा योनिमुद्रा, महामुद्रा से पहले करे। यमनियम-पालन, आहार-संयम तथा गुरु-सेवा से यह क्रिया शीघ्र सिद्धिदायक होती है। श्रद्धा प्रधान धन है। गुरु की उपेक्षा किसी अवस्था में वाञ्छनीय नहीं है। इड़ा पिंगला का मेल होकर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है। भीतर के अनुभव होते हैं। इड़ा पिंगला का मिलन ही रेचक पूरक प्राणायाम का गति-अवरोध है। यही चौथा प्राणायाम है। चौथे प्रणायाम के उदय होने पर बाह्य जगत् शरीरादि का भान नहीं रहता। अन्तर जगत् के अनुभव होते हैं ॥ ५२ ॥

अब प्राणायाम के सिद्धिसूचक चिह्न बताते हैं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततः=प्राणायाम से प्रकाशावरणम्=प्रकाश को ढाँपने वाला आवरण क्षीयते=क्षीण होता है।

व्याख्या : प्राणायाम-अभ्यास करनेवाले योगी के विवेकज्ञान को ढँकने-वाला आवरण यानी दुष्कर्म क्षीण हो जाता है। इसका प्रकार नीचे लिखे वाक्य से वेदव्यास-भाष्य में कहा गया है 'महामोहमय, इन्द्रजाल, (भ्रमज्ञान माया से धोखा), चित्तसत्त्व, को जिसका कि प्रकाशशील स्वभाव है, ढँक कर

योगी को अधर्म-कार्य में जोड़ देता है।' पापरूप, क्लेशरूप कर्म को आवरण कहा गया है। प्राणायाम से प्रकाशावरक कर्म दुर्बल हो जाता है तथा प्रतिक्षण कमजोर होता जाता है। आसुरिमुनि के शिष्य पंचशिखराचार्य ने कहा है, 'तपो न प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्भूतानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।' प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। उससे मल निवृत्त होते हैं तथा ज्ञान का प्रकाश होता है।

मनु भगवान् ने भी इसी प्रकार कहा है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्णादि धातुओं के मल नष्ट होते हैं, इसी प्रकार प्राणों के निग्रह से इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं।

क्योंजी ! यदि प्राणायाम ही पापों को क्षीण कर सकता है तो तप की फिर क्या अपेक्षा रहेगी ?—'कायन्द्रियसिद्धिः अशुद्धिक्षयात् तपसः' (२.४३) तप से क्लेशादिलक्षणा अशुद्धि क्षीण होने पर काया की सिद्धि-शरीर को छोटा, बड़ा, भारी, हल्कादि कर लेना तथा इन्द्रियों की सिद्धि—दूर रखी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने आदि का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ठीक है। प्राणायाम से अशुद्धि दुर्बल होती है, तप से वह दुबली की हुई अशुद्धि क्षीण हो जाती है। क्योंजी ! यहाँ पापकर्म यानी क्लेशकर्म को विवेकज्ञान का आवरण क्यों कहा है ? ज्ञान का आवरण तो अज्ञान है। ब्रह्मज्ञान से तो समूल अज्ञान नष्ट होता है। ज्ञान के तीन आवरण हैं—दुष्कर्म, दुर्वासना तथा अज्ञान। यहाँ कर्म को आवरण कहने का अर्थ है दुष्कर्मजनित आवरण। उपासना से प्रणव गायत्री आदि पुण्य मन्त्रों के जप से दुर्वासनाजनित आवरण क्षीण होता है। यह स्थूल आवरण होता है ॥ ५२ ॥

अब प्राणायाम का दूसरा फल बताते हैं।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

च=तथा; धारणासु=धारणाओं में; मनसः=मन की; योग्यता=योग्यता (भी हो जाती है) ।

व्याख्या : प्राणायाम ही मन को स्थिर करके धारणाओं में योग्य बना देता है। यह बात सूत्र (१.३४) में की गई है। 'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।' प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से मन स्थिर हो जाता है। प्राणायाम से मन के दोष दूर होने पर, मन जिस-जिस विषय में लगाया जाता है, उस-उसमें एकाग्र हो जाता है, विक्षेप को नहीं प्राप्त होता। धारणा का वर्णन अगले पाद के प्रथम सूत्र में किया गया है ॥ ५३ ॥

अब योग के पाँचवें अंग प्रत्याहार का वर्णन करते हैं।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां

प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयासम्प्रयोगे=अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियों का; **चित्तस्वरूपानुकारः** इव=जो चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना है, वह; **प्रत्याहारः**=प्रत्याहार है।

व्याख्या : अपने शब्दादि विषयों के संयोग से रहित होना, तथा चित्त-स्वरूप के अनुकूल-सा होना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तो इन्द्रियाँ भी चित्त की नकल-सी करती हुई निरुद्ध हो जाती हैं। उनको अपने विषयों के प्रति धावन रोकने के लिये अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। व्यासजी ने यहाँ रानी मधुमक्खी का दृष्टान्त दिया है। जैसे रानी मधुमक्खी जब उड़ती है तो अन्य मधुमक्खियाँ भी उड़ने लगती हैं। जब रानी बैठती है तो वे भी बैठ जाती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त के निरुद्ध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं। क्योंकी ! 'अनुकारः इव' यहाँ 'इव' पद किसलिये दिया है ? जैसे मन करता है, उसी प्रकार करना अनुकार, अनुकरण कहलाता है। जब निरुद्धचित्त आत्माभिमुख होता है, तब इन्द्रियाँ आत्माभिमुख नहीं होतीं, क्योंकि इन्द्रियों का नाथ मन है और इन्द्रियों की पहुँच मन तक ही है, या वे अपने रोचक रंजक विषयों में लगी रहती हैं। इसलिये 'इव' पद कहा है। इन्द्रियाँ मन का पूरा अनुकरण नहीं कर सकतीं। इन्द्रियों का अपने विषयों से हटकर मन के अनुकार-सा होना प्रत्याहार कहलाता है।

इन्द्रियाँ बहुत बलवान् होती हैं। वे मन को खींचकर बलात् विषयों में जोड़ देती हैं। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।' (गीता-२.६०) इन्द्रियाँ बड़ी बलीयसी होती हैं, वे विवेकशील मन का भी मन्थन करके उसे बलात्कार से विषयों में खींच ले जाती हैं। इसलिए पहले इन्द्रियजय करनी चाहिये, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है, 'तस्मात्तन्मिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !' (गीता ३.४१) इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वश में कर, क्योंकि इन्द्रियाँ ही भोगों के अत्यन्त समीप हैं और मन उन्हीं के माध्यम से भोग करता है। इसके पश्चात् कामशत्रु को मार डालना। इन्द्रियों को खुला छोड़कर कोई भी मन को वश में नहीं कर सकता ॥ ५४ ॥

अब शंकरभगवत्पाद से लक्षित प्रत्याहार का विवेचन करते हैं—

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति-मञ्जनम् ।

प्रत्याहारः स विजेष्योऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥ १२१ ॥

(अपरोक्षानुभूति)

घटपटादि में अथवा शब्दस्पर्शादि विषयों में आत्मभाव (ब्रह्मभाव) को देखकर यानी ब्रह्म ही विषयों में परिणत सा हुआ भासित होता है, इस प्रकार भावना करके मन को नाम-रूप-क्रियानुसन्धानरहित चैतन्यात्मा में डुबो देना प्रत्याहार जानना चाहिये। मुमुक्षुगण इसका अभ्यास करें ॥ ५४ ॥

अगले सूत्र में प्रत्याहार का फल बताते हैं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः = प्रत्याहार के सिद्ध होने पर परमा वश्यता इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों की परमवश्यता हो जाती है।

व्याख्या : क्योंकि ! परमवश्यता से भिन्न अपरमवश्यता क्या होती है ? श्रवण करो। भगवान् वेदव्यास ने इस प्रकार बताया है।

१. कोई कहते हैं कि शब्दादि के प्रति आसक्तिरहित, रागरहित होना इन्द्रियजय है।

२. कुछ आचार्य कहते हैं कि शास्त्राविरुद्ध विषयों का सेवन तथा शास्त्रविरुद्ध विषयों का परित्याग इन्द्रियजय है।
३. कुछ आचार्य कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग करना इन्द्रियजय है।
४. कुछ आचार्य कहते हैं कि राग-द्वेष से रहित तथा सुखदुःखशून्य होकर विषयसेवन भी इन्द्रियजय है।
५. अब सूत्रकार के अभिमत परमवश्यता को महायोगी जैगीषव्य के मतानुसार बताते हैं। चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है। इन्द्रियजय के लिये अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रथम चार मतों में इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क बना ही रहता है, जिससे साधक के गिरने का भय भी बना रहता है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में लिखा है कि कोई भी विषयविद्यावेत्ता वशीकृत भुजंग को भी अपने अंक में भरकर सोता हुआ नहीं सुना है। इसलिये महायोगी जैगीषव्य का मत बिना शंका के परम वश्यता का स्वरूप बताता है। प्रथम चार मत अपरम वश्यता बताते हैं।

क्योंजी ! कोई भी योगी बिना भोजनपान किये तो जीवित नहीं रह सकता। जब भी योगी भोजन करेगा इन्द्रियों का और विषयों का संयोग होगा ही, तब आप इन्द्रियों के अपरम वशीकार को घटिया क्यों समझते हैं ? श्रवण करो। योगियों के लिये व्युत्थानकाल में इन्द्रियों का अपरम वशीकार होता है, भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है।

रागद्वेषवियुक्तेस्तु विषयानिन्द्रियेश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २.६४ ॥

अपने मन को वश में रखनेवाला पुरुष, राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ चित्त के प्रसाद (निर्मलता, स्वच्छता, प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। भगवान् कृष्ण, दत्तात्रेयादि महायोगी सदा ही सहजावस्था में रहते हुए सब लीला निभाते हैं। उनकी इन्द्रियों का सर्वकाल में परम वशीकार रहता है। उनका अपने विषयों में प्रवृत्त होना केवल

आभासमात्र, अबन्धनकारी होता है। इन महात्माओं का ज्ञान इतना दृढ़ होता है कि उनके पतन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। भीष्म पितामह ने भगवान् कृष्ण को सबसे बड़ा ब्रह्मचारी कहा है। इन्द्रियों की अपरम वश्यता योग की बहुत बड़ी उपलब्धि है। इन्द्रियों की परम वश्यता तो ब्रह्मज्ञान होने पर ही सिद्ध होती है।

इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यति-
यतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेसरी श्रोत्रिय.

ब्रह्मनिष्ठ, अनन्तश्रीविभूषित स्वामी ओंकाराश्रम जी
महाराज दंडी के शिष्य तथा ब्रह्मकुलभूषण पण्डित-
प्रवर हेमराज शर्मा एवं महायशा मोहरली.
देवी के सुपुत्र पण्डित मनोहरलाल शर्मा.

एम० ए० 'गुरुभक्त' अमिनच जनक
द्वारा पातञ्जल योगसूत्र साधनपाद
पर ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका
समाप्ता ॥ २ ॥

विभूतिपाद-३

अब योगदर्शन का तृतीय पाद आरम्भ होता है। दूसरे पाद में योग के अष्टांग साधनों का उल्लेख हुआ है। उनमें से सम्प्रज्ञात योग के पाँच बहिरंग-साधन बताये हैं। अब योग के तीन अन्तरंग साधन—धारणा-ध्यान-समाधि इस पाद में बतायेंगे। बहिरंग और अन्तरंग साधनभेद से पाँच बहिरंग साधन बताकर द्वितीय पाद की परिसमाप्ति हुई है। इन तीन साधनों की संहति (तीनों के संयुक्त प्रयोग) के कारण पृथक् पाद में इनको कहा है। इस पाद में विभूतियों की प्रधानता के कारण इसका नाम विभूतिपाद दिया गया है। योग में साधकों की अभिरुचि आकर्षित करने के लिये तथा श्रद्धा उत्पादन के लिए विभूतियों का कथन किया है।

क्योंजी ! क्या सिद्धियाँ योग के उत्तम साधकों को भी प्राप्त होती हैं ? समाधिपाद के अधिकारियों की उत्तम श्रेणी में गणना होती है। शास्त्रमार्ग के अनुसार अनुष्ठान करने से निश्चय ही योगसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु उत्तम अधिकारी विभूति-पक्ष में अधिक बल नहीं लगाते, क्योंकि इसी पाद के ३७वें सूत्र में स्पष्ट कह दिया है 'ते समाधायुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।' ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्नस्वरूप हैं, परन्तु व्युत्थानावस्था में सिद्धियाँ हैं। उत्तम साधक इस ओर नहीं जाते।

ज्ञानियों के मार्ग में भी सिद्धियाँ आती हैं। ब्रह्माजी ने परमहंसोपनिषद् में 'योगी-परमहंस' को सबसे बड़ा ज्ञानी बताया है, क्योंकि योगी होने से योगचमत्कार उसको आकर्षित नहीं करते। ज्ञानी होने से वह स्वरूप में स्थित रहता है। यदि वह केवल ज्ञानी होता तो सम्भव है, किसी समय योगियों की सिद्धियाँ देखकर विचलित हो जाय। यदि वह केवल योगी हो तो ज्ञान-वैभव से वंचित रहेगा। अतः योगी और परमहंस ज्ञानी ही सही ज्ञानी हो सकता है। हमारे श्री गुरुदेव, ओंकाराश्रमजी महाराज दंडी, विचार मार्ग से पार हुए हैं, तो भी हमने कई प्रकार की सिद्धियाँ देखी थीं, यथा उनका कर-स्पर्श रोगियों को रोगमुक्त कर देता था। उनके संकल्पमात्र से पुत्रार्थी को पुत्र-लाभ होता था। वे बैठे-बैठे ही दूरदेशगमन कर लेते थे। अपने भक्तों के समाचार जान लेते थे। मृतकों को प्राणदान का सामर्थ्य हमने उनमें प्रत्यक्ष देखा था। तो भी वे सिद्धियों को अंगीकार नहीं करते थे। उनके पास सबसे बड़ी सिद्धि

संकल्पसिद्धि थी। वह सिद्धि उनमें स्वाभाविक ही थी। सप्तर्षियों तथा मनुओं में समान सामर्थ्य होता है। दृश्य देखनेवाले यात्री की मंजिल देर में कटती है। जो सिद्धियों में उलझ जाता है, वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और उसका पतन भी होते देखा गया है। द्वैतप्रपञ्च ही तो सिद्धियों का क्षेत्र होता है। ज्ञानीजन सिद्धियों से भी विरक्त होते हैं। जब कभी उनसे कुछ योगिक चमत्कार हो जाता है, तो उसे ईश्वरेच्छा से हुआ मानते हैं। अपने योग-सामर्थ्य से हुआ नहीं मानते। योगिक सिद्धियाँ अहंकार को पुष्ट करती हैं तथा द्वैत में सत्यबुद्धि को दृढ़ करती हैं।

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार—योग के ये पाँच अंग अगले तीन अंगों से यानी धारणा-ध्यान-समाधि अंगों से बहिरंग हैं। धारणा-ध्यान-समाधि—ये योग के अन्तरंग साधन हैं। ये तीनों मिलकर संयम कहे जाते हैं। जिस किसी भी ध्येय विषय पर इन तीनों का सहप्रयोग किया जाता है यानी संयम किया जाता है तो उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

अब सबसे पहले योग के छठे अंग धारणा का वर्णन करते हैं।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

देशबन्धः चित्तस्य = चित्त को किसी विशेष वस्तु में आबद्ध करके रखना; धारणा = धारणा कहा जाता है।

व्याख्या : देश किसी स्थान, वस्तु या लक्ष्य को कहते हैं। यह देश आध्यात्मिक तथा बाह्य दो प्रकार का होता है। नाभिक्रम, हृदयकमल, मूर्धा की ज्योति, नासिका का अग्रभाग, जिह्वाग्र, कण्ठदेशादि आध्यात्मिक देश हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, देवातादि ध्यानदेश बाह्य कहलाते हैं। बाह्य विषयों में चित्त को वृत्तिमात्र से, ज्ञानमात्र से टिका देना, बाँध देना, धारणा कहा जाता है। इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाय तब उसको अन्य विषयों से हटाकर किसी एक ध्येय में बाँधना या वृत्तिमात्र से, स्वरूप से नहीं, धारणा कहा जाता है। जिस देश में चित्त को स्थिर किया जाता है, उसका ज्ञान होता रहता है। जब प्रत्याहृत इन्द्रियाँ स्वविषय को ग्रहण नहीं करतीं, तब ऐसी धारणा ही योग की अंगभूत होती है। धारणा-प्राप्ति योग की प्रथम उपलब्धि है। शंकरभगवत्पाद ज्ञान-दृष्टि से अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में धारणा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।

मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ १२२ ॥

‘जिस-जिस पदार्थ में मन जाय, उसी-उसी में उसके अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा मानी गई है ॥ १ ॥

अब योग के सातवें अंग ध्यान का स्वरूप बताते हैं—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र = धारणा के विषय में प्रत्यय-एकतानता = चित्तवृत्ति की एकाग्रता
‘ध्यानम्’ = ध्यान कहा जाता है ।

व्याख्या : हृत्पुण्डरीक, सूर्यादि देशों में जहाँ धारणा लगाई गई हो, उस विषय पर चित्तवृत्ति की एकाग्रता, एकतानता, एक-सा बना रहना, ध्यान कहा जाता है । दूसरी वृत्तियों का ध्यान में प्रवेश नहीं होना चाहिये ।

क्योंजी ! धारणा और ध्यान में क्या अन्तर है ? श्रवण करो । चित्त-वृत्ति को एक ध्येय विषय में बाँध रखना धारणा होती है । जैसे कोई सूर्य में धारणा लगाता है । तब उसका चित्त सूर्यबिम्ब को देखता है और सूर्य की मण्डलाकार किरणजाल को भी देखता है । किरणजाल सूर्यबिम्ब से संबद्ध है, परन्तु तत्सम्बन्धी प्रत्ययान्तर का विषय है, तो भी यानी प्रत्ययान्तर से परामृष्ट वह धारणा ही है । ध्यान वैसा नहीं होता । भिन्न जातीय दूसरी वृत्तियों से अपरामृष्ट एक वृत्तिप्रवाह ही ध्यान कहा जाता है । कोई भक्त अपने इष्टदेव के मुखमण्डल का ध्यान करता है । वह नेत्र, मस्तक, केश, कर्ण, वदनादि देखता है । चित्तवृत्ति बदल-बदल कर मुखसम्बन्धी भिन्न-भिन्न अवयवों पर जाती है । इसको यौगिक भाषा में धारणा कहेंगे, ध्यान नहीं, क्योंकि ध्यान में वृत्ति को एकतानता होती है । परन्तु भक्ति ग्रन्थों में यह भी ध्यान में गिना जाता है ।

अब शंकरभगवत्पाद द्वारा राजयोग (ब्रह्मज्ञान) की दृष्टि से अपने अन्य अपरोक्षानुभूति में कथित ध्यान की परिभाषा श्रवण करो :

ब्रह्मेवास्मीति सद्ब्रूया निरालम्बतया स्थितिः ।

ध्यानशब्देन ब्रूयाता परमानन्ददायिनी ॥ १२३ ॥

‘मैं ब्रह्म हो हूँ’ इस सत्यवृत्ति से जो निरालम्ब (देहादि अन्य पदार्थों के अनुसन्धानरहित) स्थिति है, वही ध्यान शब्द से प्रसिद्ध है। यह आत्मध्यान-वृत्ति परम आनन्द देनेवाली है ॥ २ ॥

अब योग के आठवें अंग समाधि का स्वरूप बताते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

तदेव = ध्यान में जब अर्थमात्र-निर्भासम् = केवल ध्यान का विषय अर्थात् ध्येयमात्र ही प्रकाशित रहता है और स्वरूपशून्यम् इव = ध्यान करने वाला चित्त भी अपने को भूल-सा जाय तब वही ध्यान ही समाधिः = समाधि बन जाता है।

व्याख्या : ध्यान में त्रिपुटी रहती है। एक तो ध्याता यानी ध्यान करने वाला साधक, दूसरा ध्यान अर्थात् ध्यानक्रिया (चित्त की एकाग्रता) तथा तीसरा ध्यान का विषय यानी ध्येय। ध्याता यह जानता है कि वह ध्येय वस्तु का ध्यान कर रहा है। जब यह ध्यान प्रगाढ़ हो जायगा तो ध्याता अपने को भी भूल-सा जायगा, यानी चित्त स्वरूपशून्य-सा हो जायगा। क्योंजो ! यदि चित्त स्वरूपशून्य हो जायगा तो ध्यान करनेवाला कौन रहेगा ? श्रवण करो। इसीलिए मुनि ने ‘इव’ शब्द का प्रयोग किया है। ध्याता तो रहेगा ही और ध्यान भी रहेगा, परन्तु ध्यान निविड़ होकर ध्याता और ध्यान की स्मृति भूली सी जायगी। पहले चित्तवृत्ति त्रिपुटी में बँटी हुई थी, परन्तु अब वृत्ति प्रधानतः ध्येयाकार होकर प्रकाशित होगी। तब ध्यान का नाम समाधि पड़ जायगा। यह लक्षण प्रथम पाद सूत्र १.४३ में निर्वितर्क समापत्ति का बताया गया है।

यह समाधि भी सबीज ही होगी, क्योंकि ध्येयाकार वृत्ति का ध्येय पदार्थ बीज होता है। जब ध्याता ध्यान तथा ध्येयाकार वृत्तियों का भी अभाव हो जाय तब सब वृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि होती है।

शंकरभगवत्पाद राजयोगांगों का वर्णन करते हुए अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं—

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥ १२४ ॥

पहले चित्तवृत्ति निर्विकार होगी, यानी एकरस एकाग्र होगी, फिर वह वृत्ति ब्रह्माकार होगी यानी सत्-चित्त-आनन्द स्वरूपिणी, अखण्डकार होगी। निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति का जाननेवाला चित्त रहेगा। जब अभ्यासबल से चित्तवृत्ति का सम्यक् विस्मरण हो जायगा यानी चित्त त्रिपुटीरहित हो जायगा, तब उस वृत्तिविस्मरण को ज्ञान नामवाली निर्विकल्प समाधि कहेंगे। यह चैतन्य समाधि होती है ॥ ३ ॥

धारणा-ध्यान-समाधि तीनों के समुदाय का नाम संयम है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

त्रयम् = जब धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का एकत्र = एक विषय पर ही एक साथ प्रयोग किया जाय तब उसे संयमः = संयम कहते हैं।

व्याख्या : जब योगी किसी एक पदार्थ का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उस पर पहले धारणा करता है, फिर उसका ध्यान करता है, पीछे उस पर चित्त समाहित करता है, यानी समाधि लगाता है। समाधि में उस पदार्थ का सर्वांग यथार्थज्ञान हो जाता है, जो कि ज्ञान की किसी सीमा है। धारणा, ध्यान तथा समाधि का एक ही विषय पर संघटित होना संयम कहलाता है। एकविषयक तीनों साधनों को संयम कहते हैं। इन तीनों की शास्त्रिक परिभाषा संयम है। इन तीनों का नाम बार-बार न लेना पड़े, इसलिये इनका सामूहिक नाम संयम बता दिया है। विभूतिपाद में अनेक स्थलों पर संयम नाम का निर्देश हुआ है।

अब संयम का फल बताते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तत् जयात् = उस संयम के सिद्ध होने पर प्रज्ञा-आलोकः = समाधि-प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

व्याख्या : धारणा, ध्यान, समाधि को एक विषय पर लगाने के अभ्यास के परिपक्व होने पर समाधिवृत्ति का प्रकाश उदित होता है। उस प्रकाश में

ध्येय का यथार्थरूप से ज्ञान होने लगता है। प्रत्ययान्तरों से अनभिभूत यानी अमिश्रित निर्मल वृत्तिप्रवाह में अवस्थान का नाम प्रज्ञा का आलोक है। जैसे-जैसे संयमजय में स्थिरता आयेगी, वैसे-वैसे ही समाधिप्रज्ञा का आलोक, दीप्ति, क्रम से निर्मल होता जायगा। संयम के सिद्ध होने पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ आने लगती हैं और अन्त में विवेकख्याति, आत्मा-अनात्मा-विवेक का साक्षात्कार हो जाता है। समाधिप्रज्ञा की विशारदता से अति सूक्ष्म पदार्थों का भी साक्षात्कार करने का सामर्थ्य हो जाता है।

प्राचीन भारत में धार्मिक राजा लोग ऋषि-मुनियों के वनस्थ आश्रमों का पालन-पोषण करते थे। विपत्तिकाल में ऋषियों के पास विनय से जाकर समस्याओं का समाधान पूछते थे। उस समय ऋषि लोग उन समस्याओं पर संयम लगाकर यथार्थ ज्ञान जानकर राजाओं को उपदेश देते थे। राजा लोग कृतार्थ होकर चले जाते थे। ऋषि-मुनि राज्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे और राजागण भी मुनियों की साधना में बाधक नहीं होते थे।

जब कोई मनुष्य संयमसाधन में सफल हो जाता है, विश्व की सारी शक्तियाँ उसके हाथ में आ जाती हैं। यह संयम ही योगी के हाथ में ज्ञानलाभ का प्रधान साधन है। संयम में सबसे प्रथम और सबसे कठिन साध्य धारणा है। इसके विजित होने पर योगसाधना की गाड़ी खटाखट चलती है और असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम स्टेशन पर निर्विघ्न पहुँचा देती है।

जो लोग कैवल्यमोक्ष के लक्ष्य को सामने न रखकर केवल सिद्धि-चमत्कारों में मन लगाते हैं, वे कुछ काल के पश्चात् पतित हो जाते हैं और अधोगति को प्राप्त होते हैं। एक योगी की कृपा से उसके एक शिष्य को संयम-जय सिद्ध हो गया। वह फाटका लड़ाया करता। थोड़े ही समय में उसके पास विपुल धनराशि एकत्रित हो गई। तब एक दिन शेखी में आकर उसने बता दिया कि वह आगे के भावों पर संयम करके उनका ज्ञान कर लेता है। इससे उसकी चाल सदा सफल होती है। गुरुजी ने मना किया कि वह संयम का दुरुपयोग न करे। वह शिष्य माना नहीं। तब गुरुजी ने उसे शक्तिरहित कर दिया। वह सब धन खो बैठा ॥ ५५ ॥

अब संयम का उपयोग बताते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य = उस संयम का विनियोगः = प्रयोग सोपानक्रम से भूमिषु = भूमियों में करना चाहिये ।

व्याख्या : संयम के प्रयोग में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये, नहीं तो योग-परिश्रम विफल जायगा । संयम से जो योगभूमियाँ जीत चुके हैं, उनसे अगली भूमि पर संयम करना चाहिये । जिन साधकों ने निम्नभूमि को नहीं जीता है, वे परवर्ती भूमियों को लाँघकर अन्तिम भूमि में संयम-लाभ नहीं कर सकते । इसलिये स्थूलविषय में सवितर्क समाधि को वशीभूत करके अविजित निर्वितर्क समाधि पर संयम का प्रयोग करना चाहिये । उसके भी वश में आने पर सविचार समाधि पर संयम करे । उसके भी वश में आने पर निर्विचार समाधि पर संयम करे । इसी प्रकार क्रम करके आनन्द अनुगत समाधि, अस्मितानुगत समाधि पर संयम करे । यदि ईश्वर के अनुग्रह से योगी का चित्त आरम्भ में ही उत्तर भूमियों में लगने लगे, तो उसे नीचे की भूमियों में संयम लगाने की जरूरत नहीं ।

क्योंजी ! यह कैसे पता लगे कि योगी की अगली भूमि कौनसी है ? श्रवण करो ! इसमें योग ही स्वयं गुरु है । इस भूमि से अगली योगभूमि कौन सी है, यह ज्ञान योगी को योगानुष्ठान स्वयं करा देता है । भगवान् वेदव्यास ने अपने भाष्य में निम्नलिखित श्लोक दिया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो, योगो योगात्प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

योग के अनुष्ठान से योग का अगला मार्ग ज्ञेय होता है, क्योंकि योगानुष्ठान से ही योग आगे बढ़ता है । जो साधक प्रमादरहित होकर एकनिष्ठा से योगाभ्यास करता है, वही योग में चिरकाल तक रमण करता है, यानी असम्प्रज्ञात समाधि में चिरकाल तक ब्रह्मानन्द भोगता है ॥ ६ ॥

क्योंजी ! साधनपाद में योग के आठ अंगों में से केवल पाँच अंगों का ही वर्णन क्यों किया ? श्रवण करो । योग के पहले पाँच अंग समाधि के बहिरंग साधन हैं । धारणा-ध्यान-समाधि अंतरंग साधन हैं । यही बात अगले सूत्र में बताते हैं ।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वभ्यः ॥ ७ ॥

त्रयम् अन्तरङ्गम् = ये तीनों अन्तरंग हैं, पूर्वभ्यः = पहलों की अपेक्षा से ।

व्याख्या : साधनपाद में बताये हुए योग के आठ अंगों में से ये तीन यानी धारणा, ध्यान तथा समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरंग साधन हैं यानी समाधिस्वरूप की प्राप्ति में भीतर के, नजदीकी, साक्षात् साधन हैं । किसकी अपेक्षा से ? पहलेवालों की अपेक्षा से अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इन पाँचों की अपेक्षा से । यम से प्रत्याहार तक योगांग-पंचक समाधि के बहिरंग साधन हैं, क्योंकि ये चित्त को निर्मल बनाकर योग के उपयोगी बनाते हैं ॥ ७ ॥

क्योंजी ! क्या इनसे भी अन्तरंग साधन होते हैं ?

तदपि बहिरङ्ग निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

तदपि = तो भी सम्प्रज्ञातसमाधि के ये अन्तरंग साधन निर्बीजस्य = निर्बीज समाधि की अपेक्षा से बहिरङ्गम् = बहिरंग ही हैं ।

व्याख्या : ये साधनत्रय सम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तरंग हैं, असम्प्रज्ञात समाधि के नहीं, क्योंकि सम्प्रज्ञात सबीज समाधि होती है । असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि होती है । विवेकख्याति के पश्चात् परवैराग्य-मात्र ही निर्बीज समाधि का अन्तरंग साधन होता है । वीजयुक्त साधनों की निर्बीज समाधि को आवश्यकता नहीं । साधनत्रय के अभाव से भी ईशकृपा से निर्बीज समाधि सिद्ध हो सकती है । सर्वेश्वरी दुर्गाभवानी के प्रसाद से समाधिनाम वैश्य को निर्बीज समाधि का लाभ हुआ । इसलिए साधनत्रय असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरंग उपयोगी नाधन हैं ॥ ८ ॥

क्योंजी ! असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं । कोई भी वृत्ति नहीं उठती, लेकिन चित्त तो त्रिगुणात्मक है । गुणों में परिणाम अवश्य होना चाहिये, अतः आप बतायें कि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का कैसा परिणाम होता है ? अगले सूत्र में बताते हैं—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध- क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः—अभिभव-प्रादुर्भावौ = व्युत्थान संस्कार का दबा रहना तथा निरोध संस्कार का प्रकट होना प्रत्येक निरोधक्षण-चित्त-अन्वयः = एक ही चित्त में जो परिणाम होता है वह चित्त का निरोध-परिणामः = निरोध परिणाम है ।

व्याख्या : चित्त तो पुरुष की भाँति अपरिणामी नहीं होता । उसमें परिणाम तो अवश्य होंगे ही । परिणाम का अर्थ है बदलना, अवस्थान्तर होना । सभी व्युत्थान संस्कार चित्तधर्म हैं । वे संस्कार चित्तवृत्ति नहीं होते । चित्तवृत्तियों के निरोध से संस्कार निरुद्ध नहीं होते । निरोध संस्कार भी चित्तधर्म ही है । निरोधसंस्कार का परिणाम अनुभव में नहीं आता, परन्तु उसमें परिणाम न हो यह भी असम्भव है । अतः सूत्रकार निरोध परिणाम का स्वरूप बताते हैं । व्युत्थान संस्कारों का दब जाना तथा निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव, प्रकट, उदय होना निरोध परिणाम होता है । अभिभव और प्रादुर्भाव का अर्थ है; व्युत्थान संस्कारों का कमजोर पड़ना, क्षीण होना तथा निरोध संस्कारों की वृद्धि, बलिष्ठ होना । ये दोनों प्रकार के संस्कार चित्त में ही होते हैं । दोनों प्रकार के संस्कारों का धर्मी चित्त ही होता है । असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से सम्प्रज्ञात समाधि ही इस सूत्र में व्युत्थान का अर्थ है । जिससे सम्प्रज्ञात समाधि निरुद्ध हो, उसे निरोध कहते हैं । इसलिए निरोध का अर्थ है ज्ञानप्रसाद, परवैराग्य । निरोधक्षण, निरोध संस्कार के अवसर पर चित्त व्युत्थान संस्कार तथा निरोध संस्कार दोनों में अनुगत रहता है । व्युत्थान संस्कार के अभिभव और निरोध संस्कार के प्रादुर्भाव के संघर्ष में चित्त खण्डित नहीं होता क्योंकि वह धर्मी है । संस्कार उसके धर्म हैं ।

क्योंजी ! जैसे अविद्या के निवृत्त होने पर क्लेश भी स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं और उनके निवारण के पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार संस्कार भी, वृत्तियों के निरोध से, क्यों न निवृत्त हों ? उनकी निवृत्ति के लिए निरोध का परिश्रम क्यों किया जाय ? श्रवण करो । यह ठीक है कि संस्कारों की उत्पत्ति वृत्तियों से होती है, परन्तु कारण के निवृत्त होने पर कार्य भी निवृत्त हो जाय, ऐसी बात सब काल में सत्य नहीं होती । ताँती के मर जाने से उसका बुना हुआ कपड़ा नष्ट नहीं होता । हाँ, आगे की

वृद्धि रुक जाती है। इसमें ताँती निमित्त कारण है, जैसे कि घटरचना में कुम्भकार निमित्तकारण होता है। परन्तु उपादान कारण के निवृत्त होने से निश्चय ही कार्य भी नष्ट हो जाता है, जैसे कि कम्बल में से धागे निकालने पर कम्बल नष्ट हो जाता है। वृत्तियाँ संस्कारों की उपादान कारण नहीं हैं। चित्त के नष्ट होने पर ही संस्कार नष्ट होंगे। इसलिए एक ही चित्त में संस्कार के इस प्रकार का प्रतिक्षण परिणाम निरोधपरिणाम है। उस समय चित्त संस्कारक्षेप होता है। यह बात निरोध समाधि में व्याख्यात हुई है (देखो १.१८ सूत्र)। जब चित्त निरुद्ध रहता है तो शून्य जैसी, आकाश जैसी चित्त की अवस्था होती है। उस समय कोई परिणाम लक्षित नहीं होता, परन्तु परिणाम होता है, क्योंकि निरोध संस्कार बढ़ता भी है और टूटता भी है ॥ ९ ॥

अब निरोध संस्कार का फल बताते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य=उस चित्त का प्रशान्त-वाहिता = प्रशान्त बहना संस्कारात् = निरोधसंस्कार से होता है।

व्याख्या : क्योंजी ! जब बलवान् निरोधसंस्कार से व्युत्थानसंस्कार सर्वथा दबा लिया जाता है, तो चित्त का किस प्रकार का परिणाम होता है ? उस निरोधावस्था में स्थित चित्त की प्रशान्तवाहिता-निश्चलरूप से निरोध-संस्कारों की धारा का बहना, व्युत्थानसंस्कारों के मल से रहित निरोधसंस्कारों का परम्परामात्र बहना—गति होती है। क्योंजी ! निरोधसंस्कारों को दृढ़ करने की क्या आवश्यकता है ? यदि निरोधसंस्कार मन्द पड़ जायेंगे तो व्युत्थानसंस्कार उनको फिर दबा लेंगे। इसलिये निरोधसंस्कार के नियमित अभ्यास से निरोधसंस्कार बलवान् होते हैं ॥ १० ॥

निरोध-परिणाम बताकर अब समाधि-परिणाम बताते हैं।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता-एकाग्रतयोः = सर्वार्थता और एकाग्रता का क्रमशः क्षय-उदयौ = क्षय और उदय होना ही चित्तस्य = चित्त का समाधि-परिणामः = समाधि-परिणाम यानी अवस्था है ।

व्याख्या : सर्वार्थता चित्त का धर्म है । एकाग्रता भी चित्त का धर्म है । चित्त सब प्रकार के विषयों की ओर जानेवाला है । चित्त में भोग और अपवर्ग ग्रहण करने की क्षमता होती है । सर्वार्थता चित्त की विक्षिप्त अवस्था का द्योतक है । परन्तु चित्त सब विषयों को छोड़कर केवल एक विषय में भी स्थिर हो सकता है । चित्त को एकमात्रविषयता को एकाग्रता कहते हैं । 'द्रष्टृदृश्योपरवर्तं चित्तं सर्वार्थम् ।' (सूत्र ४.२३) एक ओर दृश्य, बाह्य जगत् चित्त में प्रतिबिम्बित हो रहा है तथा दूसरी ओर चेतन द्रष्टा के प्रकाश से चित्त प्रतिबिम्बित है, इसलिए उसमें सब प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति होती है, यानी चित्त सर्वार्थक है । सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव और एकाग्रता का उदय, आविर्भाव—चित्त इन दोनों स्थितियों में अनुगत है । चित्त धर्मी है । सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय उसके धर्म हैं । सर्वार्थता और एकाग्रता उसके अपने कार्य हैं यानी धर्म हैं । इनके यथाक्रम क्षयकाल में और उदयकाल में चित्त अनुगत होकर समाहित होता है । इसे चित्त का समाधिपरिणाम, अवस्था कहते हैं ।

निरोधपरिणाम और समाधिपरिणाम का अन्तर समझ लेना चाहिये । निरोधपरिणाम में संस्कारों के क्षयोदय होते हैं । समाधिपरिणाम में संस्कार तथा वृत्तियों के क्षयोदय होते हैं ॥ ११ ॥

**ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥**

ततः = समाधि में पुनः = फिर शान्त-उदितौ = शान्त और उदित हुई तुल्यप्रत्ययौ = समान वृत्तियाँ चित्त में चालू रहती हैं, यह चित्तस्य = चित्त का एकाग्रता-परिणामः = एकाग्रता परिणाम है ।

व्याख्या : ततः का अर्थ समाधि में । शान्त का अर्थ अतीत वृत्ति । उदित का अर्थ वर्तमान वृत्ति । समाधि-अवस्था में चित्त की विक्षिप्त वृत्तियाँ सर्वथा दब जाती हैं तब चित्त एकाग्र हो जाता है । क्योंजी ! यह कैसे पता लगे कि चित्त एकाग्र हुआ है कि नहीं । मन के एकाग्र होने पर समयगति का ज्ञान नहीं रहता । समय पिण्डीभूत होकर वर्तमान बन जाता है । समाहित चित्त का पहले का प्रत्यय (वृत्ति) शान्त (अतीत) हो जाता है । और उसके समान ही उत्तर वृत्ति उदित (वर्तमान) होती है । समाहित चित्त दोनों भावों में अनुगत है । समाधिभंग तक उसी रूप में ही रहता है । यही चित्तरूप धर्मों का एकाग्र परिणाम है । तात्पर्य यह है कि समाधिकाल में भी चित्त बदलता रहता है, परन्तु चित्त जिस वस्तु को पकड़ता है, उसी में लगा रहता है, यानी चित्तवृत्तियाँ तो बदलती हैं, परन्तु जैसी वृत्ति दबती है, वैसी ही नयी उदित होती है । धर्मों चित्त का यही एकाग्रता-परिणाम है ।

क्योंजी ! इन परिणामों के व्याख्यान से क्या अर्थ सिद्ध होता है ? श्रवण करो । गुणवृत्तियाँ चलायमान होती हैं, अतः उनका महत्त्व गौण है । हमारा प्रयोजन अपरिणामी पुरुष को जानना है, जिसके जानने से जीव मुक्तबन्धन होता है । अतः परिणाम धर्मों की अनवस्थिति है, इसलिये इनसे वैराग्यभावना उत्पन्न करना प्रयोजन है । दूमरा और भी कारण है । योग-सिद्धियों की व्याख्या करने के विचार से तथा संयम का विषय शोधने के लिये क्रम से तीनों परिणाम कहे हैं ।

यह बात नोट कर लेनी चाहिये कि एकाग्रता-परिणाम तो सब समाधियों में होता है, चाहे वह सबीज हो चाहे निर्बीज हो । समाधि-परिणाम केवल संप्रज्ञात समाधि में होता है और निरोध-परिणाम असम्प्रज्ञात समाधि में होता है । एकाग्रता परिणाम में प्रत्ययरूप (वृत्तिरूप) चित्तधर्मों का निरोध होता है । समाधि-परिणाम में वृत्तिरूप चित्तधर्मों का तथा संस्काररूप चित्त धर्मों का निरोध होता है । निरोध-परिणाम केवल संस्कारों का होता है ॥ १२ ॥

चित्त के तीन परिणाम बताकर अब भूत और इन्द्रियों के भी परिणाम बताते हैं—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

एतेन = इससे (पिछले चार सूत्रों में चित्त के परिणाम वर्णन करने से) भूत-इन्द्रियेषु = भूतों में और इन्द्रियों में होनेवाले, धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणामाः = धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम भी व्याख्याताः = व्याख्यात समझने चाहिये ।

व्याख्या : नी से बारह सूत्रों तक चित्त के तीन प्रकार के परिणाम बताये हैं । इन सूत्रों में इन तीन प्रकार के परिणामों का नाम नहीं बताया है, अपितु निरोधपरिणाम, समाधिपरिणाम तथा एकाग्रतापरिणाम, ये तीन अन्य ही नाम दिये हैं । इनमें धर्म-लक्षण-अवस्था ये तीन परिणाम होते रहते हैं । इसी प्रकार मृत्तिकादि भूतों में तथा श्रोत्रादि इन्द्रियों में भी ये परिणाम होते हैं ।

पहले इन परिणामों को समझ लेना चाहिए । धर्म-परिणाम—चित्त धर्मी है । उस धर्मी चित्त के परिणाम उसके धर्म हैं । सब प्रकार के परिणामों में धर्मी चित्त अनुगत रहता है । जैसे मिट्टीरूपधर्मी जब अपना पिण्डरूप धर्म त्यागकर अन्य उत्पत्तिरूप घट-धर्म ग्रहण करता है, तब इसे धर्मपरिणाम कहते हैं । धर्मपरिणाम में धर्मी मृत्तिका ज्यों की त्यों रहती है । मिट्टी के पिण्डरूप धर्म का दबना तथा घटरूपधर्म का प्रकट होना मिट्टीधर्मी का धर्मपरिणाम है ।

लक्षणपरिणाम काल की दृष्टि से होता है । कालपरिणाम को लक्षण-परिणाम कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है । कालभेद से अनागत (भविष्य) लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण-परिणाम तथा अतीत (भूत) लक्षणपरिणाम तीन प्रकार के होते हैं । मिट्टी का घट, प्रकट होने से पहले, धर्मी मिट्टी में छिपा हुआ था । वह कभी भविष्य में प्रकट होगा, इसलिये उसे अनागत (भविष्य में प्रकट होनेवाला) लक्षण परिणाम कहते हैं । जब घट-रूप से प्रकट हो गया तो उसे वर्तमान लक्षणपरिणाम कहते हैं । जब घट टूटकर धर्मी मिट्टी में मिल जाता है तो उसे भूत लक्षणवाला परिणाम कहते हैं । तीनों कालों में धर्मी मिट्टी रहता है ।

अवस्था परिणाम—नूतनघट जब कालक्रम से पुरातन हो जाता है, तब उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं । अवस्था-परिणाम सब काल में होता रहता है । धर्म और लक्षणपरिणाम उत्पत्ति-समय में होते हैं ।

अब आप निरोधपरिणाम (सूत्र ९) में आइये। व्युत्थानधर्म का अभिभव तथा निरोधर्म का प्रादुर्भाव चित्तधर्मी के धर्मपरिणाम हैं। निरोधक्षण चित्त में व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कार अभिभूत होते हैं और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रकट होते हैं। व्युत्थान संस्कार जो वर्तमान रूप में थे वे अब भूतरूप में हो गये। यह उनका भूतलक्षण-परिणाम है। निरोध के संस्कार जो पहले अनागत रूप में थे, वे अब वर्तमान रूप में हो गये। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोधसमय का धर्मी चित्त व्युत्थान तथा निरोध संस्कारों में अनुगत रहता है। उस समय संस्कारशेषवाला चित्त होता है। (देखिये सूत्र १.१८) संस्कार चित्त के धर्म होते हैं, चित्त की वृत्तियाँ नहीं होतीं। वृत्तियों के निरुद्ध होने पर भी संस्कारों का निरोध नहीं होता। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के संस्कार शेष रहते हैं। वृत्तियों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। परन्तु वृत्तियाँ संस्कारों के निमित्त कारण होती हैं, उपादान-कारण नहीं। संस्कारों का उपादानकारण चित्त होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में संस्कार वर्तमान रूप में शेष रहते हैं। कैवल्य में चित्त अपने उपादान-कारण गुणों में लय हो जाता है, तब निरोध के संस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं। संस्कार तो धर्मी चित्त के साथ ही जाते हैं। अब आप समाधि-परिणाम में आओ। चित्त के सर्वार्थता धर्म का क्षय होना और एकाग्रता धर्म का प्रकट होना, चित्त का समाधि-अवस्था परिणाम होता है।

धर्मी चित्त के सर्वार्थता धर्म का अभिभव होना तथा एकाग्रताधर्म का प्रकट होना धर्मी चित्त का धर्म परिणाम कहा जाता है।

काल परिणाम को लक्षणपरिणाम कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—अनागत, उदित तथा भूत। समाधिपरिणाम में, एकाग्रतापरिणाम प्रकट होने से पहले अनागत (जो अभी आया नहीं है, जो भविष्य में आयेगा) भविष्यत् काल में छिपा रहता है। यह चित्त का अनागत लक्षण परिणाम है। जब यह धर्म छोड़कर, वह एकाग्रतापरिणाम वर्तमान में प्रकट होता है, तब इसे वर्तमान लक्षणपरिणाम कहते हैं। जब वह एकाग्रतापरिणाम अपना वर्तमान धर्म छोड़कर भूतकाल में छिप जाता है, तब इसे समाधि का अतीत लक्षणपरिणाम करते हैं।

मृत्तिका के घटरूपधर्म का प्रकट होने से पहले अनागत काल में छिपा रहना उसका अनागत लक्षणपरिणाम है। अनागत अवस्था से वर्तमान घट रूप में प्रकट होना वर्तमान लक्षणपरिणाम है। वर्तमान घटरूप का भंग होकर

अतीत मार्ग में चला जाना घट का अतीत लक्षणपरिणाम है। इसी प्रकार अन्य जल, अग्नि, वायु आदि भूतों में समझ लेना।

नेत्रेन्द्रिय को नील रंग देखने पर नीलरंग का ज्ञान होता है, पीत रंग देखने से पीतरंग का ज्ञान होता है। अब तीनों लक्षणपरिणामों को नेत्रेन्द्रिय के ज्ञान से समझो। धर्मी नेत्र के नीलादि ज्ञान के प्रकट होने से पहले अनागत काल में छिपा रहना, धर्मी नेत्र का अनागत लक्षणपरिणाम है। अनागत काल से नीलरंग ज्ञान का वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्षणपरिणाम है। वर्तमान काल से अतीत काल में छिप जाना अतीत लक्षणपरिणाम है। इसी प्रकार कर्ण, त्वचा, रसना तथा घ्राणेन्द्रियों में इन परिणामों को समझ लेना।

अवस्थापरिणाम—जब कोई द्रव्य अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में प्रकट होता है, तब उसका अवस्थापरिणाम होता है। इसी प्रकार वर्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में भी धर्मी का अवस्थापरिणाम होता है। ऐसे ही नेत्र धर्मी के नील पीत रूपादि के विषय में जो परिणाम होता है, वह नेत्र के धर्म का पीतादि आलोचन से नीलादि आलोचन में परिणाम को अवस्थापरिणाम कहते हैं।

धर्मी का धर्मों से, धर्म का लक्षणों (अनागत, वर्तमान, अतीत) से और लक्षणों का अवस्था से परिणाम होता है। गुणवृत्ति कभी भी परिणामशून्य नहीं होती। धर्मी में विकार नहीं होता। धर्मी के धर्मों में ही विकार होता है ॥ १३ ॥

ऊपर बताये हुए तीनों परिणाम जिस धर्मी के हैं, उस धर्मी का स्वरूप निरूपण करते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती = अतीत वर्तमान और आनेवाले धर्मों में जो अनुगत (व्यास) रहता है (आधाररूप में विद्यमान रहता है) वह; धर्मी = धर्मी है।

व्याख्या : धर्मी की प्रकट होने की योग्यतायुक्त शक्ति को धर्म कहते हैं। इस धर्म का सत्ता के उदित होने पर पता लगता है। एक ही धर्मी के बहुत

से धर्म देखे जाते हैं। धर्मी के धर्मत्रिविध हैं—शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य । जो भाव ज्ञायमान है वह उदित धर्म है । जो ज्ञायमान था, वह शान्त अर्थात् अतीत धर्म है, जो भविष्य में ज्ञायमान होने के योग्य है, वह अव्यपदेश्य धर्म है । सरलता से यों समझना चाहिये । शान्त—शान्त वे धर्म कहे जाते हैं जो अपना व्यापार करके भूतकाल में चले गये हैं । बोते हुए को भूत कहते हैं । उदाहरणार्थ, मान लो एक घट है । उसका स्वरूप हम देखते हैं । जब यह टूटकर चूर्ण होकर मृत्तिका में मिल जायगा तब कहते हैं कि घट वर्तमान धर्म से अतीत धर्म में चला गया । मटका धर्म शान्त हो गया । उदित—वर्तमान धर्म को उदित धर्म कहते हैं; जैसे मृत्तिकापिण्ड में घट छिपा हुआ है । जब घट मृत्तिकाभाव को छोड़कर, वर्तमान रूप घट में प्रकट होता है, तब मटके का प्रकट स्वरूप मिट्टी का उदित धर्म कहा जायगा । अव्यपदेश्य—जो भविष्य के गर्भ में छिपे हैं, जिनका निर्देश न किया जा सके, उन्हें अव्यपदेश्य धर्म कहते हैं । एक मिट्टीपिण्ड है । इसे देखकर कोई नहीं कह सकता कि इसमें से घट या सकोरा या कोई खिलौना प्रकट होगा । इसलिए अनागत धर्म को जो भविष्यत् में प्रकट होगा, जिसके बारे में निश्चय रूप से नहीं कहा जा सके, वह अव्यपदेश्य धर्म है । इन तीनों प्रकार के धर्मों में मृत्तिका सदा वर्तमान रहती है । अतीत धर्म का ज्ञान स्मृति से होता है । घट का चाहे वर्तमान धर्म हो, चाहे अतीत धर्म हो, चाहे अनागत धर्म हो, मृत्तिका प्रत्येक धर्म में स्यूत है, व्याप्त है । जहाँ जायगा धर्म वहीं जायगा, धर्मी ॥ १४ ॥

एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिए, परन्तु होते हैं बहुविध । इसमें क्या कारण है ?

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

परिणामान्यत्वे = परिणाम की भिन्नता में; क्रमान्यत्वम् = क्रम की भिन्नता; हेतुः = कारण है ।

व्याख्या : एक धर्मी के अनेक परिणाम होने में क्रम की भिन्नता है । जितने प्रकार के क्रम होते हैं, उतने ही प्रकार के परिणाम होते हैं, यथा मिट्टी

के कणों से मृत्पिण्ड बनना । मृत्पिण्ड से घटादि बनना, घटादि से टूटने पर कपाल होना, कपाल से ठेकरे (छोटे घट खण्ड) बनना, ठेकरों से मृत्कण बनना । ये भिन्न-भिन्न क्रम हैं । जिस धर्म का जो परवर्ती धर्म है, वही उसका क्रम है ।

पिण्ड छिप जाता है, घट उत्पन्न होता है । यह धर्मपरिणाम क्रम है । लक्षण परिमाण क्रम—घट का अनागत भाव से वर्तमान भावरूप क्रम है । उसी प्रकार घट का वर्तमानभाव से अतीतभावरूप क्रम होता है । अतीत का और क्रम नहीं होता, क्योंकि अतीत किसी का पूर्व नहीं होता, इसलिये उसका पर भी कुछ नहीं होता । अतः अनागत और वर्तमान इन द्विविध लक्षणों का ही परिणाम क्रम होता है । धर्म और लक्षणपरिणाम तो कभी-कभी होते हैं, परन्तु अवस्थापरिणाम प्रतिक्षण होता रहता है ।

ये सब क्रम धर्म और धर्मों का भेद रहने से उपलब्ध होते हैं । यह कोई नियम नहीं है कि धर्म धर्मों नहीं हो सकता । धर्म धर्मों का विवेचन अपेक्षाकृत है । घटादि को अपेक्षा से मृत्तिका धर्मों है । मृत्तिका गन्धतन्मात्रा का धर्म है । गन्धतन्मात्रा मृत्तिका का धर्मों है, परन्तु अहंकार का धर्म है । इसी प्रकार अहंकार भी महत्तत्त्व का धर्म है । महत्तत्त्व भी प्रधान मूलप्रकृति का धर्म है । इस प्रकार महत्तत्त्व तक धर्मधर्मोंभाव सापेक्ष है । मुख्य धर्मों प्रधान ही है जो किसी धर्म का नहीं । उसी धर्मों के ये सब परिणाम ही हैं । यह सारा जगद्विस्तार एक धर्मों का ही धर्मपरिणाम है । परिणाम का प्रकृत क्रम हम देख नहीं पाते, क्योंकि वह क्षण से अवच्छिन्न सूक्ष्म परिवर्तन है । अलिङ्ग प्रधान में जाकर धर्म-धर्मों का अभेद व्यवहार होता है ।

जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मपरिणाम होते हैं, उसी प्रकार चित्त के भी द्विविध धर्म हैं, परिदृष्ट और अपरिदृष्ट प्रत्यक्ष को परिदृष्ट कहते हैं, यथा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग-द्वेषादि चित्त की वृत्तियाँ प्रत्यक्षरूप हैं । भगवान् वेदव्यास ने चित्त के सात अपरिदृष्ट धर्म वताये हैं । निरोधादि चित्तधर्म प्रत्यक्ष से नहीं जाने जाते । इनको आगम या अनुमान से जान सकते हैं । भगवान् वेदव्यास ने सात परिदृष्ट इस प्रकार बताये हैं ।

‘निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥’

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति चित्त के अपरिदृष्ट (दर्शनवर्जित, परोक्ष) धर्म हैं—

१. असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का निरोध, 'संस्कारशेष' योग-शास्त्र से जाना जाता है। सर्ववृत्तियों के अभाव से निरोध का अनुमान किया जाता है और आगमगम्य हैं।

२. चित्त के धर्म, पुण्यपाप सुख-दुःखदर्शन से अनुमेय होते हैं और आगमगम्य हैं।

३. संस्कार—चित्त का संस्काररूप धर्म स्मृति द्वारा अनुमेय है।

४. परिणाम—चित्त का प्रतिक्षण होनेवाला परिणाम अतिसूक्ष्म होने से अनुमान से जाना जाता है।

५. जीवन—चित्त का जीवनरूप धर्म श्वास-प्रश्वास से अनुमेय है।

६. चेष्टा—चित्त की चेष्टा, शरीर तथा इन्द्रियों की चेष्टा से अनुमेय है।

७. शक्ति—व्यक्त कार्यों की सूक्ष्मावस्था को शक्ति कहते हैं। इसका अनुमान कार्यों से होता है ॥ १५ ॥

इससे आगे सर्वसाधनसम्पन्न योगी के जिज्ञासित विषय की अवगति के लिए संयम का विषय उपदिष्ट होता है। यहाँ से पाद की समाप्ति तक संयम का विषय और संयम की विभूतियाँ दिखायेंगे। सबसे पहले तीनों परिणामों में संयम तथा उससे प्राप्त होनेवाली सिद्धि बताते हैं।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

परिणामत्रयसंयमात् = (उक्त) तीनों परिणामों में संयम करने से;
अतीतानागतज्ञानम् = अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य-होनहार) का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या : धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्था परिणाम इन तीन प्रकार के परिणामों में संयम करने पर योगियों को धर्मी के भूतकाल का तथा भविष्यत् काल का ज्ञान हो जाता है। क्योंजी ! परिणामत्रय में संयम करने से किस प्रकार धर्मी के अतीत और अनागत का साक्षात्कार हो जाता है ? श्रवण करो। तीनों कालों में होने वाले संसार के सारे पदार्थ धर्म-लक्षण तथा

अवस्था परिणामों के अन्तर्गत रहते हैं। इन तीनों परिणामों के साक्षात् होने से, इन तीनों परिणामों में अनुगत वस्तुओं के सब क्रमों का अर्थात् जिस-जिस अवस्था में होकर जिस रूप में पहुँची है और आगे जिस-जिस अवस्था में वह वस्तु पहुँचेगी, सब ज्ञान हो जाता है, योगियों को संयम से साक्षात्कार होता है।

तात्पर्य यह है जब योगी को किसी वस्तु के त्रिकाल ज्ञान की अपेक्षा हो तो तीनों परिणामों में संयम कर ले। समाधिप्रज्ञालोक से सब साक्षात् हो जायेगा। जो विभूतिकामी हैं, वे ही इस प्रकार के संयम करें। जो मोक्षकामी हैं, वे केवल सत्त्वगुणान्यतामात्र विषय में संयम करें, किसलिए? परवैराग्य के उदय के लिए। धारणा-ध्यान-समाधि जब ये तीनों एक ही विषय पर केन्द्रित हों तब संयम कहा जाता है। संयम का विषय ३.४ सूत्र में कहा गया है।

त्रेतादि युगों में राजा लोग अपने राज्य में समाधिसिद्ध ऋषि मुनियों को अपने राज्य में रखते थे। उनके आश्रमों के खर्च देते थे। ऋषि लोग राज्य कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। अपनी अध्यात्म साधना में रत रहते थे। जब राजा पर या प्रजा पर कुछ कोप आता या कठिन समस्याएँ उपस्थित हो जाती, तो राजा लोग ऋषियों के पास जाकर समाधान पूछते थे। ऋषिगण समाधिस्थ होकर त्रिकालज्ञान बल से राजा की समस्याओं का यथार्थ समाधान करते थे। ऐसे लोकनायक ऋषियों की भारत में अब भी अपेक्षा है।

अब दूसरे प्रकार के संयम का विषय बताते हैं, तथा इस संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धि का भी वर्णन करते हैं।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रवि- भागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों का; इतरेत-
राध्यासात् = जो एक में दूसरे का अध्याय हो जाने के कारण, संकरः = मिश्रण
हो रहा है; तत्प्रविभागसंयमात् = उसके विभाग में संयम करने से, सर्वभूत-
रुतज्ञानम् = सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है।

व्याख्या : शब्द, उसका अर्थ तथा उसका ज्ञान—ये तीन भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु साधारण आदमी इनके सूक्ष्म भेद को नहीं जानता। जैसे 'गौ' शब्द है। शब्द वागिन्द्रिय का विषय है। जिस पदार्थ को गौ नाम से पुकारा जाता है, वह गोशाला में या गोचर भूमि में मिलेगी। गौ शब्द से जो ज्ञान होता है वह मन का विषय है। ये तीनों अभिन्न से होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। परन्तु तीनों का व्यवहार में संकर (खिचड़ी) हो जाता है। योगीगण इन तीनों के विभाग पर साक्षात्पर्यन्त संयम करने से शब्द, अर्थ तथा ज्ञान को जान लेते हैं। वे सब प्राणियों को बोली को समझ लेते हैं ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्=(संयमद्वारा) संस्कारों का साक्षात् कर लेने से पूर्वजातिज्ञानम्=पूर्वजन्मका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या : संस्कार दो प्रकार होते हैं। एक वासनारूप संस्कार जो कि स्मृतिज्ञान के कारण होते हैं। दूसरे धर्मावमरूप संस्कार जो कि जन्म, आयु और भोग के कारण होते हैं। जन्मजन्मान्तरों में जो अनुभव हुए हैं, उनका फल स्मृतिज्ञान होता है। जो संस्कार धर्म-अधर्मरूप कर्मों से हुए हैं, उनका फल सुखदुःख होता है। संस्कार चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं। संस्कार में संयम करने से संस्कार का साक्षात्कार होता है। क्योंकी ! जो अज्ञात संस्कार हैं उनमें तो संयम घटित नहीं हो सकता। जो संस्कार ज्ञात हैं, उनमें संयम करना व्यर्थ है ! ऐसी बात नहीं। शब्द से और अनुमान से संस्कारों का सामान्य ज्ञान हो जाता है, इसलिये विशेष ज्ञान के लिए उनपर संयम संभव है। संस्कार के साक्षात्कार के साथ उनसे सम्बन्धित पूर्वजन्म, जहाँ जन्म हुआ उस देश, काल, माता-पिता तथा जन्म के कारण का भी योगियों को ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार दूसरे व्यक्तियों के संस्कारों का साक्षात्कार होने पर उनके भी पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

इस विषय में श्रद्धा उपजाने के लिए भगवान् योगीराज जैगीषव्य तथा भगवान् यागीराज आवट्य का संवाद भगवान् वेदव्यास ने अपने भाष्य में दिया है। भगवान् जैगीषव्य को संस्कार साक्षात्कार से दस महासर्गों में अपने सभी जन्मों का ज्ञान हो गया था, तब उन्हें विवेकज्ञान प्रादुर्भूत हुआ। विवेकज्ञ-

ज्ञान का व्याख्यान इसी पाद के ५४वें सूत्र में हुआ है। भगवान् वेदव्यास ने आवट्य और जैगीषव्य महायोगियों का बड़े आदर से नाम लिया है और भगवान् शब्द उनके नाम के साथ जोड़ा है। महायोगी आवट्य ने जो कि लिंगशरीरमात्रविहारी थे, परीक्षा के लिए, निर्माण काय धारण करके महा-योगी जैगीषव्य से पूछा 'सत्त्वगुण' के उत्कर्ष के कारण प्रबल शुद्ध सत्त्वसम्पन्न बुद्धि से आपने दशमहासर्गों में नरक में तथा तिर्यक् योनि में जन्म से नाना प्रकार के दुःखों का उपभोग किया तथा देव और मनुष्य योनियों में बार-बार जन्म पाकर उनमें उत्पन्न सुख का अनुभव किया। आप बताओ कि इन जन्मों में सुख की अथवा दुःख की किसकी अधिक उपलब्धि है? भगवान् आवट्य को भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि 'सत्त्वगुण के उत्कर्ष' से प्रबल शुद्ध सत्त्वसम्पन्न बुद्धि से मैंने दश महासर्गों में नरक-निर्यक योनियों में जन्म के दुःख का अनुभव करके और देव मनुष्य योनियों में बार-बार जन्म पाकर जो कुछ सुखःदुःख अनुभव किया है उन सब को मैं दुःख ही मानता हूँ।' भगवान् आवट्य ने फिर पूछा 'हे आयुष्मान्। आपके जो प्रधानवशित्व (प्रकृति को क्षुब्ध करके जो चाहे करवाने का सामर्थ्य) तथा अनुत्तम सन्तोषसुख हैं, क्या उन्हें भी आप दुःख के अन्तर्गत गिनते हैं?' भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया, 'केवल विषय सुख की अपेक्षा से सन्तोषसुख को अनुत्तम कहा है, 'कैवल्य की अपेक्षा वह दुःख ही है। बुद्धिसत्त्व यह सन्तोषरूप धर्मत्रिगुण है, और त्रिगुण-प्रत्ययमात्र हेयपक्ष (त्यागने के पक्ष) में न्यस्त हुआ है। तृष्णातन्तु दुःखस्वरूप है। तृष्णादुःखसंताप का सन्तोष से नाश होता है। तब तृष्णा के दूर होने पर चित्त कष्टरहित हुआ प्रसन्न होता है। इस प्रकार तृष्णा की निवृत्ति द्वारा सर्वानुकूल सन्तोषसुख को उत्तम कहा है।' प्रश्नकर्ता भी महान है, उत्तरदाता भी महान् हैं। उनके प्रश्न भी महान हैं और उत्तर भी महान हैं। जो पाठक इस संवाद से हर्षित होंगे वे भी महान होंगे ॥ १८ ॥

अब दूसरे के चित्त के ज्ञान के लिए संयम प्रकार बताते हैं।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य = दूसरे के चित्त का (संयमद्वारा साक्षात्कार कर लेने से);
परचित्तज्ञानम् = दूसरे के चित्त का ज्ञान (हो जाता है) ।

व्याख्या : चित्तमात्र को भी प्रत्यय कहते हैं और चित्त के वृत्तिविशेष को भी प्रत्यय कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यय का अर्थ चित्तमात्र दिया है। प्रत्येक मानव की कुछ विशेषता होती है। जब योगी किसी व्यक्ति के मुखनेत्रादि को देखकर उस व्यक्ति के चित्त पर संयम करता है तो उस योगी को दूसरे के चित्त का साक्षात् हो जाता है। वह उसके मन के स्वभाव को जान लेता है कि इस समय वह चित्त रागद्वेषादियुक्त है अथवा विरक्त है। परन्तु वह योगी यह नहीं जान सकेगा कि किस विषय में उस पराये व्यक्ति का चित्त अनुरक्त या विरक्त है। केवलमात्र उस काल के चित्त का स्वभाव जान सकता है ॥ १९ ॥

क्योंजी ! ऐसा क्यों होता है ?

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

च = किन्तु; तत् = वह ज्ञान; सालम्बनम् = आलम्बनसहित; न = नहीं होता; तस्य अविषयीभूतत्वात् = क्योंकि (वैसा चित्त) योगी के संयम का विषय नहीं है।

व्याख्या : क्योंजी ! १८वें सूत्र में यह कहा है कि संस्कार के साक्षात्कार होने पर उससे सम्बन्धी देश-कालादि का भी साक्षात्कार हो जाता है तो क्या परचित्त के साक्षात्कार करने से, उस चित्तसम्बन्धी विषयों का भी साक्षात्कार होता है कि नहीं ? इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि उस चित्त के आलम्बन के विषय, यानी चिन्तनविषय का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि योगी के संयम का विषय परचित्त है, उसके आलम्बन का नहीं। योगी को केवल परचित्तमात्र का ज्ञान होता है। चित्त के अनुबन्धों का, यानी चित्तवृत्तियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता। यदि योगी परचित्त के भावों को जानना चाहेगा तो उसे दोबारा चित्तभावों पर संयम करना पड़ेगा। तब साक्षात्कार होने पर योगी परचित्त के समस्त भावों को जान सकेगा ॥ २० ॥

अब दूसरी सिद्धियाँ बताते हैं।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा- सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

कायरूपसंयमात् = शरीर के रूप में संयम कर लेने से; तद्ग्राह्यशक्ति-
स्तम्भे = जब उसकी ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब; चक्षुःप्रकाशा-
सम्प्रयोगे = चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण; अन्त-
र्धानम् = योगी अन्तर्धान हो जाता है।

व्याख्या : शरीर का रूप होता है। नेत्र रूप को देखती है। यदि योगी
को यह इच्छा हो कि उसके शरीर को कोई न देखे तो वह काया के रूप पर
संयम कर लेता है। इससे काया में जो रूप दिखाई देने की शक्ति है, वह ग्राह्य-
शक्ति स्तम्भित हो जाती है। दूसरे लोग चक्षु और प्रकाश के होते हुए भी
योगी की काया को नहीं देख सकते, क्योंकि चक्षु के प्रकाश को काया देखने
का अवसर ही नहीं मिलता। इसे योगी का अन्तर्धान होना कहते हैं।
(अन्तर्धान—छिप जाना) मान लो, कोई योगी कमरे में खड़ा है। वह
संकल्पमात्र से काया के रूप पर संयम कर लेता है तो दर्शक लोगों के नेत्रों
का योगी के शरीर के साथ सम्पर्क नहीं हो सकेगा और अन्तर्धान हो जायगा।
योगी कमरे से बाहर नहीं जाता, वहीं खड़ा है, पर उसने रूपग्राह्यशक्ति को
स्तम्भित कर दिया है। इसी प्रकार योगी शब्द, स्पर्श, रस और गंध में संयम
करने से उस-उस विषय की ग्राह्यशक्ति रुक जाती है और इन्द्रियों की शक्ति रहते
हुए भी इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकेंगी। कुछ बाजीगरों में
भी इस प्रकार की जन्मजात सिद्धियाँ होती हैं, पर वे योगी नहीं होते ॥ २१ ॥

अब मृत्युज्ञान के विषय में बताते हैं—

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त- ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सोपक्रमम् = उपक्रमसहित; च = और; निरूपक्रमम् = उपक्रमरहित—
ऐसे दो प्रकार के; कर्म = कर्म होते हैं; तत्संयमात् = उनका संयम कर लेने से
(योगी को); अपरान्तज्ञानम् = मृत्यु का ज्ञान हो जाता है; वा = अथवा;
अरिष्टेभ्यः = परिशेषों से भी (मृत्यु का ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या : आयु को पकानेवाले यानी पूरा (समाप्त) करनेवाले कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक सोपक्रम, दूसरा निरूपक्रम। एक जीवन में जिन-जिन कर्मों ने फल देकर आयु को समाप्त करना है, वे दो प्रकार के हैं—जन्म आयु, तथा भोग के हेतु कर्म जब अपना कार्य पूरा कर लेते हैं, तब कर्म-विपाक होता है, और शरीरपात हो जाता है। सोपक्रम वे कर्म हैं जो अपने फल देने में आरूढ़ हो गये हैं, जो वेग से भोग दे रहे हैं, यानी आयु समाप्त करने का काम पूरे वेग से कर रहे हैं। चूँकि एक व्यक्ति अनेक कर्मभोगों को सहसा नहीं भोग सकता इसलिये कुछ कर्म मन्दवेगवाले हैं, जिन्होंने अभी कर्मभोग देने आरम्भ नहीं किये हैं, जो अपनी क्रिया आरम्भ करने में इन्तजार कर रहे हैं, उन्हें निरूपक्रम कर्म कहते हैं। अपरान्त शरीर के वियोग को कहते हैं। जब योगी दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करता है तो उसे संशय-रहित यह ज्ञान हो जाता है कि उनकी आयु कितनी शेष है। किस देश, किस काल, किस घड़ी उनका शरीर से वियोग होगा।

क्योंजी ! ऐसा सुनते हैं कि कुछ योगी अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहें शरीर छोड़ सकते हैं। यदि ऐसी बात है तो जिनके कर्मभोग अभी पूरे नहीं हुए हैं, वे कर्मविपाक से पहले शरीर कैसे छोड़ेंगे ? श्रवण करो। योगी सोपक्रम और निरूपक्रम कर्मों में संयम लगाकर ठीक जान लेता है कि कितने कर्मफलभोग बाकी हैं। उनको जानकर योगी अपने बहुत से शरीर निर्माण करके, और कर्मफलों को विविध देहों से सहसा भोगकर शरीर यथेच्छा छोड़ देता है।

अथवा अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। अरि शत्रु को कहते हैं। जो अरिबन्ध त्रास दे उसे अरिष्ट कहते हैं। अशुभ शकुन, चिह्नों को अरिष्ट कहते हैं। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं—(१) आध्यात्मिक—कानों को बन्द करने पर भी अन्दर की ध्वनि न सुनाई पड़ना। आँखों को हाथों से दबाने पर भी ज्योति चिनगारियों का न दिखाई पड़ना। ये चिह्न मृत्यु को बतलानेवाले होते हैं। (२) आधिभौतिक—यमदूतों का सामने आकर खड़ा हो जाना। पितरों का प्रकट होकर चलने की सूचना देना। (३) आधिदैविक—अकस्मात् स्वर्ग का अथवा सिद्धों का दिखाई देना। सब कुछ उलटा-पलटा दिखाई पड़ना।

इस प्रकार के चिह्नों से यह जाना जाता है कि मृत्यु उपस्थित हो गई है।

कर्मों पर संयम द्वारा मृत्युज्ञान तो योगियों को ही होता है। अरिष्टों द्वारा मरणज्ञान योगियों और साधारण मनुष्यों को होता है। अरिष्टों से मृत्यु का सामान्य ज्ञान होता है। योगियों को संशयरहित देशकालसहित मृत्युज्ञान होता है। हमारे गुरुदेव को काशीपुरी अधिपति भगवान् विश्वनाथ मृत्यु का समाचार देने आये थे। उन्होंने अपने अन्तिम पत्र में मुझे लिखा था कि शरीर-लीला समाप्त होनेवाली है। भगवान् विश्वनाथ आ चुके हैं ॥ २२ ॥

चित्तशुद्धि से होनेवाली सिद्धियों को बताते हैं।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिषु = मैत्री आदि भावनाओं में (संयम करने से) (मैत्री आदि विषयक); बलानि = बल मिलते हैं।

व्याख्या : १.३३ सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा—ये चार भावनाएँ बताई हैं। संयम करने के लिये केवल तीन ही भावनाएँ हैं। उपेक्षा-भावना में संयम करने से कोई बल नहीं मिलता। सुखी प्राणियों में मैत्री-भावना करने से मैत्रीबल को प्राप्त करता है। मैत्रीबल प्राप्त होने पर योगी जीवलोक को सुखी करता है। वह सबका हितकारी बन जाता है। दुःखितों में करुणाभावना में संयम करने से योगी करुणाबल प्राप्त करता है। करुणाबल दुःखी प्राणियों का दुःखों से अथवा दुःखकारणों से उद्धार करता है। पुण्यात्मा मनुष्यों में मुदिता की भावना पर संयम करने से योगी को मुदिताबल उपलब्ध होता है। इससे योगी मध्यस्थभाव में रहता है यानी वह पक्षपाती नहीं होता। पापियों में जो योगी की उपेक्षा होती है, वह भावना नहीं होती। उपेक्षा में समाधि नहीं लगती अतः उससे कोई बल नहीं मिलता। मैत्री आदि भावना से जो समाधि-प्राप्ति होती है वह मैत्री आदि भावना की स्थिरता के लिए होती है। इसलिये मैत्री आदि में संयम से योगी के बल अवन्ध्यवीर्य होते हैं ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलेषु = (भिन्न-भिन्न) बलों में (संयम करने से); हस्तिबलादीनि = हाथी आदि के बल जैसा बल प्राप्त होता है।

व्याख्या : इन मैत्र्यादि बलों के कारण बलिष्ठ हुआ योगी हाथीबल में संयम करके हाथी जैसा बलवान् हो जाता है । गरुडबल में संयम करने से योगी गरुडबल हो जाता है । वायुबल में संयम करने से वायु जैसा बलशील हो जाता है । योगी जिस बल में संयम करेगा वही बल प्राप्त करेगा । कोई भी योगी, ईश्वर-प्रेरणा के बिना, विशेष बल प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता । जब ईश्वर को उससे कोई काम लेना होता है तब वह योगी के अन्तःकरण में वैसी ही वासना उदित कर देता है, और योगी को सिद्धि भी मिलती है । योग का ध्येय कैवल्यस्थिति प्राप्त करना है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् = ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से; **सूक्ष्म-व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्** = सूक्ष्म व्यवधानयुक्त और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान (हो जाता है) ।

व्याख्या : ज्योतिष्मती—बुद्धि और पुरुष की अन्यता ज्ञान का साक्षात्कार करनेवाली मन की प्रवृत्ति जिसे प्रथम पाद में ज्योतिष्मती कहा गया है (१.३६), उसका जो आलोक, सत्त्वप्रकाश, उससे योगी को सूक्ष्म, जैसे परमाणु, महत्तत्त्वादि, व्यवहित (छिपे हुए) पदार्थ जैसे समुद्र में छिपे रत्न, भूमि में गड़ा धन, सामान्य दृष्टि की पहुँच से बाहर तथा विप्रकृष्ट (दूरस्थ) पदार्थ जैसे कलकत्ते में बैठे योगी को काश्मीर-वाटी की गुफा में स्थित किसी पुरुष का ज्ञान होना । इन सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुओं पर योगी ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश फेंककर इनका साक्षात्कार कर लेता है । न्यासमात्र वचन से यह ध्वनित होता है कि योगी को उन पर संयम की अपेक्षा नहीं । चक्षुन्यासमात्र से घटदर्शन की भाँति शुद्धसत्त्व प्रकाश से सूक्ष्मादि वस्तुओं का साक्षात्कार होता है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्ये = सूर्य में; **संयमात्** = संयम करने से; **भुवनज्ञानम्** = समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है ।

व्याख्या : इस सूत्र पर भगवान् वेदव्यास ने विस्तार से भाष्य लिखा है। हम केवल भाष्य का अनुवादमात्र करते हैं। इस भाष्य को कोई योगी सूर्य में साक्षात्पर्यन्त तक संयम लगाकर समझ सकता है तथा इसका अधिक स्पष्ट अर्थ कर सकता है। इसके विषय में कुछ लेखक अपनी अनभिज्ञता छिपाने के लिए नाना प्रकार के आनुमानिक वचन बोलते हैं, पर वे प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते।

विश्व के विभाग को लोक या भुवन कहते हैं। साधारणतः तीन लोक कहे जाते हैं, यथा—स्वर्ग-पृथ्वी-पाताल। परन्तु उदार गणना से चौदह भुवन कहे जाते हैं। पृथ्वी से ऊपर की ओर सात ऊर्ध्वलोक हैं, एक-दूसरे से ऊपर। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. भूलोक, २. भुवलोक, ३. स्वर्लोक, ४. महर्लोक, ५. जनलोक, ६. तपोलोक, ७. सत्यलोक या ब्रह्मलोक। पृथ्वी से नीचे की ओर सात अधोलोक हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. रसातल, ५. तलातल, ६. महातल, ७. पाताल। सूर्य का अर्थ यहाँ सूर्यद्वार है। भाष्यकार ने यही अर्थ किया है। सूर्यद्वार का अभिप्राय सुषुम्ना नाड़ी है।

‘भुवन का विस्तार सप्तलोक समूह है। उनमें अवीचि से लेकर मेरु-पृष्ठ तक भूलोक है। मेरुपृष्ठ से लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं से विचित्र अन्तरिक्ष लोक है। उससे आगे पाँच प्रकार के स्वर्ग हैं। उन पाँचों में प्रथम, परन्तु भूलोक की अपेक्षा से तृतीय माहेन्द्रलोक है। चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक है। इसके बाद त्रिविध ब्रह्मलोक हैं—जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक। इस विषय में भगवान् भाष्यकार ने यह श्लोक दिया है। इसमें सब लोकों का संग्रह है—

बाह्यस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

(जनः, तपः, सत्य) ये तीन ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। उनसे नीचे महः नाम का प्राजापत्य लोक है। उनमें नीचे स्वर्गनामक माहेन्द्रलोक है। उनसे नीचे भुवः नाम का तारालोक है। उनसे नीचे मनुष्यों का लोक भूलोक है।

उनमें अवीचि के ऊपर क्रमशः छः महानरकभूमियाँ हैं (सबसे नीचा अवीचि नरक है)। वे घन (पृथ्वी) सलिल, अनल, अनिल, आकाश तथा तम में प्रतिष्ठित हैं। इनके नाम यथाक्रम इस प्रकार हैं—अवीचि के ऊपर महाकाल नरक है (पृथ्वी से सबद—मिट्टी, तंगुल, पाषाण, आदि से युक्त)।

उसके ऊपर अम्बरीष नरक है (यह जलपूरित है)। उसके ऊपर रौरव नरक है (यह अग्नि से भरा है)। उसके ऊपर महारौरव नरक है (यह वायु से भरा हुआ है)। उसके ऊपर महासूत्र नरक है (यह भीतर से खाली, शून्य-सा है)। उसके ऊपर अन्धतामिस्र नरक है (यह अन्धकार से व्याप्त है)। यहाँ स्वर्कर्मोपाजित दुःखभोगी जीवगण कष्टकर दीर्घ आयु लेकर जनमते हैं। इन नरकों के साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल—ये सात पाताल हैं।

आठवीं इनसे ऊपर वह भूमि है, जिसको वसुमति कहते हैं। यह सप्त द्वीपों से युक्त है। इसके मध्यभाग में स्वर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु पर्वतराज की चारों दिशाओं में चार शृंग (चोटी) हैं। उनमें पूर्व दिशा का शृंग रजतमय है, दक्षिण दिशा का शृंग वैदूर्यमणिमय (नीली मणि के सदृश) है। पश्चिम दिशा का शृंग स्फटिक मणिमय है। उत्तर दिशा का शृंग स्वर्णमय है। वैदूर्य मणि की प्रभा से अनुरजित होने से आकाश का दक्षिण भाग नीलोत्पल दल के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम स्वच्छ है; कुरण्डक (स्वर्णवर्ण पुष्पविशेष) की प्रभा के समान उत्तर भाग है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू है, उसीसे जम्बूद्वीप नाम है। सुमेरु के चारों ओर निरन्तर सूर्यप्रचार (सूर्यभ्रमण) के कारण वहाँ दिन-रात संलग्न-से जात होते हैं (अर्थात् सूर्य की ओर दिन एवं दूसरी ओर रात लग्नभाव से घूम रही हैं)। सुमेरु की उत्तर दिशा में दो हजार योजन विस्तारवाले नील, श्वेत तथा शृङ्गवान् नामक तीन पर्वत हैं। इनके भीतर रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु नामक तीन वर्ष हैं। उनका विस्तार नौ-नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार के निषध, हेमकूट तथा हिमशैल हैं; उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार के हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष नामक तीन वर्ष हैं।

सुमेरु के पूर्व में माल्यवान् तक भद्रास्वा तथा पश्चिम में गन्धमादन तक केतुमाल है। मध्य में इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप का परिमाण (व्यास) सौ हजार योजन है, वह सुमेरु के चारों ओर पचास हजार योजन तक विन्यस्त है। यह हुआ सौ हजार योजन विस्तृत जम्बूद्वीप, जो इससे दूने वलयाकार लवणोदधि द्वारा वेष्टित है। इसके बाद क्रमशः शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, गोमेद और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से प्रत्येक पहले की अपेक्षा से दुगुना है। (द्वीप को वेष्टन करनेवाले) सप्तसमुद्र सरसों के ढेर के समान, विचित्र-शैल-

मण्डित हैं। वे (प्रथम लवण समुद्र के अतिरिक्त) यथाक्रम इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध जैसे स्वादिष्ट पानीवाले होते हैं (३)। पचास करोड़ योजन विस्तृत, बलयाकार सप्तद्वीप लोकालोकपर्वत से परिवृत और सप्तसमुद्र से वेष्टित हैं।

ये सब सुप्रतिष्ठ रूप से (असंकीर्ण भाव से) अण्ड के भीतर विन्यस्त हैं। यह अण्ड भी फिर प्रधान का अणु अवयव है जैसे आकाश में खद्योत। पाताल में, जलधि में, इन सब पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अप्समार, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड तथा विनायकरूप देवयोनियाँ बसती हैं और द्वीपसमूह में पुण्यात्मा देवता तथा मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवों की उद्यानभूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस ये चार उद्यान, सुधर्मा नामक देवसभा, सुदर्शन नामक पुर तथा वैजयन्त नामक प्रासाद हैं।

ग्रह-नक्षत्र-तारकासमूह ध्रुव में निबद्ध होकर वायुविक्षेप द्वारा संयत होकर भ्रमण करते हुए सुमेरु के ऊपर-ऊपर सन्निविष्ट रहकर आवर्तन कर रहे हैं। माहेन्द्र-निवासी देवगण छह प्रकार के हैं, यथा—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती एवं परिनिर्मितवशवर्ती। ये सब संकल्प-सिद्ध, अणिमादि-ऐश्वर्य से सम्पन्न, कल्पायु, वृन्दारक (पूज्य), कामभोगी, औपपादिकदेह (जो देह पित्ता-माता के संयोग के बिना अकस्मात् उत्पन्न हो) और उत्तम तथा अनुकूल अप्सराओं से परिवारित हैं। प्राजापत्य महर्लों के देवनिकाय पञ्चविध हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये महाभूतवशी, ध्यानाहार (ध्यानमात्र से तृप्त या पुष्ट) और सहस्र-कल्पायु हैं।

जननामक ब्रह्मा के प्रथम लोक के देवनिकाय चार प्रकार के हैं, यथा—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। ये भूतेन्द्रियवशी एवं उत्तरोत्तर दुगुनी आयु द्वारा युक्त हैं। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में देवनिकाय तीन प्रकार के हैं, यथा—आभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर। ये भूतेन्द्रियवशी तथा तन्मात्रवशी हैं। ये उत्तरोत्तर दूनी आयु से सम्पन्न, ध्यानाहार, ऊर्ध्वरेता हैं और ऊर्ध्वस्थ सत्यलोक के ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं तथा निम्न लोकसमूह के (सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषयों के) अनावृत ज्ञान से सम्पन्न हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में देवनिकाय चार

प्रकार के हैं, यथा—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञी। ये (बाह्य) भवनशून्य, स्वप्रतिष्ठ, उत्तरोत्तर ऊपर रहनेवाले, प्रधानवशी और महाकल्पायु हैं। इनमें अच्युतगण सवितकंध्यानसुखयुक्त, शुद्धनिवासगण सविचारध्यान-सुखयुक्त, सत्याभगण आनन्दमात्र-ध्यानसुखयुक्त और संज्ञासंज्ञीगण अस्मिता-मात्र ध्यानसुखयुक्त हैं। ये भी त्रैलोक्य के भीतर प्रतिष्ठित हैं। ये सब लोक सभी ब्रह्मलोक हैं।

विदेहगण तथा प्रकृतिलयगण मोक्षपद में अवस्थित हैं। वे लोक के भीतर न्यस्त नहीं होते हैं। सूर्यद्वार में संयम कर योगी को इन सबका साक्षात्कार करना चाहिए। अथवा (सूर्यद्वार के अतिरिक्त) अन्यत्र भी इस प्रकार का अभ्यास करना चाहिए, जब तक ये सब प्रत्यक्ष न हों ॥ २६ ॥

चन्द्र ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रे = चन्द्रमा में (संयम करने से) ; ताराव्यूहज्ञानम् = तारों के व्यूह (स्थिति-विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या : चन्द्रमा में संयम करने से तारों के व्यूह, योजना, उनकी स्थिति (arrangement) का ज्ञान हो जाता है। क्योंजो ! यह ज्ञान तो सूर्य में संयम करने से भी तो हो सकता है। नहीं, क्योंकि सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गणों का तेज अभिभूत हो जाता है। अतः सूर्य में संयम से उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पृथक् सूत्र दिया है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे = ध्रुवतारों में (संयम करने से) ; तद्गतिज्ञानम् = उन ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या : ध्रुव निश्चल तारा है। ध्रुव को लक्ष्य कर सारे आकाश में स्थिरभाव से समाहित होने पर नक्षत्रों की गति का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रमा में संयम करने से तारों की स्थिति का (यानी कौन तारा कहाँ है) ज्ञान होता है, उनकी गति का नहीं। गति ज्ञान के लिए ध्रुव पर संयम करना होगा ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे = नाभिचक्र में (संयम करने से); कायव्यूहज्ञानम् = शरीर के व्यूह (उसकी स्थिति) का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या : जैसे सूर्यद्वार में संयम करने से सारे भुवनों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार शरीर के मध्यवर्ती नाभिचक्र में संयम करने से काया के व्यूह (योजना) को जान सकता है। नाभिचक्र मूल से शाखा-पल्लवादि की भाँति शिर, पादादिक अवयव पैदा होकर ऊर्ध्व-अधः चले जाते हैं। नाभिचक्र के साक्षात् दर्शन होने पर वात, पित्त, कफ—इन तीन प्रकार के दोषों का ज्ञान हो जाता है। वातपित्तादि शरीर में कितने प्रमाण में हैं, कहाँ उनकी प्रतिष्ठा है। शरीर में सात धातु हैं और वे बाह्याभ्यन्तर भाव से स्थित हैं। रस (त्वचा) सबसे बाहर है। उसके भीतर रक्त है; उससे भीतर मांस है, फिर हड्डी है, उससे भीतर मज्जा, उससे भीतर शुक्र, यानी शुक्र सबसे भीतर की धातु है। वह योगी नाड़ियों के व्यूह को भी जान लेगा ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूपे = कण्ठकूप में संयम करने से; क्षुत्-पिपासानिवृत्तिः = भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या : जिह्वा के नीचे एक तन्तु है, उसके नीचे कंठ (गला) है। कंठदेश के नीचे एक कूप (गड्ढा) है। उस कूप में साक्षात्पर्यन्त संयम करने से क्षुधा-तृषाजनित पीड़ा का बोध नहीं होता। क्योंजी ! क्या कमजोरी भी नहीं आती ? आती है ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्मनाड्यां = कूर्माकार (नाड़ी में संयम करने से); स्थैर्यम् = स्थिरता होती है ।

व्याख्या : कंठकूप के नीचे वक्ष में एक कूर्माकार नाड़ी है । इसमें संयम करने से स्थिरपद लाभ होता है । इस संयम से शरीर तथा चित्त भी स्थिर हो जाता है । भाष्यकार ने इसमें साँप और गोह का दृष्टान्त दिया है । साँप और गोह अपने स्थान पर ऐसे चिपक जाते हैं कि उनको कोई खींचकर नहीं उखाड़ सकता । अंगदजी ने इसी सिद्धि के बल पर रावण की सभा में पदरोपण किया था ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्धज्योतिषि = मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से); सिद्धदर्शनम् = सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं ।

व्याख्या : शीशकपाल में ब्रह्मरन्ध्रनामक एक छेद है । इसमें महान् सात्त्विक प्रकाश है । इस प्रकाश पर संयम करने से आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में विचरनेवाले सिद्धों के दर्शन होते हैं । ब्रह्मरन्ध्र का अभिप्रायः सुषुम्ना नाड़ी है ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

वा = अथवा; प्रातिभात् = प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से (बिना किसी संयम के ही); सर्वम् = (योगी को पहले कही हुई) सारी बातों का ज्ञान हो जाता है ।

व्याख्या : स्वप्रतिभा से जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे प्रातिभज्ञान कहते हैं । यह अनौपदेशिक ज्ञान होता है । इस ज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है । योगी को संयम करने की आवश्यकता नहीं होती । प्रातिभज्ञान को तारक-ज्ञान भी कहते हैं । यह ज्ञान संसार-सागर से तारने का उपाय होने से तारक

कहा जाता है। सर्वज्ञता का यह पूर्वचिह्न है। दृष्टान्त से समझाते हैं। यह विवेकज्ञान का पूर्वरूप है, जैसे कि सूर्योदय की पूर्वकालीन प्रभा। विवेकज्ञान की व्याख्या सूत्र ३.५२, ५४ में दी गई है। प्रज्ञालोक इस प्रातिभज्ञान का अंशरूप है। प्रातिभज्ञान (Intutional insight) नैसर्गिक ज्ञान होता है, जैसे पक्षियों का दिशा का ज्ञान स्वाभाविक होता है। प्रसंख्यान (विवेक) के उदय होने का प्रथम लिंग प्रातिभज्ञान है। इससे पूर्व जो-जो संयम कहे गये हैं, तथा उनसे जो-जो विषयज्ञान कहे गये हैं, उन सबका ज्ञान बिना संयम लगाये ही इस प्रातिभज्ञान से हो जाता है ॥ ३३ ॥

यहाँ तक संयम की क्षुद्र सिद्धियाँ कही हैं। अब सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति मुख्य सिद्धि बताने के लिए पहले चित्तसंवित् सिद्धि बताते हैं।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदये = हृदय में (संयम करने से); चित्तसंवित् = चित्तज्ञान हो जाता है।

व्याख्या : इस परमात्मा (जो कि जीव बना हुआ है) के शरीर में एक दहर, गर्त है। यह दहर कमलाकार मांसपिंड है जो कि अधोमुख है। इसे ही हृदय कहते हैं। यह हृदयकमल चित्त का निवासस्थान है। इसमें स्थित चित्त को विज्ञान भी कहते हैं। चित्त को ब्रह्म का सिंहासन जानो। इसलिए इस हृदय में स्थित चित्त पर साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से अपनी वृत्तियोंसहित चित्त का ज्ञान हो जाता है। संवित् आभ्यन्तर ज्ञान या चित्त-ज्ञान को कहते हैं। ब्रह्मपुर शरीर को कहते हैं। अहंभाव में पहुँचने के लिए हृदयध्यान ही उत्तम उपाय है। विज्ञान का मूल केन्द्र अहंभाव की प्रतीति करनेवाली बुद्धि है। उसका साक्षात्कार भी चित्तध्यान से होता है। यह सूत्र पुरुषज्ञान को समझने के लिए सीढ़ी है। अगला सूत्र पुरुषज्ञानसम्बन्धी है ॥ ३४ ॥

**सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो
भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥**

सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः = सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (किसी प्रकार भी एक होनेवाले नहीं हैं)— इन दोनों की; **प्रत्ययाविशेषः भोगः** = अविशेष प्रत्यय यानी इन दोनों की अभेद प्रतीति है उसे भोग कहते हैं। **परार्थत्वात्** = भोग परार्थ होता है। **स्वार्थसंयमात्** = अतः स्वार्थसंयम करने से; **पुरुषज्ञानम्** = पुरुषज्ञान होता है।

व्याख्या : प्रकाशरूप अतिस्वच्छ सत्त्वगुणप्रधाना बुद्धि जिसमें रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो गये हैं, जो विवेकख्यातिरूप से परिणत है, ऐसे बुद्धिसत्त्व का चैतन्यात्मा के साथ अत्यन्त भिन्नता है। जिस बुद्धि में रजोगुण-तमोगुण की प्रधानता है, ऐसी मलिन बुद्धि की भिन्नता का तो कहना ही क्या है ? बुद्धिसत्त्व प्रकाशशूल होता है और विवेकख्यातिरूप से भी परिणत होता है। इसलिये नितान्त शुद्ध प्रकाश के कारण बुद्धिप्रकाश चैतन्य आत्मा के प्रकाश के सारूप्य-सा होता है, यानी ये दोनों प्रकाश समान-से प्रतीत होते हैं। इसीका नाम संकर है। वास्तव में संकर नहीं होता क्योंकि बुद्धिसत्त्व और पुरुष (चैतन्यात्मा) विपरीतधर्मा हैं। पुरुष अपरिणामी, स्वप्रकाश, शुद्ध और चित्तिमात्ररूप है। बुद्धिसत्त्व परिणामी, परप्रकाश्य, अशुद्ध, जड़मात्र है। अत्यन्त भिन्न इन दोनों—बुद्धिसत्त्व और पुरुष—का अविद्या के कारण सांकर्य सा हो जाता है। इन दोनों का अभेद-सा होकर पुरुष अपने को परिणामी समझने लगता है और बुद्धि अपने को स्वप्रकाश समझने लगती है। बुद्धि और पुरुष का तादात्म्य-सा होना, अविशेष प्रत्यय या अभेद ज्ञान ही भोग है। सुखदुःखमोह की अनुभूति का नाम भोग है। जैसे चन्द्रमा का अक्स जल में पड़ता है। जल हिलने से चन्द्रमा का अक्स हिलता है। विवेकहीन पुरुष कहता है कि चन्द्रमा हिलता है। इसी प्रकार मूढ़ लोग बुद्धि के परिणाम को पुरुष में आरोपित करते हैं।

बुद्धि की वृत्ति भोग है। बुद्धिवृत्ति होने के कारण भोग दृश्य है। दृश्य होने के कारण भोग परार्थ है यानी पर नाम द्रष्टा का है, द्रष्टा का अर्थ पुरुष है। भोग द्रष्टा के लिए होता है। प्रकृति परार्थ है। वह पुरुष (द्रष्टा) को भोग-अपवर्ग देती है। चित्त का साक्षात्कार तो हृदय में संयम करने से हो जाता है, परन्तु पुरुष का साक्षात्कार करना अभीष्ट है जिससे कि आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान स्पष्ट और दृढ़ हो जाय।

जो भोग से पृथक् चित्तिमात्ररूप, अन्य यानी पुरुषसम्बन्धी प्रत्यय (ज्ञान, प्रतीति) है, उसमें संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है। क्योंकि ! बुद्धिसत्त्व में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार क्यों नहीं होता ? श्रवण करो। चेतन से जड़ प्रकाशित होता है, न कि जड़ से चित्ति। बुद्धिसत्त्व जड़ है, वह चेतन को नहीं प्रकाशित कर सकता। क्योंकि ! पुरुषसम्बन्धी प्रत्यय में संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा क्यों उत्पन्न होती है, पुरुषसाक्षात्कार क्यों नहीं होता ? पुरुषप्रत्यय भी तो अचिदात्मा है, वह चिदात्मा को कैसे प्रकाशित कर सकता है ? बुद्धिसत्त्व में प्रतिबिम्बित पुरुष के आलम्बन से पुरुष पकड़ में नहीं आता, क्योंकि प्रतिबिम्ब-बिम्ब पर आधारित होता है। जड़ बुद्धिसत्त्व अपने प्रकाश के लिए पुरुष के प्रकाश पर आधारित होता है। पुरुष बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। पुरुषप्रत्यय चित्त को होता है। पुरुष-प्रत्यय चित्त का धर्म है। इससे पुरुष नहीं जाना जा सकता। पुरुष ही चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ स्वावलम्बन रूप प्रत्यय को देखता है। यानी जो चित्तवृत्ति प्रतिबिम्ब को देखती है, उस अपने प्रतिबिम्ब को आलम्बन करने-वाली वृत्ति को पुरुष देखता है, इसलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है 'अरे विज्ञातारं केन विजानीयात्।' सबको जाननेवाले परमात्मा को किस साधन से जाना जाय ? तात्पर्य यह है कि चित्त ज्ञाता पुरुष का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसलिये पुरुष-प्रत्यय (स्वार्थ-प्रत्यय) से पुरुष-प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म हूँ, यही पुरुषविषयक प्रज्ञा होती है। मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार कहने से 'मैं जीव नहीं हूँ', यह भी कहा जाना समझ लेना है। चित्तसंविद् पुरुषज्ञान से भिन्न है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य के अभ्यास से बुद्धि ब्रह्माकारा, पुरुषाकारा हो जाती है। अपरोक्षानुभूति ग्रंथ में बताया है कि साधक पहले बुद्धिवृत्ति को निर्विकार यानी एकाग्र तथा स्थिर करे। इसके पश्चात् वृत्ति को ब्रह्माकार करे यानी वृत्ति को इतना चौड़ा करे कि उसमें सब कुछ समा जाय। समस्त देश, काल, नाम सभी ब्रह्माकारा वृत्ति के भीतर आ जाएँ; क्योंकि ब्रह्माकारा वृत्ति सर्वग्रासनी है। इसके पश्चात् ध्याता अपनी वृत्ति को भी भूल जाय, यानी चित्त का संस्कारमात्र अवशिष्ट रहे, जिसका भान, प्रचण्ड ब्रह्माकारा वृत्ति के सामने, भी न हो, तब वह ज्ञान नाम समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि कही जायगी।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥ १२४ ॥

क्योंजी ! जो विचारप्रधान साधक हैं, जिन्हें योगाभ्यास नहीं आता, वे क्या करें ? श्रवण करो । वे 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का जप करें । यह जप, ध्यान में परिणत होगा, और सिद्ध होने पर ब्रह्म को लखा देगा । विद्यारण्य मुनि पंचदशी के ध्यानदोषप्रकरण (९) में कहते हैं ।

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।

अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥ १५५ ॥

ब्रह्म के अनुभव के अभाव में भी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार चिन्तन करता रहे या महावाक्य का जप करता रहे । ध्यान की महिमा से असत् (अविद्यमान देवतादि) भी प्राप्त हो जाता है, तब नित्यप्राप्त ब्रह्म के प्राप्त करने में क्या संदेह हो सकता है ? ब्रह्मध्यान का फल यह होता है कि दिन दिन अनात्मबुद्धि शिथिल पड़ती जायगी । इस मरणशील देह में आत्माभिमान त्यागने से स्वयं अमृत होकर इसी देह में निजस्वरूप सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाहिने दिने ।

पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥ १५६ ॥

देहाभिमानं विध्वंस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।

पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १५७ ॥

'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र के चिन्तन का नाम ही स्वार्थसंयम है । इसको ही पुरुष-प्रत्यय कहते हैं । इससे पहले पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है यानी ब्रह्माकारा वृत्ति उत्पन्न होती है ।

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।

ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥ १२९ ॥

पदार्थग्राहिणी वृत्ति से पदार्थाकारता, शून्यवृत्ति से जड़ता और ब्रह्माकारवृत्ति से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है । अतः पूर्णत्व का अभ्यास करे । ब्रह्माकार वृत्ति से ब्रह्म के साथ तन्मयता सिद्ध होती है । शून्य पदार्थों में कौन विवेकी रमण करेगा ? ॥ ३५ ॥

स्वार्थसंयम के अभ्यास से, मुख्य फल यानी पुरुषज्ञान के उत्पन्न होने से पहले, जो सिद्धियाँ होती हैं, उनको बताते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादशास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ततः = उस स्वार्थसंयम के अभ्यास से प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदश-आस्वाद-वार्ता जायन्ते = प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्या : स्वार्थसंयम के अभ्यास से परन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार या पुरुष-ज्ञान उदय होने से पहले छः प्रकार की दिव्य सिद्धियाँ प्रकट होती हैं—

(१) प्रातिभ—प्रातिभ नाम की सिद्धि से सूक्ष्म, व्यवहित (छिपी हुई) विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तुओं का तथा अतीत और अनागत (भविष्य में आने-वाले) का ज्ञान होता है । (२) श्रावणनामक सिद्धि से श्रोत्रेन्द्रिय को दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता आती है । (३) वेदनानामक सिद्धि से त्वचा में दिव्य स्पर्श, सिद्धों के स्पर्श का ज्ञान होता है । (४) आदर्शनामक सिद्धि से नेत्रों को दिव्यदर्शन की शक्ति आ जाती है । (५) आस्वादानामक सिद्धि से रसना में दिव्य स्वाद, रस को अनुभव करने की शक्ति आ जाती है । (६) वार्तानामक सिद्धि से घ्राणेन्द्रिय में दिव्य गन्ध सूँघने की शक्ति आ जाती है ॥ ३६ ॥

अब सूत्रकार मुमुक्षुओं को सावधान करते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ते = वे (उक्त छः प्रकार की सिद्धियाँ); समाधौ = समाधि की सिद्धि में (पुरुष को ज्ञान प्राप्त करने में); उपसर्गाः = विघ्न हैं (और); व्युत्थाने = व्युत्थान में; सिद्धयः = सिद्धियाँ हैं ।

व्याख्या : ये प्रातिभादि छः सिद्धियाँ उत्पन्न होने पर समाहितचित्त योगी के लिये विघ्नकारक हैं, क्योंकि ये शक्तियाँ विस्मय, हर्ष, गर्वादि चित्त में उत्पन्न करके समाहितचित्त योगी को पुरुषज्ञान-प्राप्ति में, यानी असम्प्र-ज्ञात समाधि में उपसर्ग, अन्तराय, विघ्न हैं । परन्तु ये सिद्धियाँ व्युत्थित-चित्त योगियों के लिए सिद्धियाँ हैं । सूत्रकार ने इन महामहिम आश्चर्यकारिणी सिद्धियों को बताकर अन्तिम रहस्य भी खोल दिया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार में ये सिद्धियाँ प्रतिबन्धक हैं । इसलिये मोक्षोन्मुख साधकों को इस मोहिनी सिद्धि-

गुफा में फँसना नहीं चाहिए। क्योंजी ! तब इन सिद्धियों को बताया ही क्यों ? इनमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए। यदि न बताते तो साधकों के मन में इन आकर्षक सिद्धियों के प्रति उत्सुकता, कौतूहल बने रहने की संभावना रह सकती थी ॥ ३७ ॥

ज्ञानादिरूप संयमसिद्धियाँ बताकर अब क्रियादिरूप विभूतियों को भी संयम का फल बताते हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य

परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात् = बन्धन के कारण (कर्म) की शिथिलता से; च = और; प्रचारसंवेदनात् = चित्त की गति का भलीभाँति ज्ञान होने से; चित्तस्य = चित्त का; परशरीरावेशः = दूसरे के शरीर में प्रवेश (किया जा सकता है)।

व्याख्या : योगी अपने शरीर से निकलकर किसी अन्य मृतशरीर में प्रवेश करके उसे गतिशील कर सकते हैं। शंकरभगवत्पाद तथा मण्डनमिश्र की परमविदुषी भार्या उभयभारती का शास्त्रार्थ हुआ। भगवत्पाद को अजेय जानकर उभयभारती ने कामकला-संबंधी प्रश्न किये। भगवत्पाद समय की अवधि लेकर राजा अमरुक के मृत शरीर में प्रवेश कर गये। राजा अमरुकजी उठे। भगवत्पाद ने अमरुक की कामकलाविद् रानी से कामविद्या सीखी और पुनः आकर उभयभारती को विजित किया। योगी लोग किसी जीवित शरीर में भी प्रवेश कर सकते हैं। महायोगिनी सुलभा राजा जनक (जीवित) की सूक्ष्म बुद्धि में प्रवेश कर गई थी तथा उनका योग और ज्ञान के सम्बन्ध में (विस्मयकारी) सम्वाद हुआ। यह कथा महाभारत में आई है (शान्ति-पर्व में मोक्षधर्म पर्व का तीन सौ बीसवाँ अध्याय)।

चंचलस्वभाव मन कर्माशयवश शरीर में बद्ध होकर रहता है। उस बन्धकारण कर्म का समाधिबल से शैथिल्य होता है। बन्धकारण के ढीला होने पर भी निकलने का मार्ग जाने बिना योगी शरीर से नहीं निकल सकता।

† माधवाचार्यरचित शंकरदिग्विजय में यह कथा आई है।

इसलिये नाड़ियों में आने-जाने के मार्ग का भी ज्ञान होना चाहिए। चित्त-गति का समाधि में साक्षात्कार कर लेने पर योगी को यह ज्ञान हो जाता है कि किस नाड़ी से प्रवेश करते हैं तथा किससे निकला जाता है। कर्मबन्ध क्षय होने पर तथा नाड़ीमार्ग में स्वचित्त का प्रचारसंवेदन (गमनागमन मार्ग का ज्ञान) होने पर योगी चित्त को अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। चित्त चला जाने पर इन्द्रियसमूह भी उसका अनुगमन करती हैं। जिस प्रकार कि रानी मधुमक्खी के उड़ने पर मधुमक्खियाँ भी उसके पीछे चली जाती हैं, उसी प्रकार परशरीर में प्रविष्ट होने पर इन्द्रियगण भी चित्त का अनुगमन करती हैं।

‘मैं शरीर हूँ’ यह बुद्धि बन्ध का कारण है। ‘मैं ब्रह्म हूँ, देह नहीं हूँ’ इस प्रकार के विचार से देहबन्धन शिथिल होता है। स्थूलदेह में आसक्ति ब्रह्मग्रन्थि है। सूक्ष्मशरीर में आसक्ति विष्णुग्रन्थि है तथा कारणदेह में सत्यत्व बुद्धि रुद्रग्रन्थि है। योगाभ्यास से तथा विचार से भी ये ग्रन्थियाँ भंजित होती हैं और जीव मुक्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानजयात् = उदान वायु को जीत लेने से; जलपङ्ककण्टकादिषु = जल, कीचड़, कण्टकादि से; असङ्गः = उसके शरीर का संयोग नहीं होता; च = और; उत्क्रान्तिः = ऊर्ध्वगति भी होती है।

व्याख्या : समस्त इन्द्रियों में संचार करनेवाले जीवन का, चेतना का आधार प्राण है। इन्द्रियों की दो प्रकार की वृत्ति है—बाह्यवृत्ति और आभ्यन्तरी वृत्ति। रूपादि का दर्शन करना बाह्यवृत्ति है। मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह अन्तःकरणत्रय है, यानी भीतर की तीन इन्द्रियाँ। विषयों से इनका सीधा सम्पर्क नहीं होता। इन तीनों की अलग-अलग वृत्तियाँ (Functions) यानी क्रियायें हैं। मन का काम संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का काम निश्चय करना, अहंकार का काम देहसंघात में ममत्वबुद्धि रखना, देह में अभिमान करना कि यह देहसंघात मैं हूँ। आभ्यन्तरी वृत्ति ही जीवन है। इस प्राण-नामक शक्ति की पाँच प्रकार की क्रिया है। क्रियामेद से शरीर में स्थित प्राण (वायु) के पाँच भेद हैं। इनमें प्राण सबसे प्रथम है। यह मुख और नासिका

में गति करनेवाला है। नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदयपर्यन्त इसकी वृत्ति है, यानी स्थिति है। समान-खाये-पीये आहार से बने हुए रस को सारे शरीर में अपने-अपने स्थान पर समान रूप से नयन, पहुँचाने के कारण इसको समान कहते हैं। हृदय से लेकर नाभि तक इसका अवस्थान, वृत्ति, क्रिया है। अपान-मूत्र, पुरीष, गर्भ, अधोवायु आदि को अपनयन, नीचे ले जाने के कारण इसको अपान कहते हैं। नाभि से लेकर पादतल तक इसकी वृत्ति है। उदान-यह ऊपर की गति का हेतु है। वायु, रसादि को ऊर्ध्व ले जाने के कारण इसको उदान कहते हैं। मुख-नासिकादि से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त इसकी वृत्ति है। व्यान-सारे शरीर में व्यापक है, यह बलवान् कर्म का हेतु है। इन पाँचों में प्राण प्रधान है। इसके निकलने से सर्व प्राण निकल जाते हैं। इस प्रकार पंच प्राणों के काम और स्थान बताकर अब सूत्रार्थ बताते हैं।

उदान वायु में संयम करने से, उसके साक्षात्कार होने पर जलादि से स्पर्श नहीं होता। उदान वायु को स्वायत्त करके जल, कीचड़, कटि आदि पद से तलवारादि की धार पर चलने पर भी उनसे असंग रहता है। प्रयाणकाल में अचिरादि मार्ग से प्राण की उत्क्रान्ति होती है। उदानजय से मरने पर उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकलते हैं, और ब्रह्मलोक को प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

समानजयात् = (संयमद्वारा) समान वायु को जीत लेने से; ज्वलनम् = (योगी का शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

व्याख्या : समाननामक प्राण के द्वारा सारे शरीर का पोषण होता है। जब संयम द्वारा योगी समान वायु को वश में कर लेता है, तब समान प्राण के अधीन जो अग्नि है, उसके उत्तेजित होने से योगी का शरीर अग्नि के समान चमकता है। समान वायु से अग्नि की उत्पत्ति है। समान जय से वायु निरावरण हो जाता है। सती माता ने समान को उत्तेजित करके अपने शरीर को निष्प्राण किया था ॥ ४० ॥

पुरुषसंयम के अभ्यास से श्रावणादि छः सिद्धियों (सूत्र ३.३६) की सामान्यरूप से कथा कही थी। अब श्रावणसिद्धि का साधन बताते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्राकाशयोः = श्रोत्र (कान) और आकाश के; सम्बन्धसंयमात् = सम्बन्ध में संयम कर लेने से (योगी के); श्रोत्रम् = श्रोत्र; दिव्यम् = दिव्य हो जाते हैं ।

व्याख्या : श्रोत्र, शब्दग्राहक इन्द्रिय की उत्पत्ति अहंकार से हुई है । आकाश की भी उत्पत्ति पंचतन्मात्रारूप से अहंकार से ही हुई है । सर्वश्रोत्रों की प्रतिष्ठा आकाश है । शब्द, आकाश का गुण है, अतः शब्द की प्रतिष्ठा भी आकाश है । ग्राह्य शब्द के प्रति जो कान (श्रोत्र) का व्यवधानाभाव, यानी निरावरणभाव है, वही श्रोत्र का और आकाश का सम्बन्ध है । श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करनेवाले योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है । उनकी श्रोत्रेन्द्रिय में अलौकिक शब्द ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है । वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, ढँके हुए तथा दूरस्थ शब्द को भी सुन सकते हैं । इसी प्रकार त्वचा-वायु, चक्षु-तेज, रसना-जल, घ्राण-पृथ्वी के सम्बन्धों में संयम करने से ३६वें सूत्र में कथित सिद्धियों को योगी प्राप्त कर सकता है ॥ ४१ ॥

अब शरीर को लघु करना, आकाशगमनादि की सिद्धि बताते हैं—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश- गमनम् ॥ ४२ ॥

कायाकाशयोः = शरीर और आकाश के; सम्बन्धसंयमात् = सम्बन्ध में संयम करने से; च=और; लघुतूलसमापत्तेः=हल्की वस्तु रूई में समाधि लगाने से; आकाशगमनम् = आकाश में चलने की सिद्धि हो जाती है ।

व्याख्या : क्योंजी ! शरीर और आकाश में क्या सम्बन्ध होता है ? आकाश व्यापक है । जब साधक का शरीर आसन पर बैठता है तब आकाश शरीर को अवकाश देता है । इसलिए आकाश और शरीर का सम्बन्ध प्राप्तिरूप व्यापन होता है । आकाश के बिना शरीर को बैठने का अवकाश कहाँ तथा शरीर के बिना आकाश अवकाश किसे देगा ? यत्र काया है, वहीं आकाश है । अवकाशदान से आकाश के साथ अविनाभाव लक्षण सम्बन्ध है । आकाश का अवकाशदान शरीर को अवकाश देता है, उस अवकाश में संयम करने से

आकाश में संचरणयोग्यता होती है। इस सम्बन्ध में संयम करनेवाला योगी, उस सम्बन्ध को जीतकर, यानी साक्षात्कार करके, अपनी इच्छा के अधीन करके योगी लघु होता है। आकाशगमन सिद्धि का दूसरा भी उपाय बताते हैं। लघु वस्तुओं में जैसे रूई, बादलादि अथवा परमाणु में संयम करके, कायाकाश सम्बन्ध का साक्षात्कार करके तूलादि जैसी लघुता, हल्कापन प्राप्त कर लेता है। अब क्रिया का क्रम बताते हैं। इन दोनों उपायों से सिद्धि का क्रम बताते हैं। पहले लघु होता है, फिर जल पर, पृथ्वी पर चलने की भाँति चलता है। फिर मकड़ी के जाले के तन्तु पर चलता है। फिर सूर्य-रश्मियों पर चलता है। इसके पश्चात् उसकी आकाश में यथेष्टगति हो जाती है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

बहिः अकल्पिता=शरीर के बाहर अकल्पित; वृत्तिः = स्थिति का नाम; महाविदेहा = महाविदेहा है; ततः = उस; प्रकाशावरणक्षयः = बुद्धि की ज्ञान-शक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है।

व्याख्या : जब मन शरीर के भीतर रहता है, परन्तु शरीर से बाहर किसी विषय पर आकाशादि पर वृत्तिलाभ करता है, तब उसे विदेहनामक धारणा कहते हैं। विदेह कहते हैं देह से बाहर। चूँकि यह धारणा शरीर में स्थित मन को बहिर, वृत्ति से होती है, इसलिये इसको कल्पित धारणा कहते हैं। यद्यपि मन व्यापक है, परन्तु मोहवश शरीर से बँधा हुआ है। देह में अहं-भाव बन्धन का कारण है। बन्धनों के शिथिल होने पर मन व्यापक हो जाता है। जब मन स्वच्छन्द होकर, यानी देह से बाहर होकर किसी बाह्य वस्तु पर धारणा करता है, तब वह शरीर निरपेक्ष बहिर्भूत मन की धारणा अकल्पिता कही जाती है। कल्पिता धारणा द्वारा ही अकल्पिता महाविदेहधारणा साधी जाती है। अकल्पिता धारणा से योगी परशरीर में प्रवेश कर सकता है। अकल्पिता धारणा से बन्धकारणों की शिथिलता तथा मन के गमनागमन मार्ग का ज्ञान हो जाता है। इस धारणा से क्लेश, कर्म तथा इनके तीन विपाक (फल) जाति, आयु और भोग जो कि रज-तममूलक हैं और जो कि बुद्धि के प्रकृष्ट सत्त्वगुण के आवरक हैं, इस आवरण का क्षय हो जाता है और बुद्धि के सत्त्वमात्र श्रेष्ठ गुण से विवेकव्यातिनामक वृत्ति उत्पन्न होती है।

आवरण-क्षय से योगी का निरावरण चित्त विहरण करता है और विशेष रूप से जानता है ॥ ४३ ॥

यहाँ तक नाना प्रकार के संयमों का सिद्धिसहित वर्णन किया है । १.४१ में ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता में की जानेवाली सबीज समाधि के लक्षण बताये थे, अब उनके फल बताते हैं । पहले ग्राह्यजनित समाधि का फल बताते हैं—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात् = (भूतों की) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से (योगी को); भूतजयः = पृथ्वी आदि पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त होती है ।

व्याख्या : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पाँच भूत हैं । पृथ्वी आदि पाँच भूतों में प्रत्येक की पाँच अवस्था होती है ।

१. स्थूलरूप : पृथ्वी आदि के जो शब्दादि विशेष गुण और आकारादि धर्म हैं, वे ही स्थूल रूप से परिभाषित हैं । पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच गुण हैं । जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये चार गुण हैं । अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप ये तीन गुण हैं । वायु में शब्द तथा स्पर्श ये दो गुण हैं । आकाश में केवल शब्द एक गुण है । अब भूतों के कुछ विशेष गुण भी हैं । अब पृथ्वी के आकारादि विशेष धर्म (properties) सुनो—आकार, वजन, रूखापन (roughness), वरण (resistance), स्थिरता, वृत्ति (निरन्तरता), विभाज्यता, सहिष्णुता, कर्कशता, कठोरता, सर्वभोग्यता (usefulness for all) । अब जल के विशेष धर्म सुनो—चिकनापन, पतलापन, चमक, श्वेतता, मृदुता, वजन, शीतता, रक्षा, पवित्रता, मिला हुआ रहना (cohesion) । अब तैजस के विशेष धर्म सुनो—ऊर्ध्वगति, पवित्रता देनेवाला (purifier), दाहक, पाचक, भाररहितता, प्रकाशशीलता, विध्वंसकता, ओजस्विता (giver of strength) । अब वायवी विशेष धर्मों को सुनो—तिर्यक् गति (टेढ़ी चाल), पवित्रता, धक्के से गिराना, नोदन (impulsions), बल, चंचलता, छायारहितता, रूखापन (aridity) । अब आकाशीय विशेष धर्म सुनो—सर्वतो गति (सर्वत्र अवस्थान), सर्वव्यापकता, बाधारहितता

(unobstructive) ये तीन आकाश के धर्म हैं। इन विशेष गुणों तथा धर्मों के साथ भूतों का स्थूलरूप है।

२. स्वरूप : भूतों के द्वितीयरूप उनके अपने सामान्य रूप हैं, जैसे भूमि की कठिनता और गन्ध, जल का स्नेह और शीतलता, अग्नि का प्रकाश और उष्णता, वायु की गतिशीलता और स्पर्श, आकाश का शब्द और अवकाश। भूतों का जो सामान्य रूप है जिससे कि वे जाने जाते हैं, उसे ही यहाँ स्वरूप पद से कहा गया है।

३. सूक्ष्म : स्थूलभूतों के कारण को सूक्ष्मभूत कहते हैं। ये तन्मात्रा तत्त्व होते हैं, जैसे स्थूलभूत पृथ्वी का कारण गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म भूत है। रसतन्मात्रा, स्थूलभूत जल का कारण है, अतः रसतन्मात्रा जल का सूक्ष्म स्वरूप है। रूपतन्मात्रा स्थूल अग्नि का सूक्ष्म स्वरूप है। स्पर्शतन्मात्रा स्थूल-भूत वायु का सूक्ष्म स्वरूप है। शब्दतन्मात्रा स्थूलभूत आकाश का सूक्ष्म स्वरूप है। तन्मात्रा एकावयव होता है, क्योंकि यह परमाणु (atom) है।

४. अन्वयी रूप : त्रिविध गुणों को ही अन्वय शब्द से कहा गया है। सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीनों गुण प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिस्वभाववाले हैं। समस्त कार्य त्रिगुणात्मक हैं। प्रत्येक कार्य में ये तीनों गुण प्रविष्ट रहते हैं, यानी इनका अन्वय होता है।

५. अर्थवत्त्व : भूतों का पाँचवाँ रूप अर्थवत्त्व है। प्रकृति का काम पुरुष को भोगापवर्ग देना है। अतः भोगापवर्गार्थता सब गुणों में, गुण तन्मात्रों में, भूतों में, भौतिक पदार्थों में अवस्थित हैं। अतः सभी अर्थवत्, सप्रयोजन होते हैं। इन भूतों के पाँचों रूपों में स्थूलादि क्रम से संयम करने से उनके रूप का साक्षात् करने से सारे भूतों की प्रकृतियाँ योगी के संकल्पानुसारी हो जाती हैं, जैसे कि बछड़ा गाय का अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥

भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने पर योगी को जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका वर्णन करते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

ततः = उस (भूतजय) से; अणिमादिप्रादुर्भावः = अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना; कायसम्पत् = कायसम्पत् की प्राप्ति; च = और; तद्धर्मानभिघातः = उन भूतों के धर्मों से बाधा न होना—(ये तीनों होते हैं)।

व्याख्या : भूतजय से आठ या नव ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। भूतों के स्थूल रूप पर जय प्राप्त करने से चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) अणिमा—योगी अपनी इच्छा से सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर रूप बना सकता है, यथा हनुमान्जी अणिमा सिद्धि का प्रयोग कर सुरसा के मुख में प्रवेश करके कर्णविवर से निकल गये थे। इस अणिमा-सिद्धि से सबमें प्रवेश कर सकता है, वज्र में भी प्रवेश कर सकता है, और सबसे अदृश्य भी रहता है। (२) लघिमा—रूई आदि से भी हलका हो जाना। इस सिद्धि से निरालम्बन होकर चारों ओर जाने में समर्थ होना। (३) महिमा—महान् होना, पर्वत, आकाश के परिमाण का हो जाना। हनुमान्जी ने इसी सिद्धि के प्रयोग से सुरसा से कई योजन लम्बे हो गये थे। गरिमा—गुरु, भारी हो जाना। कुछ आचार्य महिमा और गरिमा को एक ही मानते हैं। गरिमा का महिमा में अन्तर्भाव है। (४) प्राप्ति—जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाना, भूमि पर खड़े-खड़े ही चन्द्रमा को अंगुलि से स्पर्श कर सकना। भूतों के स्थूल रूप पर विजय करने से ऊपर लिखी चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भूतों के स्वरूप में संयम करने से तथा विजय से। (५) प्राकाश्य नाम की सिद्धि प्राप्त करता है। इच्छा में रुकावट न आना। यदि योगी की इच्छा हो तो भूमि में भी जल की भाँति गोता लगा सकता है। (६) वशित्व—भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने से और विजय से वशित्व-सिद्धि प्राप्त होती है। भूत, पृथ्वी आदि भूत तथा भूतों से निर्मित घटपटादि उसके वश में आ जाते हैं। तन्मात्राओं के वशीकरण से उनके कार्य भी वशीभूत हो जाते हैं। वह योगी उन भूतों को अथवा भूतकार्यों को जैसी व्यवस्था चाहे, वैसी कर सकता है, वे उसी व्यवस्था में ही रहते हैं। (७) भूतों के अन्वयरूप में संयम और जय से ईशित्व-सिद्धि प्राप्त होती है। भूत और भूतों के कार्यों की मूलप्रकृति पर विजय करने से योगी उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। वह उनकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश में प्रभु होता है। इसे ईशित्व-सिद्धि कहते हैं। (८) कामावसायित्व—सत्यसंकल्पता, जिस-जिस कामना की पूर्ति में योगी का प्रयोजन हो, वही-वही कामना पूर्ण हो जाती है। अथर्वत्व में संयम तथा जय करने से योगी को कामना का अवसान, अन्त प्राप्त होता है। जिस अर्थ, प्रयोजन से योगी संकल्प करता है, वही प्रयोजन सिद्ध होता है। सत्यसंकल्पता ही सर्वोच्च सिद्धि है।

क्योंजी ! यदि योगी के पास इतनी सिद्धियाँ हैं, तो वह सृष्टि में भी हेर-फेर कर सकता है। सूर्य को चन्द्रमा बना सकता है, चन्द्रमा को सूर्य। नहीं। शक्ति होने पर भी योगी सृष्टि रचना में उथल-पुथल नहीं कर सकता।

यह सृष्टि ब्रह्माजी के संकल्प से बनी है। वे योगी ईश्वर-आज्ञा-उल्लंघन का उत्साह नहीं कर सकते। उनका वैसा संकल्प भी नहीं बन सकता। ब्रह्म उस योगी की अपनी आत्मा है। वह परम प्रेमास्पद है। दूसरी एक अन्य वार्ता भी है। आपकी स्वप्नसृष्टि में आपके सिवा अन्य कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसी प्रकार ब्रह्मा (ईश्वर) की सृष्टि में किसीको हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होता। तीसरे, द्वेष-भावना से सृष्टि में विपर्यास की कल्पना होनी सम्भव है। परन्तु वे योगी अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। राग-द्वेष को विजित किये बिना ये सिद्धियाँ ही प्राप्त नहीं हो सकतीं। चौथे, जिस नारायण (चित्ति, ब्रह्म) के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, वायु बहता है, इन्द्र असुरों का संहार करता है, यम स्वकर्तव्य-पालन में दौड़ा-दौड़ा फिरता है, क्या उस योगी को उसका भय नहीं होता, अवश्य होता है। वह ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।

यद्यपि कामावसायी योगी सर्व सामर्थ्यवाला होता है, तो भी पदार्थों को विपरीत नहीं कर सकता, उनकी शक्तियों को ही विपरीत कर सकता है। वह सूर्य को चन्द्रमा और चन्द्रमा को सूर्य नहीं कर सकता, न ही विष को अमृत कर सकता है। परन्तु विष में जो प्राण-वियोग करने की शक्ति है, उसको निवृत्त करके उसमें जीवनदान देनेवाली अमृतत्व शक्ति भर सकता है। पदार्थों की शक्तियाँ अनियत होती हैं, उनको पलटने में दोष नहीं है। कामावसायी योगियों के संकल्प ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार होते हैं, विपरीत नहीं। मीरा को दिया गया विष, नारायण की कृपा से अमृत बन गया। उसका स्वरूप नहीं बदला, केवल शक्ति बदली थी।

कायसम्पत् को अगले सूत्र में कथन करेंगे। भूतजयी योगी को भूतों के धर्मों से रुकावट नहीं होती। पृथ्वी अपने मूर्ति धर्म से योगी की शरीर-क्रिया को बाधित नहीं कर सकती। वह कठिन शिला में भी प्रवेश कर सकता है। योगी को जल स्निग्ध (गीला) नहीं कर सकता, चाहे योगी एक सहस्र वर्ष भी जल में निवास करता रहे। सौभरि मुनि ने १२ वर्ष यमुना में समाधि लगाई थी। अग्नि उसको नहीं जला सकता। सदागति वायु योगी को चलायमान नहीं कर सकता। योगी प्रकट रूप आकाश में भी प्रकट नहीं होता। वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य रहता है ॥ ४५ ॥

अब कायासम्पत् का अगले सूत्र में विशदोकरण करते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि = रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान संगठन—ये; कायसम्पत् = शरीर की सम्पदाएँ हैं।

व्याख्या : कायसम्पत् के चार विशेषण दिये हैं। योगी रूपवान्, चक्षु-प्रिय हो जाता है। लोग उसके दर्शन की इच्छा करते हैं। सर्वांगसुन्दरता को लावण्यता कहते हैं। योगी बड़ा बलयुक्त होता है। उसके शरीर के अवयव वज्र के समान दृढ़ होते हैं। भगवान् कृष्ण इतने सुन्दर थे कि महाभारत-युद्ध में विपक्षी सेनावाले भी यह चाहा करते कि किसी प्रकार अर्जुन युद्ध करता-करता उनकी सेना के सामने आ जाये जिससे कि वे कृष्णजी के दर्शन का सुख लें। ऐसे योगसिद्ध शरीर में न रोग होता है, न जरा, न मृत्यु। योगी की अपनी इच्छा के बिना काल भी उसे नहीं मार सकता।† गोरक्षनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि योगियों को योगाग्निदग्ध देह प्राप्त हैं, वे अमर हैं। 'जब लों धरत्री, रहेंगे भरत्री। जायेंगी धरत्री, रहेंगे भरत्री' कहावत प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

जिस योगी ने भूतों पर विजय प्राप्त कर ली है, उसके लिए ग्रहणजय, यानी इन्द्रियजय का उपाय बताते हैं। इन्द्रियाँ भूतों से सूक्ष्म हैं।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात् = ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से; इन्द्रियजयः = मनसहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या : इन्द्रियों के पाँच प्रकार के रूप होते हैं, अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के पाँच रूप होते हैं। शब्दादि विषय इन्द्रियों से ग्राह्य होने से ग्राह्य कहे जाते हैं। उन विषयों में इन्द्रियों की वृत्ति का जाना ग्रहण कहा जाता है, अर्थात्

† एक बार कुम्भ-मेले के अवसर पर महायोगी गोरक्षनाथ ने, श्रद्धा उपजाने के लिये, योगसिद्धियों का प्रदर्शन किया था। उन्होंने कायसम्पत् की 'वज्रसंहननत्व' सिद्धि भी दिखाई। उन्होंने दर्शकों से कहा कि कोई भी युवक तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण खड्ग से उनके शरीर पर प्रहार करे। उसका एक रोम भी नहीं काट सकेगा। ऐसा ही हुआ।

इन्द्रियों का विषयाकार में परिणाम वृत्ति कहा जाता है। यह वृत्ति शब्दादि विषय के सामान्य तथा विशेष धर्मों की गहराई से आलोचना करती है। इन्द्रियों के इस ग्रहणरूप में प्रथम संयम करना चाहिए। इन्द्रियों का दूसरा रूप स्वरूप है। अहंकार ने अपने सत्त्वभाग से इन्द्रियों को जनन किया। इसलिए इन्द्रियों का प्रकाशत्व स्वरूप है, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप होता है। इसलिए इन्द्रियों के स्वरूप में संयम करना चाहिये। अब इन्द्रियों का तीसरा स्वरूप बताते हैं। इसे अस्मिता कहते हैं। इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। जहाँ भी इन्द्रियाँ होंगी अहंकार को भी होना पड़ेगा। यहाँ अहंकार को अस्मिता कहा गया है। इन्द्रियों में अनुगत होने से अहंकार ही इन्द्रियों का रूप है। अहंकार सामान्य है, इन्द्रियाँ विशेष हैं, क्योंकि ये अहंकार के कार्य हैं, जैसे कि तन्मात्रों के भूतविशेष यानी कार्य हैं। इसलिए अस्मिता में संयम करना चाहिए। अब इन्द्रियों का चौथा रूप बताते हैं। इसे अन्वय कहते हैं। गुणों का प्रथम परिणाम महत्तत्त्व है। अहंकार महत्तत्त्व का परिणाम है। इन्द्रियाँ अहंकार का परिणाम हैं। इसलिए इन्द्रियों में तीनों गुण अनुगत हैं। गुण प्रकाशक्रियास्थितिशील होते हैं। इसलिए गुणानुगम में संयम करना चाहिए।

अर्थवत्त्व : गुणों में अनुगत जो पुरुष है, उसको भोगापवर्ग प्रदान करना प्रयोजन है, वह अर्थवत्त्व नाम का इन्द्रियों का पाँचवाँ स्वरूप है। ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होकर प्रकृति और उसके गुण अर्थवान् होते हैं। पुरुष को भोगापवर्ग देने के अतिरिक्त उनका अपना कोई अर्थ नहीं है। प्रकृति पुरुष की भार्या है, वह स्वार्थी पुरुष के अर्थ को अपना अर्थ समझकर सिद्ध करती है।

इन्द्रियों के इन पाँच रूपों में क्रम से संयम करने से तथा जय से योगी को इन पंचरूपजय से इन्द्रियजय-सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४७ ॥

इन्द्रियजय का फल बताते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

ततः = उस (इन्द्रियजय) से; मनोजवित्वम् = मन के सदृश गति; विकरणभावः = शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति; च = और; प्रधानजयः = प्रकृति पर अधिकार—ये तीनों सिद्धियाँ मिलती हैं।

व्याख्या : मनोजवित्व—जैसे मन की महान् गति, रफ्तार होती है, उसी प्रकार देह की महान् गति हो जाना मनोजवित्व है। हनुमान्जी में यह सिद्धि थी। इसके बल से उन्होंने अकेले ही लंका में रावण की तीन-चौथाई सेना हनन की। ग्रहण में संयम से यह सिद्धि मिलती है। विकरणभाव—शरीर की बिना अपेक्षा के यानी देह एक स्थान पर रहने पर भी, मनोवांछित देश, जैसे काशी, मन चाहे काल में, अर्थ में वृत्तिलाभ करने की शक्ति। दूर के और बाहर के अर्थों को जान लेना। कलकत्ते में शरीर रहे, तो भी नेत्र गौरीशंकर शिखर पर झंडा लगा हुआ देख सकती है। प्रधानजय—प्रकृति का नाम प्रधान है। आठों प्रकार की प्रकृतियों पर तथा उनके विकारों पर वशीकार होना प्रधानजय कहा जाता है। क्योंजी ! इन्द्रियजय से प्रधानजय क्यों होता है ? इन्द्रियों के पाँचों रूपों पर जय से प्रधानजय होता है। इन्द्रिय के एक रूप जय से नहीं, क्योंकि पाँचों रूपों में प्रधान भी अन्तर्गत है। ये तीन सिद्धियाँ मधुप्रतीका कही जाती हैं। मधु, आनन्द का प्रतीक, चिह्न ॥ ४८ ॥

ग्राह्य और ग्रहण में संयम करने से प्राप्त होनेवाली सिद्धियों को बताकर अब गृहीता में संयम करने से प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ बताते हैं।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य = बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की भिन्नता मात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि को प्राप्त योगी का; सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् = सब भावों पर स्वाभिभाव; च = और; सर्वज्ञातृत्वम् = सर्वज्ञभाव हो जाता है।

व्याख्या : इन संयमों से ज्ञान-क्रिया ऐश्वर्यरूप सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनका प्रयोजन संयमसामर्थ्य में श्रद्धा उत्पन्न करना है। बुद्धि और पुरुष के भिन्नताज्ञान से दो अवान्तर सिद्धियाँ बताते हैं—१. सर्वभाव का अधिष्ठाता—बुद्धिसत्त्व जब रजोगुण और तमोगुण के मेल से घुल जाता है, यानी जब बुद्धिसत्त्व परम स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है तब उसे परमवशीकार संज्ञा (नाम) प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ है कि तब बुद्धि अतिसूक्ष्म वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होती है। ऐसे ही योगी की सत्त्व-

पुरुषान्यता ज्ञान में प्रतिष्ठा होती है। इसमें प्रतिष्ठित योगी को सर्वभाव-
अधिष्ठातृत्व प्राप्त होता है। सब पदार्थों का, जड़रूप और प्रकाशरूप पदार्थों
का वह योगी स्वामी हो जाता है। सभी भाव, दृश्यरूप से, क्षेत्रज्ञ के सामने
उपस्थित होते हैं। यह क्रियासिद्धि है। अब ज्ञानसिद्धि सुनो। सर्वज्ञात्ता—
सबको सामान्य रूप से युगपत् जाननेवाला। विषयों को एक-एक करके जानना
सर्वज्ञता नहीं है, क्योंकि विषयों की समाप्ति नहीं है। सभी द्रव्यों के शान्त-
उदित-अव्यपदेश्य धर्मों का युगपत् ज्ञान। सर्वज्ञ पुरुष के सामने भूत-
भविष्यत् काल नहीं होते, सभी काल वर्तमान हैं। इसीको विवेकज्ञ ज्ञान
कहते हैं। विवेकख्याति उत्पन्न होने पर यह सिद्धि आती है।

क्योंजी ! ये सर्वाधिष्ठातापन तथा सर्वज्ञता पुरुष में होते हैं कि बुद्धि
में ? पुरुष में कोई उपद्रव नहीं होता। वह गुणातीत है। जड़ बुद्धि में कुछ नहीं
हो सकता। जिस योगी की बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो गई है, परन्तु जिसमें बुद्धि-
अभिमान है, उसीका सम्बन्ध सिद्धियों से होता है। यह विशोका नामक सिद्धि
है। इसको प्राप्त कर सर्वज्ञ, क्षीणक्लेशबन्धन, वशी योगी विहार करते
हैं ॥ ४९ ॥

सर्वसिद्धिमूर्धन्य विवेकख्याति में भी परवैराग्य होने पर कैवल्यफल
मिलता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

तत्-वैराग्यात् अपि = उन सिद्धियों से भी वैराग्य होने से; दोषबीज-
क्षये = दोष के बीज का क्षय होने पर; कैवल्यम् = कैवल्यपद प्राप्त होता है।

व्याख्या : जब योगी के कर्मक्लेश क्षय हो जाते हैं तब उसको इस
प्रकार का ज्ञान होता है। यह विवेकख्याति, यानी ज्ञानसत्त्व का, बुद्धि का
ही धर्म है, आत्मा का नहीं। बुद्धिसत्त्व त्यागने योग्य है, क्योंकि बुद्धिसत्त्व
परिणामी, अशुद्ध है। पुरुष (आत्मा, चित्ति) ही अपरिणामी तथा शुद्ध है,
अतः बुद्धिसत्त्व से भिन्न है। पुरुष को जानकर मुक्त होता है, बुद्धिसत्त्व के
ज्ञान से कैवल्यमुक्ति नहीं मिलती। इस प्रकार विवेकख्याति से, सर्वस्वामित्व
तथा सर्वज्ञत्वादि सिद्धियों से भी, परवैराग्य के उदय होने पर विरक्त होकर
योगी के क्लेशबीज यानी अविद्यावासना दग्धशाली बीजों के समान, प्रसव-

में असमर्थ क्लेशबीजसमूह, अपने आश्रय चित्त के सहित प्रलय को प्राप्त होते हैं। उनके विलीन होने पर पुरुष फिर तापत्रय, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक—लक्षणवाले तापत्रय को नहीं भोगता। तात्पर्य यह है कि पर-वैराग्य-अवस्था में संस्काररूप दुःखबीज गुणों के, जिनका कार्य पूर्ण होने से जो समाप्त पुरुषार्थ हो गये हैं, प्रतिप्रसव यानी लय होने पर पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। इसीका नाम कैवल्य है। मायादि के सब उत्पातों का सदा के लिए उपशम होना ही कैवल्यावस्था, अकेलापन है। चित्त का अकेलापन भी लौकिक भाषा में कहा है। यह मन वाणी का विषय नहीं है। ब्रह्म और माया की अमेद स्थिति। पुरुष ही स्वयं अपना साक्षी है। पुरुष ही पुरुष को जान सकता है, अन्य कोई नहीं। अन्य भी पुरुष बनकर पुरुष को जानता है। इस अवस्था में पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ चित्ति-शक्तिरूप होता है ॥ ५० ॥

अब कैवल्यनामक सिद्धि में पुरुषार्थ करते हुए योगी के सामने विघ्न आने पर उनके निवारण का उपाय बताते हैं।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे = लोकपाल देवताओं के बुलाने पर; सङ्गस्मयाकरणम् = न तो (उनके भोगों में) सङ्ग (राग) करना चाहिए और न अभिमान करना चाहिए; पुनरनिष्टप्रसङ्गात् = क्योंकि ऐसा करने से पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

व्याख्या : जिनके स्थान, लोक हैं, ऐसे महेन्द्रादि देवता। उनके द्वारा अपने लोक में आने के लिए निमन्त्रित होने पर योगी न प्रीति करे और न आत्माभिमान करे। अहो ! मेरा कितना उत्कर्ष है कि देवराज इन्द्र स्वयं मुझे बुलाने आये हैं। क्योंजी ! संग और स्मय करने से क्या क्षति होती है ? संग, प्रीति, राग से फिर संसार का प्रसंग आ सकता है। स्मय करने से अपने में कृतार्थता का अहंकार हो सकता है। अतः संग और स्मय नहीं करने चाहिए, क्योंकि इनसे संसार में सत्यत्वबुद्धि दृढ़ होती है। वैराग्य की नींव कमजोर पड़ती है।

योगी कई स्थितियों के होते हैं। कौन सी श्रेणी के योगी को देवगण निमंत्रित करते हैं ? यह बताने के लिए पहले योगियों के प्रकार बताते हैं। योगी चार श्रेणी के होते हैं। उनमें प्रथमकल्पिक योगी का स्वरूप बताते हैं। आरम्भिक अभ्यासवाले योगी जो कि सवितकं समाधि का अभ्यास करते हैं, जिन्हें अभी ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त नहीं हुई है, जिनको अभी अतीन्द्रिय ज्ञान में साधारण-सा प्रवेश हुआ है, ऐसे योगियों से देवताओं को कोई भय नहीं होता। दूसरे स्तर के योगी मधुभूमिक कहे जाते हैं। जो योगी निर्वितकं समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर चुके हैं (सूत्र १.४३), और भूत और इन्द्रियों को जीतने का अभ्यास कर रहे हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं। तीसरे स्तर के योगियों को प्रज्ञा-ज्योति कहते हैं। जिन्होंने सविचार समाधि द्वारा भूत और इन्द्रियों को जीत लिया है और स्वार्थसंयम द्वारा विशोक भूमि का अभ्यास कर रहे हैं (देखिये सूत्र ३१, ३५, ४९), वे प्रज्ञाज्योति योगी कहे जाते हैं। चौथे स्तर के योगी अतिक्रान्तभावनीय योगी कहे जाते हैं। ऐसे योगी जीवन्मुक्त होते हैं। उनका अन्तिम जन्म होता है। उनका प्रयोजन चित्त को संस्कारोंसहित प्रकृति में लय करना रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि के लम्बे अभ्यास से उनको चित्तविलयमात्र करना है। इसकी प्रान्तभूमि प्रज्ञा सात प्रकार की है। ऐसे योगियों का मोक्ष तो निश्चित हो चुका है। वे अब जीवन्मुक्त हुए असम्प्रज्ञात समाधि की अवधि लम्बी करके चित्त को लय करना चाहते हैं, यानी ज्ञान की सप्तमी भूमि प्राप्त करना चाहते हैं।

इन योगियों में से दूसरी भूमि या मधुमती भूमिवाले योगी को, स्थान, स्वर्गादि स्थान धारण करनेवाले देवता, उसकी सत्त्वशुद्धि देखकर, प्रलोभन कर योगपथभ्रष्ट करते हैं। उस योगी को इस प्रकार उपनिमंत्रित करते हैं, 'हे महात्मन् ! यहाँ विराजिये, यहाँ रमण कीजिये। यह भोग कमनीय है, यह कन्या कमनीय है, यह रसायन जन्म-मृत्यु को हटाता है। यह आकाशगामी यान है। यह कल्पद्रुम है, पुण्य मन्दाकिनी है। ये सिद्ध महर्षिगण हैं। यहाँ उत्तम अनुकूल अप्सरा, दिव्य चक्षु-कर्ण हैं, वज्रोपम शरीर है। आयुष्मन् ! आपने अपने गुणों से इन सबको उपार्जित किया है। आप इन्हें स्वीकार करो। ये अक्षय, अजर, अमर तथा देवों के प्रिय पदार्थ हैं।'

अब करुणाकर भगवान् वेदव्यास योगी को इन प्रलोभनों से बचने का भी उपाय बताते हैं। इस प्रकार बुलाये जाने पर योगी को नीचे लिखे प्रकार से संगदोष का चिन्तन करना चाहिए।

‘घोर संसार अंगार में जलते-जलते और जन्ममरण अन्धकार में घूमते-

धूमते मैंने क्लेशतिमिरनाशक योगप्रदीप को बड़ी कठिनता से प्राप्त किया है। यह तृष्णा-सम्भव विषयपवन (योगप्रदीप का) विरोधी है। आलोक पाकर भी मैं इस विषयमरीचिका से ठगा जाने पर फिर उस प्रदीप संसार-अग्नि का इन्धन कैसे बन सकता हूँ। हे स्वप्नतुल्य, कृपण-जन-प्रार्थनीय विषयगण ! तुम्हारा कल्याण हो।' इस प्रकार निश्चित मति होकर समाधि की भावना करनी चाहिए।

माता-पितातुल्य भगवान् वेदव्यास के इन हितकारी वचनों पर साधक-गण बारम्बार विचार करें। देवतागण नहीं चाहते कि इनका कोई पशु मुक्त हो जाय। इसलिए परीक्षण करके ही साधकों को आगे बढ़ने देते हैं। बोध होने पर तो ज्ञानवान् देवताओं की आत्मा ही हो जाता है।

भाष्यकार आगे लिखते हैं—संगत्याग करने के बाद समय भी (आत्म-प्रशंसा का भाव) नहीं करना चाहिए कि मैं कैसे बड़े देवताओं से प्रार्थनीय हुआ हूँ। आत्मश्लाघा से योगी अपने को सुस्थित समझने लगता है और यह चिन्तन नहीं करता कि 'मृत्यु ने मेरे केश पकड़ रखे हैं। यदि छिद्रान्वेषी प्रमाद का प्रतीकार न किया जाय तो वह योगी पर अधिकार पाकर क्लेश-समूह को प्रबल कर सकता है। ऐसा होने पर फिर अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। उक्त प्रकार से संग तथा समय न करने से योगी के भावित अर्थ (आयत्त किये हुए अर्थ) दृढ़ होते हैं और जिन अर्थों का जय करना है, वे अभिमुखीन होते हैं।'।

भूतजयी योगी विषयों के रहस्य को जानता है। विषय उसको घर्षित नहीं कर सकते, जैसे कि किसी चतुर नागरिक को कुग्राम की कुत्सित ललना आकर्षित नहीं कर सकती। रहस्य का ज्ञाता दबता नहीं है। जो चौथी श्रेणी के योगी हैं, वे तो आत्मसाक्षात्कारी महात्मा होते हैं। वहाँ तो विषयों की क्या कथा, गुण भी विरोधी भाव से नहीं फटकते ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षणतत्क्रमयोः = क्षण और उसके क्रम में; संयमात् = संयम करने से;
विवेकजम् = विवेकजनित; ज्ञानम् = ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या : जैसे कोई लोहे के खण्ड करता है, उनमें से जो सबसे छोटा कण है, उसे परमाणु कहते हैं, उसी प्रकार काल का सबसे अल्प अंश क्षण कहा जाता है। भाष्यकार इसको दूसरे प्रकार से भी बताते हैं। परमाणु जितने काल में अपने पहले स्थान से चलकर दूसरे स्थान में पहुँचता है, उतने काल को क्षण कहते हैं। जितना स्थान परमाणु घेरता है, उतना स्थान ही उसे दूसरे स्थान में जाने के लिए पार करना पड़ता है। परमाणु के स्थानान्तरित होने में कितना अल्प काल लगेगा, इसका अनुमान ही करना पड़ेगा। उस क्षण के प्रवाह का न टूटना क्रम कहा जाता है। भाव यह है कि दो क्षण साथ नहीं रह सकते। प्रवाह का सिलसिला चालू रहता है। क्षण के और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान हो जाता है।

४९वें सूत्र में बताया गया था कि बुद्धिसत्त्व और पुरुष के भेदज्ञान में प्रतिष्ठित योगी को विवेकज्ञान होता है। इस सूत्र में विवेकज्ञान की दूसरी विधि बतायी है। विवेकज्ञान की विशेषता सुनो। इस ज्ञान की शिक्षा गुरु से नहीं लेनी पड़ती और न ही इस ज्ञान के लिए शास्त्रावलोकन करने पड़ते हैं। यह ज्ञान स्वतः बुद्धि से उपजता है। इसे अंग्रेजी में Intuitive knowledge कहते हैं। जैसे भँस को तैरने की शिक्षा नहीं लेनी पड़ती, जैसे बया पक्षी (Tailor Bird) को घोंसला-निर्माण-कला का शिक्षण नहीं लेना पड़ता, वह उनका स्वभाव-सिद्ध ज्ञान है। वैसे ही विवेकज्ञान, पुरुष-प्रकृति के भेदज्ञान को साक्षात्कार करनेवाले योगी को, निज विवेक से उत्पन्न होता है।

पिछले सूत्रों में कई स्थलों में कहा गया है कि अमुक प्रकार के संयम से सर्वज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु यह सर्वज्ञताज्ञान निःशेषज्ञान नहीं होता। जैसे कोई कहे, उसने 'सर्व' मिठाइयाँ खा लीं। इसका यह अर्थ है कि जो मिठाइयाँ आपने उसके सामने परोसी थीं, वे खा लीं। 'सर्व' पद का यह अर्थ नहीं है कि जितने प्रकार की मिठाइयाँ बन सकती हैं अथवा बननी सम्भव हैं, बिना शेष रहे, उसने उदरस्थ कर लीं। विवेकज्ञान सर्वविषयक, सर्वथा विषय होता है। उस ज्ञान से सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर वस्तु भी नहीं छिप सकती। इस सूत्र में उसी विवेकज्ञान को बताया है।

वस्तुतः काल कोई वस्तुस्वरूप नहीं है। ईश्वर की सृष्टि अभिव्यञ्जिका शक्ति का नाम काल है। यह शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य शब्द है, परन्तु

व्यवहार में आता है। घटिका, मुहूर्त, अहोरात्र, अयन, वर्ष, युग आदि सब बुद्धिनिर्मित हैं। व्यवहार में क्रिया की गति काल से मापी जाती है। यह काल लौकिक भ्रान्त पुरुषों को वस्तुरूप भासित होता है।

क्षण, क्रमाश्रित होने से कोई वस्तु नहीं है। एक क्षण के पीछे दूसरे क्षण का आना क्रम है। दो क्षण एक साथ नहीं रह सकते। दो क्षणों का क्रम भी नहीं हो सकता। इसलिये वर्तमान ही एक क्षण है। पूर्व और उत्तर क्षण वर्तमान नहीं होता। अतः उनका समाहार (मिलन) नहीं हो सकता। अतः क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान होता है। उस एक क्षण में समग्र विश्व परिणाम अनुभव करता है। भाव यह है कि प्रतिक्षण सर्ववस्तु परिणाम को प्राप्त होती हैं। इसलिए क्षण और उसके क्रम में संयम करने से साक्षात्कार प्राप्त होने पर, सब वस्तुओं के क्षण, परिणाम और क्रम के ज्ञान से सब वस्तु का विवेक से ज्ञान हो जाता है ॥ ५२ ॥

विवेकज्ञान का मुख्य फल बताने से पहले अवान्तर फल बताते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

जातिलक्षणदेशैः = (जिन वस्तुओं का) जाति, लक्षण और देशभेद से; अन्यतानवच्छेदात् = भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; तुल्ययोः = जो दो वस्तुएँ तुल्य (एक के सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेद की; प्रतिपत्तिः = उपलब्धि; ततः = उस (विवेकज्ञान) से होती है।

व्याख्या : इस विवेकज्ञान का निःशेषभाव विषय अगले सूत्र में कहेंगे, तो भी इस ज्ञान की सूक्ष्मता के कारण, उसके एक विषयविशेष का, शिष्य के बोध के लिये, एक उदाहरण देते हैं। दो पदार्थों की भिन्नता जाति, लक्षण तथा देश से जानी जाती है। इसे दृष्टान्त से समझाते हैं। गाय और घोड़ी का भेद जाति से जाना जाता है। यह गाय जाति है, यह पशु घोड़ी जाति का है। यदि तुल्य जाति और तुल्य देश हो तो लक्षण से भिन्नता का ज्ञान होता है। मान लो, एक स्थान पर एक काली गाय तथा दूसरी कपिल गाय खड़ी हैं, तो उनका भेद लक्षण से यानी काले-पीले वर्ण से जाना जाता है। जहाँ तुल्य जाति, तुल्य लक्षण के दो पदार्थ हों, वहाँ देश से दोनों की भिन्नता का ज्ञान होता है। दो आँवले, एक समान गोलाकार किसी योगी

के वाम तथा दक्षिण में रखे हैं। योगी के बिना देखे ही मान लो, कोई व्यक्ति वाम दिशा में रखे आमलक को दक्षिण दिशा के आमलक के साथ रख देता है। तब वे आँवले तुल्य जाति, तुल्य लक्षण तथा तुल्य स्थानवाले हो जाते हैं। उनकी संशयरहित भिन्नता को सामान्य जन नहीं जान सकते कि यह आमलक वाम दिशा का है, यह दक्षिण दिशा का है।

इस भेद को केवल योगी लोग ही संयमजन्य सामर्थ्य से जान सकते हैं। क्योंजी ! क्षण और उसके क्रम में संयम करने से किस प्रकार दोनों आमलकों का विवेकज्ञान होता है ? श्रवण करो। वाम भाग में रखा जो आँवला जब तक वाम दिशा में रहता है, तब तक उस स्थान पर उसका जो परिणाम होता है वह देशसंबंधी क्षणिक परिणाम है। क्षण में जो परिणाम होता है, वही सूक्ष्मतम भेद होता है। दक्षिण दिशा में जो आँवला रखा है, उसका दक्षिण देश सम्बन्धी क्षणिक परिणाम होता है। ये दोनों परिणाम भिन्न होते हैं। विवेकज्ञान से इस भेद की प्रतिपत्ति यानी उपलब्धि होती है।

वाम आँवले के साथ सम्बद्ध क्षणिक परिणामयुक्त देश, दक्षिण आँवले के साथ सम्बद्ध क्षणपरिणामयुक्त देश से भिन्न है। अतः दो आँवले अपने-अपने देश के साथ क्षणिक-परिणाम-अनुभव द्वारा भिन्न होते हैं। वाम आमलक के भिन्न-देश-परिणाम-विशिष्ट क्षण का अनुभव ही दो आँवलों में भिन्नता-विवेक का कारण है।

इस दृष्टान्त से यह बताया है कि दो परमाणुओं की जाति, लक्षण तथा देश तुल्य होने पर भी उनमें पूर्व परमाणु के देश के साथ युक्त क्षणिक परिणाम के साक्षात्कार के कारण तथा उत्तर परमाणु में उस पूर्व परमाणु देश के साथ युक्त क्षणिक परिणाम न मिलने के कारण उत्तर परमाणु का क्षणयुक्त देश-परिणाम भिन्न है। अतः योगीश्वर को उन दोनों परमाणुओं का भी भिन्नता-विवेक होता है।

(आनन्द रामायण में कथा आती है कि हनुमान्जी ने लंका-दहन के पश्चात् ब्रह्माजी का आवाहन किया और अपने कामों का प्रमाणपत्र माँगा कि मारुतिसुत हनुमान् ने लंका की तीन-चौथाई सेना का वध किया तथा लंका-दहन किया। यह प्रमाणपत्र लेकर हनुमान्जी आकाश-मार्ग से चले। हनुमान्जी को प्यास लगी। हनुमान्जी ने समुद्र में एक छोटा द्वीप देखा। वहाँ एक ऋषि बैठे थे। उनके पास एक कमंडलु रखा था। हनुमान्जी नीचे उतरे और बोले कि मैं मारुतिसुत हूँ। मैं लंका से सीता की सुध लाया हूँ। मुझे

जल्दी जल पिलाओ। मुनि ने कमंडलु की ओर संकेत किया। हनुमान्जी बोले, इतना जल पर्याप्त नहीं। मुनि ने तालाब की ओर संकेत किया। हनुमान्जी ने रामजी की अँगूठी कमंडलु के पास रख दी और जल पीने चले गये। पास के वृक्ष पर एक बंदरी बैठी थी। उसने उतरकर उस राम-मुद्रिका को कमंडलु में डाल दिया और वृक्ष पर चढ़ गयी। हनुमान्जी जल पीकर आये और उन्होंने मुनि से पूछा, मेरी अँगूठी कहाँ है? मुनि ने कमंडलु में संकेत किया। हनुमान्जी ने कमंडलु में हाथ डाला तो उसे सैकड़ों वैसी ही मुद्रिकाएँ मिलीं। हनुमान्जी अपनी मुद्रिका को पहचान न सके। मुनिजी बोले, 'पहले युगों में आये हुए हनुमानों की ये अँगूठियाँ हैं।' हनुमान्जी ने मुनि से कहा, 'मेरी अँगूठी कौन सी है?' तब मुनि ने विवेकजज्ञान से उस अँगूठी को पहचाना और हनुमान्जी को उनकी अँगूठी सँभला दी) ॥ ५३ ॥

इस प्रकार विवेकजज्ञान का एक नमूना दिखाकर अब विवेकजज्ञान के लक्षण कथन करते हैं—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तारकम् = जो संसार-समुद्र से तारनेवाला है; सर्वविषयम् = सबको जाननेवाला है; सर्वथाविषयम् = सब प्रकार से जाननेवाला है; च = और; अक्रमम् = बिना क्रम के (पूर्वापर के) जाननेवाला है, वह; विवेकजम् = विवेक-जनित; ज्ञानम् = ज्ञान है।

व्याख्या : पहले बताये हुए प्रातिभज्ञान से विवेकजज्ञान की विशेषता बताते हैं। विवेकजज्ञान के चार लक्षण हैं।

१. तारक : संयमबल से अन्त की भूमिका से उत्पन्न विवेकजज्ञान योगी को अगाध संसार-सागर से पार उतारता है, इसलिए इसे तारक कहते हैं। स्वप्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान तारक कहा जाता है, क्यों? इसलिये कि यह ज्ञान अनौपदेशिक है, अर्थात् यह ज्ञान बिना उपदेश के उत्पन्न होता है। शाब्दिक ज्ञान सर्वविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द से सामान्यमात्र ज्ञान उत्पन्न होता है। लौकिक सामग्री के बिना ही यथार्थज्ञान सामर्थ्य, सत्त्वपुरुष की अन्यता-ज्ञान में संयम करने से (सूत्र ५०) अथवा क्षण और उसके क्रम में संयम करने से उद्बोधित प्रतिभा, उससे उत्पन्न स्वप्रतिभोत्थ ज्ञान ही संसार-

तारक हो सकता है। क्योंजी ! विवेकजज्ञान तारक कैसे होगा ? श्रवण करो। विवेकजज्ञान से बड़ा तो कोई ज्ञान होता नहीं। विवेकजज्ञान भी योगी का सिर-दर्द बन जायगा, क्योंकि मोक्ष तो ब्रह्मज्ञान से होता है। विवेकजज्ञान से भी योगी को विरक्ति हो जायगी। तब उसका चित्त संस्कारोंसहित गुणों में प्रलीन हो जायगा और योगी अपने स्वरूप में स्थिर हो जायगा।

२. सर्वविषय : विवेकजज्ञानसिद्ध योगी को सब विषयों का ज्ञान होता है। उससे कोई भी विषय छिपा हुआ नहीं रह सकता। उससे क्वचित्, किञ्चित्, कथञ्चित्, कदाचित् ज्ञान अगोचर नहीं रह सकता।

३. सर्वथाविषय : योगी को अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी विषयों के अवान्तर विषयों के साथ सर्वथा, सब प्रकार का ज्ञान होता है।

४. अक्रम : एक ही क्षण में बुद्धि में आये हुए सर्वविषयों का सर्वथा ग्रहण होता है।

अतः विवेकजज्ञान परिपूर्ण होता है। सम्प्रज्ञातज्ञान भी इसका अंश होता है। योगप्रदीप भी विवेकजज्ञान का अंशस्वरूप है। प्रज्ञा-आलोकयुक्त योग अथवा अपर-संख्यानरूप संप्रज्ञात। प्रसंख्यान द्वारा क्लेश दग्धबीजतुल्य होते हैं। परम प्रसंख्यान से चित्त विलीन होता है। क्योंजी ! विवेकजज्ञान का कहाँ से आरम्भ होता है और कहाँ इसका अवसान होता है ? मधुमती या ऋतम्भरा प्रज्ञा से आरम्भ करके सप्तधा प्रातभूमि प्रज्ञा तक विवेकजज्ञान की स्थिति है। विवेकजज्ञान सूर्यतुल्य है। मधुमतो भूमि से लेकर सम्प्रज्ञात समाप्तिपर्यन्त जो ज्ञानालोक होता है, वह योगप्रदीप कहा जाता है। वे सब भूमिव्यूह विवेकजज्ञान के एकदेशप्रकाशक हैं, अतः वे अंश हैं ॥ ५४ ॥

विभूतियों और संयमों को परम्परा से कैवल्य का हेतु बताकर अब रहस्य खोलते हैं कि विवेकख्याति, आत्मानात्माविवेक, यानी पुरुष प्रकृति से भिन्न है, पुरुष और बुद्धिसत्त्व भिन्न हैं—इतना मात्र ज्ञान ही कैवल्यमोक्ष में साक्षात् हेतु है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् इति ॥ ५५ ॥

सत्त्वपुरुषयोः = बुद्धिसत्त्व और पुरुष की; शुद्धिसाम्ये = शुद्धि में समानता होने पर; कैवल्यम् = कैवल्य होता है। इति = इतिपद विभूतिपाद की समाप्ति का सूचक है।

व्याख्या : इस सूत्र में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण है। 'पुरुष' पद आत्मा, चित्ति, ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंजी ! पुरुष की ओर बुद्धि की शुद्धि में सदृशता, समानता क्या होती है ? पुरुष तो सदा ही शुद्ध है, क्योंकि वह असंग है। उसमें अशुद्धि तीन काल में भी नहीं हो सकती। चेतन और जड़ में जो तादात्म्यता-सी है, उसे ही पुरुष की अशुद्धि उपचार से कही है। द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः (सूत्र २.२०)। यद्यपि द्रष्टा स्वभाव से ही सर्वथा शुद्ध है, केवल ज्ञानमात्र है, तो भी अविद्या के सम्बन्ध से बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। अविद्या के कारण पुरुष और बुद्धि में जो अन्योन्य अध्यास है जिसके प्रभाव से पुरुष अपने को भोगों का भोक्ता जानता है। इस अध्यास का निराकरण पुरुष और बुद्धि की अन्यताख्याति से हो जाता है। इसीका नाम पुरुष की शुद्धि है। क्योंजी ! जब पुरुष को बुद्धि से अन्य जान लिया तो बुद्धि का क्या होगा ? तब बुद्धि अपने कारण में अनु-प्रवेश करेगी। इसीका नाम बुद्धि का शुद्धिसाम्य है।

क्योंजी ! किस प्रकार की बुद्धि स्वकारण में अनुप्रवेश करेगी ? बुद्धि-सत्त्व में से रजोगुण और तमोगुण-मल घुल जाते हैं। तब बुद्धि सत्त्वगुण के उत्कर्ष से पुरुष और प्रकृति की भिन्नता को जानने लगती है और जीव के क्लेश, दग्धबीज की भाँति अंकुरित होने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी बुद्धि में परवैराग्य उदय हो जाता है, और गुणों में चितृष्णा हो जाती है। यह समझ लो कि जीव को भोग-अपवर्ग देकर चित्त पुरुषार्थशून्य हो जाता है। ऐसी बुद्धि (चित्त) स्वकारण गुणों में लय होने के लिए अनुप्रवेश करती है। ऐसी बुद्धि की शुद्धि ब्रह्म-शुद्धि के समान होती है।

क्योंजी ! जब चित्ति और बुद्धि की शुद्धि में समानता हो गई, यानी दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में शुद्धि दृष्टि से सदृशता हो गई, तब बुद्धि स्वकारण में क्यों प्रवेश करती है, और चित्ति क्यों स्थिर रहती है ? श्रवण करो। बुद्धि की वास्तविक सत्ता नहीं है, प्रातिभासिक है, स्वप्नगज की भाँति। जब चिज्जड़ ग्रन्थि भेदन होती है, तो बुद्धि चित्ति से अभिन्न हो जाती है और चित्ति स्वमहिमा में प्रतिष्ठित हो जाती है। बुद्धि का चित्ति से अभिन्न होना ही बुद्धि का स्वकारण में अनुप्रवेश है। जैसे जलान्तर्गत सूर्य-प्रतिबिम्ब, जल सूखने पर सूर्य बिम्ब में चला जाता है, वैसे ही प्रकृति चित्ति से अभिन्न हो जाती है। चित्त के संस्कार चित्त के साथ ही जाते हैं, उनका चित्त से भिन्न नाश नहीं है। चित्त ही संस्कारों का उपदान कारण है। उपदान कारण के

नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। कहने के अलग-अलग ढंग हैं। जो बात सूत्र (४.३४) में कही है, वही बात यहाँ भी कही है।

क्योंजी ! विभूतिपाद में बहुत प्रकार की सिद्धियाँ बताई हैं, विवेकज्ञान की भी महिमा बताई है, क्या इन विभूतियों को प्राप्त किये बिना मोक्ष नहीं हो सकता ? क्या किसी अन्य साधन से भी मोक्ष हो सकता है ? श्रवण करो। विवेकज्ञान नामक उत्तम सिद्धि के बिना भी ज्ञान कैवल्यमोक्ष हो सकता है। कैवल्यमोक्ष में किसी प्रकार की सिद्धि की अपेक्षा नहीं है। कैवल्यमोक्ष विवेकख्याति से होता है।

कैवल्यमोक्ष में अविद्या की निवृत्ति ही कारण है। जिसके क्लेशबीज दग्ध हो गये हैं, उसके ज्ञान होने में किसी विभूति की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सम्यक्-दर्शी यह जानता है कि सब कुछ अनुभूयमान द्वैतप्रपञ्च त्रिगुण है। त्रिगुण जिसका धर्म हो, ऐसी वस्तु हेयपक्ष में आती है। मधुमती आदि ज्ञानसिद्धियों की आत्मदर्शन में कदापि अपेक्षा नहीं होती।

क्योंजी ! यदि कैवल्य में सिद्धियों की अपेक्षा नहीं होती, तो उनका उपदेश ही व्यर्थ हुआ है। ऐसी बात नहीं है। कैवल्य में विभूतियाँ अत्यन्त अहेतु नहीं हैं, क्योंकि विभूतियाँ परम्परा से ज्ञान की कारण हैं, साक्षात् कारण नहीं हैं। सिद्धियों के लिए संयम करना पड़ता है। संयम से रजोगुण-तमोगुण क्षीण होते हैं। इस प्रकार बुद्धि सत्त्व की शुद्धि होने पर वैराग्य होता है, इसलिए परम्परा से कैवल्यमोक्ष में सिद्धियों की उपयोगिता है। परमार्थ की बात यह है कि विवेकख्याति ही कैवल्यमोक्ष में मुख्य कारण है।

क्योंजी ! परम्परा से कारण तथा साक्षात् कारण में क्या अन्तर है ? दृष्टान्त से बताइये। श्रवण करो। एक बहेलिये ने धनुष-बाण से चिड़िया मारी। इसमें बहेलिया, धनुष, बाण तो चिड़िया की मृत्यु में परम्परा से कारण हैं, और साक्षात् कारण लोहे के फलक का अगला तीक्ष्ण भाग है।

परमार्थतः ज्ञान से अदर्शन अर्थात् द्वैतप्रपञ्च निवृत्त हो जाता है। अज्ञान के निवृत्त होने पर उत्तरकाल में और क्लेश नहीं रहता है। क्लेश के अभाव से कर्मविपाक का अभाव हो जाता है। उस अवस्था में गुणसमूह चरितार्थ होकर फिर पुरुष के सम्मुख दृश्यरूप से उपस्थित नहीं होते। यही पुरुष का कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष स्वरूपमात्रज्योति, अमल, केवली होता है।

अब यह रहस्य सुनिये । शंकरभगवत्पाद कहते हैं—‘तस्मात् सम्यग्दर्शनार्थमेवेदं शास्त्रं, न ज्ञानैश्वर्यविभूतिप्रयोजनम् ।’ इसलिए यह योगशास्त्र सम्यक् दर्शन के लिए ही है । ज्ञान के ऐश्वर्य जो अणिमादि विभूतियाँ हैं, उनके प्रयोजन के लिए नहीं है । विभूतियाँ मागं में आ सकती हैं ! कैवल्यसिद्धि में वे बाधक हैं ।

चार प्रसिद्ध योगपद्धतियाँ हैं—(१) मंत्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग तथा (४) राजयोग । नाम और रूप का आलम्बन करके मंत्रजप से जो साधनप्रणाली निर्णीत हुई है उसे मन्त्रयोग कहते हैं । मन्त्रयोग सोलह अंगों में विभक्त है । इसमें स्थूलध्यान किया जाता है । मन्त्रयोग से चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं । हठयोग में स्थूल शरीर की शुद्धि से चित्तवृत्तिनिरोध करने की साधना-प्रणाली है । इसे हठयोग कहते हैं । हठयोग सात अंगों में विभक्त है । इसका ज्योतिध्यान होता है । लययोग और भी उन्नत अवस्था का साधन है । इसमें जगत्-प्रसविनी कुलकुण्डलिनी शक्ति को, जो सारे शरीर में विद्यमान है, जाग्रत करके, षट्चक्र भेदन करते हुए सहस्रार में लय कर चित्तवृत्तिनिरोध करने की जो योग-प्रणाली है, उसे लययोग कहते हैं । लययोग में बिन्दु ध्यान होता है ।

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग से जो समाधिस्थिति प्राप्त होती है, उसे सविकल्प या सबीज अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ।

योगप्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ योगप्रणाली का नाम राजयोग है । उन्नत अवस्था के त्रिविध साधकों को कैवल्यमोक्ष प्राप्त करने के लिए राजयोग की सहायता लेनी पड़ेगी । यही नहीं, कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग अथवा कोई भी योग हो, मोक्षसिद्धि के लिए उन सबको, बिना अपवाद के, राजयोग का आलम्बन करना पड़ेगा । राजयोग ही ‘अहंरूप’ का ब्रह्मरूप से साक्षात् करवाता है ।

केवल विचारशक्ति द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करने की जो योग-विधि है, उसे राजयोग कहते हैं । राजयोग के पंद्रह अंग हैं । इसका ध्यान ब्रह्मध्यान से अभिहित है । बाकी सब योगों की पहुँच सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधि तक है, परन्तु राजयोग की समाधि ही निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि है, जहाँ पहुँचकर जन्म-मरण-कुचक्र छूट जाता है । यही परम पुरुषार्थता है, यही जन्मसाफल्य है । यही विष्णुपद, परमधाम, निर्वाण, अभयपद, अमरपद आदि नामों से कहा जाता है । मनुष्य की संसार में यही सर्वोच्च उपलब्धि है । ‘सा काष्ठा सा परागतिः ।’ (कठ श्रुति, २.३.११) ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्यं जगद्गुरु यतियतीन्द्र
 महामहामण्डलेश्वर, महावेदान्तकेसरी, श्रोत्रिय,
 ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी ओंकारामश्वमजी
 महाराज वण्डी के शिष्य तथा ब्रह्मकुलभूषण पण्डित-
 प्रवर हेमराज शर्मा एवं महायशा मोहरली देवी
 के सुपुत्र पण्डित मनोहरलाल शर्मा एम० ए०
 'गुरुभक्तरत्न' 'अभिनव जनक' द्वारा
 पातञ्जल योगसूत्र विभूतिपाद पर ब्रह्म-
 तरङ्गिणी प्रदीपिका समाप्ता ॥ ३ ॥

कैवल्यपाद ४

पातञ्जल सूत्रों के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पादों में क्रमशः समाधि, उसके साधन तथा विभूतियाँ प्रधानता से व्याख्यात हुई हैं। इनके अतिरिक्त प्रासंगिक विषय भी दिये हैं। समाधि के वास्तव फल कैवल्य का प्रसंगवश वर्णन हुआ है। कैवल्य का प्रतिपादन करने के लिये, कैवल्य के योग्य चित्त का परीक्षण करना चाहिए, कर्म, वासना का स्वरूप जानना चाहिए। चित्त में और बाह्य विषयों में भेद, चित्त का स्वरूप तथा चित्त और चित्ति का भेद भी जानना आवश्यक है। इसलिये इस पाद में कैवल्य को विस्तार से कहा है। चित्त और चित्त के संस्कारों के निवृत्त होने पर कैवल्यस्थिति प्राप्त होती है।

तीसरे पाद में नाना प्रकार की सिद्धियाँ निरूपित हुई हैं। क्या धारणा, ध्यान, समाधि को छोड़कर, अन्य उपाय से भी सिद्धियाँ हो सकती हैं? हाँ, कुछ सिद्धियाँ योग के अतिरिक्त अन्य उपाय से भी हो सकती हैं।

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः = जन्म से होनेवाली, औषधि से होनेवाली, मन्त्र से होनेवाली, तप से होनेवाली और समाधि से होनेवाली (-ऐसे पाँच प्रकारकी); सिद्धयः = सिद्धियाँ होती हैं।

व्याख्या : शरीर, इन्द्रियों और चित्त में परिवर्तन होने पर उनमें जो पहले की अपेक्षा अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है, उसे सिद्धियाँ कहते हैं। सिद्धियाँ पाँच कारणों से होती हैं—

जन्म से : कुछ व्यक्ति सिद्धियों के लिए प्रयत्न करते हैं। उनको उस जन्म में सिद्धि नहीं मिलती। परन्तु अगले जन्म में मिल जाती है। ऐसी सिद्धियों को जन्मजात सिद्धियाँ कहते हैं। परमर्षि कपिल, पूर्वजन्मों के पुण्यप्रभाव से, जन्मते ही सिद्ध हुए। आदिविद्वान् कपिलमुनि जन्मजात सिद्ध हैं। कोई मनुष्य स्वर्ग के लिए प्रयत्नशील है। उसके पुण्यकर्मविपाक से उसका देवयोनि में

जन्म होता है, तब जन्ममात्र से ही योगी को उस श्रेणी के देवों की अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

औषधि से : औषधि से भी सिद्धि प्राप्त होती है । पारद, गन्धक, स्वर्णादिक से नाना प्रकार की दिव्य औषधियाँ बनती हैं । इन औषधियों के सेवन से जरा नष्ट होती है तथा अजरता-अमरता मिलती है । भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि असुरभवनों में रसायन-प्रयोग से सिद्धि मिलती है । असुरभवन का अर्थ है दिव्य औषधों के निर्माण के लिए प्रयोगशाला । माण्डव्य मुनि रसायन-प्रयोग करते थे । गलती से डाकुओं ने उनकी कुटी में प्रवेश करके उन्हें शूली पर बिठा दिया, तो भी वे मरे नहीं । इनकी कथा मार्कण्डेय पुराण, भागवत पुराण में आई है ।

मन्त्र से : मन्त्रजप से भी नाना प्रकार की सिद्धियाँ मिलती हैं । आकाश-गमनादि, अणिमादि सिद्धियाँ भी मन्त्र-जप से प्राप्त हो सकती हैं । राक्षसराज रावण ने शंकरजी का मन्त्र जप कर कई प्रकार की सिद्धियाँ पाई थीं ।

तप से : तपस्या से कामरूपी होकर इच्छामात्र से आ-जा सकने की सिद्धि तप से भी मिलती है । इच्छामात्र से दूरदर्शन, दूरश्रवण की सिद्धि । विश्वामित्र को तप से कितनी ही सिद्धियाँ प्राप्त हुईं ।

समाधि से : समाधिजात सिद्धियाँ विभूतिपाद में १६ से १९, २१ से ३६, ३९ से ४२ तथा ५१, इन सूत्रों में व्याख्यात हो चुकी हैं ।

ये जो जन्मजातादि सिद्धियाँ हैं, वे सब पूर्वजन्मों में अभ्यस्त समाधि के बल से ही इस जन्म में प्राप्त होती हैं । जन्म, औषधि आदि तो निमित्तमात्र हैं । इन पाँच प्रकार के सिद्ध चित्तों में कौनसा चित्त कैवल्य के लिए उपयोगी है, यह बताने के लिए पाँच प्रकार से होनेवाली सिद्धियाँ बताई हैं । समाधिज चित्त ही कैवल्य के उपयुक्त है ॥ १ ॥

जन्म, औषध, मन्त्र तथा तप—ये जो चार सिद्धिसाधन बताये हैं, उनसे साधक के शरीर, इन्द्रिय में जाति-अन्तर परिणाम होता है । यह परिणाम कहाँ से आता है ?

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

जात्यन्तरपरिणामः=(यह) एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना—रूप जात्यन्तरपरिणाम; प्रकृत्यापूरात् = प्रकृति के पूर्ण होने से होता है ।

व्याख्या : यह परिणाम किस उपादान कारण से होता है ? श्रवण करो । देह और इन्द्रियों में जो अन्य जातिपरिणाम होता है, वह प्रकृति के अनुप्रवेश से होता है । क्योंजी ! योगियों के जो वर्तमान देह और इन्द्रियाँ हैं, क्या उन देह और इन्द्रियों में उपस्थित उपादानों से ही काया और इन्द्रियों में अन्य जातिपरिणाम हो जाते हैं, अथवा अन्य उपादान कारण अपेक्षित रहते हैं ? जाति के दो अर्थ हैं, एक अर्थ जन्म, दूसरा अर्थ प्रकार (class) । मनुष्यजातिरूप परिणाम प्रकृति के आपूर्ण से होता है । शिवपुराणान्तर्गत सनत्कुमार संहिता के ४५वें अध्याय में कथा आती है कि शिलाद मुनि का नन्दीकुमार नामक पुत्र भगवान् शिव की उग्र उपासना से मनुष्य-शरीर को त्यागकर इसी जन्म में देवदेह को प्राप्त हो गया । विश्वामित्र गायत्री के उग्र तप से इसी जन्म में क्षत्रिय जाति से ब्राह्मण हो गया ।

अब सिद्धि का प्रकार बताते हैं । मनुष्यजाति के शरीर और इन्द्रियों में जो वर्तमान परिणाम है, वह परिणाम देवतिर्यक् जातिपरिणाम में प्रकृति के आपूरण से बदल जाता है । किस प्रकार ? शरीर का उपादान कारण पृथ्वी आदि भूत होते हैं । इन्द्रियों के उपादान कारण प्रकृति, अस्मिता (अहंकार) होता है । प्रकृति सब पृथ्वी आदि भूतों में तथा अहंकार आदि में सदा अनुगत रहती है । मन्त्रजप, औषध, तप आदि से प्रकृति-प्रवेश के बाधक हट जाते हैं । तब प्रकृति का निर्विघ्न अनुकूल अनुप्रवेश होकर जाति-अन्तर परिणाम हो जाता है । मनुष्य-देह की प्रकृति देव-देह से कुछ भिन्न है, कुछ समान है । मनुष्य-देह पृथ्वीप्रधान है, देव-देह तेजप्रधान है । देव-देह के उपयोगी भूत जो मनुष्य-देह में होते हैं, वे तो रह जाते हैं और अनपेक्षित भूत निकल जाते हैं । उनके स्थान पर देव-देह के अनुरूप उपादान कारण भूत प्रकृति से आपूरित हो जाते हैं । इसी प्रकार इन्द्रियों में दिव्यता के अनुरूप उपादान कारणों का प्रवेश हो जाता है और अनपेक्षित तत्त्व नष्ट हो जाते हैं । तब यह अनुप्रविष्ट हुई नयी प्रकृति अपने-अपने विकारों पर अनुग्रह करके उनमें दिव्यता गुण भर देती है । तब मनुष्य-जाति का देव-जाति में परिणाम होता है । इसी प्रकार तिर्यक् जातिपरिणाम समझना ।

क्योंजी ! यह प्रकृति आती कहाँ से है ? यह प्रकृति विभु है, और सब भूतों में, अस्मितादि में अन्तर्निहित रहती है । तब धर्म-अधर्म के बन्धनों के कारण अभिव्यक्त नहीं होने पाती । जब पुण्यों के प्रताप से, अथवा पापों की

कलुषता से ये अशुभ बन्धन या शुभ बन्धन टूटते हैं, तो उन्हींके अनुकूल प्रकृति प्रवेश करके जाति-अन्तर परिणाम कर देती है। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनायें और प्रयत्न हैं, वे केवल निषेधात्मक कार्य हैं, यानी बाधाओं को नष्ट कर देते हैं। पूर्णता तो मनुष्य का स्वभाव ही है। सभी मनुष्यों में सब प्रकार उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित हैं। केवल उनके द्वार बन्द हैं, वे अपनी अभिव्यक्ति का रास्ता नहीं पा रही हैं। प्रबल पुण्यकर्म, योग-साधना-पूर्णता के किवाड़ खोल देते हैं। यही रहस्य वरदान और शाप का है। श्री भगवान् गीता में कहते हैं कि मेरी अनन्य भक्ति से पापी भी क्षिप्र ही साधु हो जाता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९.३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ॥ ९.३० १ ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझे निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला होता है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है।

क्योंजी ! यदि प्रकृति के आपूरण से शरीर-इन्द्रियों में अलौकिकता आ जाती है, तो वह स्थायी क्यों नहीं होती ? इसलिए कि प्रकृति अनुप्रवेश में धर्मादि अपेक्षित हैं। मान लो, आज कोई सिद्ध हो गया है। वह सिद्धि के धमंड से दुराचरण करने लगा तो वह सिद्धि स्थिर नहीं रह सकेगी। योगीश्वरों के भी देहेन्द्रियों में परिणामान्तर उत्पत्ति के समय धर्मादिकों की अपेक्षा है। लोक में भी देखा जाता है कि तृणराशि में क्षुद्र अग्नि कण भी क्षणभर में प्रकृति आपूर से गगनव्यापी आकार धारण कर लेता है। वामनावतार में विष्णु भगवान् ने प्रकृति आपूर से क्षणभर में त्रिभुवनव्यापी विश्वरूप धारण करके बलि को पाताल में भेजा। अगस्त्यमुनि ने तोय की प्रकृति के अपसारण से समुद्रपान किया। इसी प्रकार यह विश्व परमेश्वर का मायाविलास मात्र है। परमेश्वर क्षण में प्रकृति के आपूरण अपसारण से जगत् को अन्यथा करने, उत्पादन करने, विलय करने में समर्थ है। सूक्ष्मता से देखने से योगी लोग जानते हैं कि प्रतिक्षण ही यह जगत् नारायण की माया का नृत्य है। इसकी स्थिरता में कौन विश्वास करे ॥ २ ॥

अब यह प्रश्न है कि प्रकृति-आपूर स्वभाव से ही होता है, अथवा इसमें धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा है। ऐसा भी देखने में आता है कि प्रकृति के रहते-

रहते अकस्मात् धर्मादि निमित्तों से कभी-कभी प्रकृति-आपूर होता है। तब क्यों न यह मान लिया जाय कि निमित्तमात्र से प्रकृति-आपूर होता है।

इस पर सूत्रकार कहते हैं—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

निमित्तम् = निमित्त; प्रकृतीनाम् = प्रकृतियों को; अप्रयोजकम् = चलाने-वाला नहीं है; ततः = उससे; तु = तो (केवल); क्षेत्रिकवत् = किसान की भाँति; वरणभेदः = रुकावट का छेदन किया जाता है।

व्याख्या : यह सत्य है कि धर्मादि निमित्त (Immediatecause) होते हैं, परन्तु वे प्रकृति के प्रेरक नहीं होते, क्योंकि कार्य अपने कारण का प्रेरक नहीं होता। कार्य की उत्पत्ति का आधार कारण होता है, कार्य उसको कैसे प्रेरित करेगा? केवल स्वतंत्र कारण में (परतन्त्र कार्य में नहीं) ही प्रेरक शक्ति होती है। वाचस्पति मिश्र उदाहरण देते हैं कि कुलाल की अनुपस्थिति में मिट्टी, दण्ड, कुलाल-चक्र, जल आदि मृत्तिका-घट से, जो कि बन चुका है, अथवा जो अभी बनना है, प्रेरित नहीं किये जा सकते। परन्तु कुलाल जो कि स्वतंत्र है, घट-रचना में प्रेरक होता है। मृत्तिका, दण्ड, कुलालचक्रादि निमित्त-मात्र हैं, पर प्रेरक नहीं। पुरुषार्थ भी, यानी साधक का प्रयत्न भी प्रेरक नहीं है। तो प्रेरक कौन है? ईश्वर ही प्रेरक है, क्योंकि वह सब पुरुषार्थों का फल देनेवाला है। पुरुष-प्रयत्न से नारायण प्रसन्न होते हैं और साधक को अपनी प्रेरणा मात्र से माया द्वारा फल देते हैं। 'कर्माध्यक्षः' इति श्रुतिः। ईश्वर कर्म का फलदाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्माधर्मादिकों की निमित्तता नहीं है। वे बाधाओं को हटा देते हैं, जैसे कि किसान खेत का डौला (मेंड़) काटकर जल-प्रवेश की बाधा हटा देता है। भगवान् भाष्यकार ने क्षेत्रिक का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार किसान एक खेत से अन्य (समतल, निम्नतल तथा निम्नतरतल) खेत को सींचने की इच्छा करने पर, हाथ से जलसिंचन नहीं करता है, परन्तु जल-नाली या मेंड़ को तोड़ देता है और उसके टूटने से जल स्वतः ही उस खेत को भर देता है, उसी प्रकार धर्म, प्रकृतियों के बंधक (आवरण, रुकावट) का, अधर्म या विरुद्ध धर्म का, भेद कर देता है। उसके टूटने पर प्रकृतियाँ अपने-अपने विकारों को स्वयं आप्लावित कर देती हैं।

अथवा जिस प्रकार वही क्षेत्रिक उस खेत में उगे हुए चावल, गेहूँ आदि के मूलों में भूमि का सार लिये हुए जलीय रस का अनुप्रवेश नहीं करवाता, परन्तु वहीं पर झाड़-झंखाड़, अनपेक्षित भूमिज घासों को उठा देता है, और उन्हें उठा देने पर वे रस स्वयं ही धान्य, गेहूँ आदि के मूल में अनुप्रवेश करते हैं। उसी प्रकार धर्म केवल अधर्म की निवृत्ति या अभिभव करता है, क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि अत्यन्त विरोधी हैं। परन्तु धर्म प्रकृति-प्रवर्तन का हेतु नहीं होता।

इस विषय में नन्दीश्वर आदि उदाहरण हैं। कुमार नन्दीश्वर ने धर्म तथा कर्मविशेष द्वारा अधर्म को निरुद्ध कर लिया था, और उनकी देवप्रकृति इसी जीवन में प्रादुर्भूत हुई थी, जिससे उनमें देवत्व परिणाम हुआ था। इसी प्रकार विपरीत कर्म से अधर्म भी, धर्म को, अभिभूत करता है। इस विषय में नहुष-अजगर उदाहरण है। राजा नहुष अपने पुण्य प्रताप से कुछ समय के लिये देवराज इन्द्र बन गये। तब वे बोले कि मैं इन्द्र हूँ। देवराज इन्द्र (जो कि ब्रह्महत्या के भय से कमलकोष में छिपे हुए थे) को पत्नी शचि को मैं ग्रहण करूँगा। देवगुरु बृहस्पति बोले कि तुम सप्तर्षियों को पालकी में जोड़कर उसमें बैठकर शचि के पास चले जाओ। नहुष ने वैसा ही किया। ऋषि बूढ़े थे। वह स्वयं कामपीडित था। ऋषिगण धीरे-धीरे चलते थे। उसे विलम्ब असह्य था। वह अशुद्ध बोल उठा। ऋषियों से 'सरप, सरप' (जल्दी चलो, जल्दी चलो) न कहकर, उसके मुख से 'सर्प, सर्प' निकल गया। तब ऋषियों ने पालकी छोड़ दी और शाप दे दिया—'रे दुष्ट ! तू सर्प बन जा।' इस प्रकार सप्तर्षियों का तिरस्कार करने से तथा पतिव्रता के शील-अपहरण के इरादे से नहुष राजा का दिव्य धर्म निरुद्ध हुआ, और उसका अजगर परिणाम हुआ। ये कथाएँ पुराणों में आई हैं ॥ ३ ॥

जब योगी अपनी सिद्धिसामर्थ्य से प्रकृत्यापूर करके अनेक शरीरों की रचना करता है, तो क्या योगशक्ति से निर्मित भिन्न-भिन्न शरीरों में एक ही चित्त (मन) रहता है या भिन्न-भिन्न चित्त रहते हैं। यदि आप कहो कि प्रत्येक निर्मित शरीर में अलग-अलग मन होता है, तो प्रत्येक मन का अपना अलग-अलग अभिप्राय होने से, सब मनो के अभिप्रायों में एकता नहीं होगी, तथा उनकी स्मृतियों में भी एकता नहीं होगी, जिस प्रकार के दो भिन्न व्यक्तियों की स्मृतियों में एकता नहीं होती। इसलिए एक ही चित्त दीपक के स्फुल्लिग-प्रसार की भाँति नाना निर्मित शरीरों में व्याप्त कर जाता है। इसलिये कहते हैं—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

निर्माणचित्तानि=बनाये हुए चित्त; अस्मितामात्रात् = केवल अस्मिता से होते हैं ।

व्याख्या : योगी के स्वसंकल्प से निर्मित चित्त निर्माणचित्त कहे जाते हैं । उनकी संख्या निर्माणशरीरों की संख्या के सम होती है । इसका कारण बताते हैं । निर्माणचित्त अस्मिता (अहंकार) मात्र से बनाये जाते हैं । मात्र कहने से अन्य सामग्री का व्यावर्तन (Exclusion) किया है । यहाँ चित्त उपलक्षण से कहा है । इन्द्रियाँ भी अस्मितामात्र से बनती हैं । इसलिए निर्माण-काया, चित्त और इन्द्रियोंसहित, होते हैं, क्योंकि चित्त और इन्द्रियों के अभाव में मृतवत् काया निरर्थक हो जायगी ।

क्योंजी ! योगीगण निर्माणचित्त किसलिये बनाते हैं ? श्रवण करो । निर्माणचित्त बनाकर योगीगण भूतानुग्रह के लिये ज्ञानधर्म का उपदेश किया करते हैं । परमर्षि कपिल ने आसुरि मुनि को निर्माणशरीर से सांख्य का उपदेश किया था ।

यदि योगी शरीर को तत्क्षण त्यागना चाहें तो त्याग सकते हैं । क्योंजी ! उनके अवशिष्ट प्रारब्ध-कर्मों का क्या होगा ? एक शरीर में प्रारब्ध-कर्म-फलभोग एक के पश्चात् एक आता है, अतः विलम्ब होता है । योगीजन अनेक निर्माणशरीर (सचित्त) बनाकर प्रारब्ध-कर्मों का युगपत् फल भोगकर प्रारब्ध क्षीण कर देते हैं, और शरीर से मुक्त हो जाते हैं ।

जब योगी को महत्तत्त्व पर अधिकार हो जाता है, तब अपने योगबल से योगी जितने चित्त चाहे बना सकता है । राजा शिखिध्वज की रानी महायोगिनी चुडाला ने अपने योगसामर्थ्य से वन में ही चतुरंगिणी सेना का निर्माण किया था । यह कथा योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी ने रामजी को सुनाई थी । शोभ्री मुनि ने राजा मान्धाता की पचास कन्याओं से विवाह किया और अपने पचास रूप बनाकर प्रत्येक रानी के साथ पृथक्-पृथक् महल में निवास करते थे ॥ ४ ॥

क्योंजी ! अनेक चित्तों में अनेक अभिप्राय होने से व्यवहार कैसे सिद्ध होगा ? सब अभिप्राय एक तन्त्र में कैसे रहेंगे ? इस शंका को दृष्टि में रखकर अगला सूत्र कहते हैं—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

अनेकेषाम् = अनेक चित्तों को; प्रवृत्तिभेदे = नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में; प्रयोजकम् = नियुक्त करनेवाला; एकम् = एक; चित्तम् = चित्त (होता) है ।

व्याख्या : योगी के सभी निर्माणचित्तों का प्रयोजक एक ही चित्त, यानी योगी का अपना चित्त, होता है । योगी का अपना ही उत्कर्षयुक्त चित्त अनेक निर्माणचित्तों का प्रयोजक होता है, जैसे कि एक ही अन्तःकरण नाना प्राणों, इन्द्रियों के कार्यों का प्रयोजक होता है । प्रयोजक एक चित्त और प्रयोजित बहुत से चित्त तथा उनके विषय, कार्य युगपत् के समान प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि सभी चित्तों का मूल एक ही अस्मितामात्र है । सभी निर्माणचित्तों का, योगी का अपना पूर्वसिद्ध चित्त ही, उत्पत्ति-स्थिति-संहार करता है । इस सम्बन्ध में वायुपुराण का प्रमाण देते हैं—

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः ।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः ॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चेत एव हि ।
एकधा च द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च ।
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चित् उग्रं तपश्चरेत् ॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

अपनी प्रभु-शक्ति से, ईश्वर, यद्यपि एक होता है, तो भी बहुत से बन जाता है । तब बहुत बनकर वह फिर एक बन जाता है । उसीसे नाना चित्त बनते हैं । योगीश्वर अपने शरीर को एक, दो, तीन अथवा अनेक बना लेता है और फिर उन शरीरों का संहार कर देता है । कुछ शरीरों से वह विषयों को प्राप्त करता है । कुछों से वह उग्र तपस्या करता है । फिर वह उनको समेट लेता है, जैसे कि सूर्य-किरणों को सिकोड़ लेता है ।

क्योंजी ! निर्मित शरीरों का अपना कृत्य करने के पश्चात् क्या होता है ? क्या उनका दाह-संस्कार किया जाता है ? नहीं । वे योगी में ही प्रवेश कर जाते हैं, जैसे सूर्य-प्रतिबिम्ब सूर्य में । दुर्गासप्तशती के तृतीय चरित्र शुम्भ-वध में कथा आती है कि भगवती दुर्गा ने शुम्भ की सारी सेना का संहार कर दिया । तब शुम्भ अपने को अकेला देखकर तथा भगवती की ब्रह्माणी,

माहेश्वरी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही आदि शक्तियों को देखकर बोला, दुर्गे ! तुम गर्व मत करो । अपनी शक्तियों के बल पर लड़ रही हो । इस पर भगवती दुर्गा ने अपनी विभूतियों का संहरण कर लिया और बोली—

एकैवाहं जगत्पत्र द्वितीया का ममापरा ।

पश्येता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥ १०.५ ॥

ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखालयम् ।

तस्या देव्यास्तनौ जगमुरेकैवासीत्तदाम्बिका ॥ १०.६ ॥

अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता ।

तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव ॥ १०.८ ॥

देवी बोलीं—रे दुष्ट ! मैं अकेली ही हूँ । इस संसार में मेरे सिवा कौन है ? (तुम भी मेरा ही रूप हो) देख; ये मेरी ही विभूतियाँ (निर्माण-शरीर) हैं, अतः मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं ॥ ५ ॥ तदनन्तर ब्रह्माणी आदि सब विभूतियाँ अम्बिका देवी के शरीर में प्रवेश कर गईं । उस समय केवल अम्बिका भगवती ही रह गयीं ॥ ६ ॥ देवी बोलीं—मैं अपनी ऐश्वर्य-शक्ति से अनेक रूपों में उपस्थित थी । उन सब रूपों को मैंने समेट लिया है । अब मैं अकेली ही युद्धांगण में खड़ी हूँ । तुम भी युद्ध के लिये स्थिर हो जाओ ॥ ८ ॥ यहाँ तक पाँचवें सूत्र की व्याख्या हुई है ॥ ५ ॥

पाँच प्रकार के निर्माणचित्त बनते हैं । उनमें से मोक्ष के लिये कौन चित्त उपयुक्त है तथा उसकी क्या विलक्षणता है ? अगले सूत्र में श्रवण करो—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र = उन सिद्धचित्तों में; ध्यानजं = जो ध्यानजनित चित्त होता है वह; अनाशयम् = कर्माशय से रहित होता है ।

व्याख्या : जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि के सामर्थ्य से उत्पन्न पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माणचित्त होते हैं । उन पाँचों में से कौनसा चित्त मोक्ष के योग्य होता है, यह निर्णय करने के लिये कहते हैं कि ध्यानज चित्त अपवर्ग के लिये उपयुक्त होता है । जन्म, औषधि, मन्त्र तथा तप से सिद्धचित्त

अपवर्ग में असमर्थ होता है। क्यों ? जिस चित्त में कर्मवासना, क्लेशवासना शयन करती हैं, उसे आशय कहते हैं। जिस चित्त में ये विद्यमान न हों, उसे अनाशय कहते हैं। ध्यानज चित्त में रागद्वेषादि बन्धक प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं, इसलिये समाधि के बल से निर्मल किये हुए चित्त यानी ध्यानज चित्त पुण्य-पाप से भी सम्बद्ध नहीं होते। क्योंजी ! ध्यानज चित्त में रागादिजनित प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इसलिये कि उसके कर्म-वासना-क्लेश क्षीण हो चुकते हैं, ध्यानबल से। ध्यानज अनाशयवाले मन की विशेषता दशनि के लिये कहते हैं कि दूसरों का यानी जन्मादिसिद्ध चित्तों में कर्माशय होता है, क्योंकि उनके क्लेश क्षीण नहीं हुए हैं, 'क्लेशमूलः कर्माशयः' कर्माशय का मूल क्लेश होता है। क्लेशों के अभाव होने पर कर्माशय की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ६ ॥

क्योंजी ! कर्माशय तो कर्मसंस्कारों से बनते हैं। कर्म तो योगी भी करते देखे जाते हैं। उनके कर्म बन्धनकारी क्यों नहीं होते ? इसका हेतु अगले सूत्र में बताते हैं—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगिनः = योगी के; कर्म = कर्म; अशुक्लाकृष्णम् = अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं (तथा); इतरेषाम् = दूसरों के; त्रिविधम् = तीन प्रकार के होते हैं।

व्याख्या : यह कर्मजाति चार प्रकार की होती है—(१) कृष्णकर्म, (२) शुक्लकर्म, (३) शुक्लकृष्णकर्म, (४) अशुक्लाकृष्णकर्म। इनमें से दुरात्माओं के (१) कृष्णकर्म होते हैं। दुःखफलद कर्म। जिन कर्मों से हिंसा, असत्य, स्तेय, दुराचार प्रकाशित हों वे कृष्णकर्म होते हैं। (२) शुक्लकर्म—धर्मात्माओं के शुक्लकर्म होते हैं। तप, स्वाध्याय, ध्यान करनेवालों के कर्म शुक्ल होते हैं। सुखफलद कर्म। इनसे सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। ये ज्ञानियों के कर्म नहीं हैं, किन्तु आत्म-कल्याण के इच्छुक साधकों के निष्काम कर्म हैं। (३) शुक्लकृष्णकर्म—पाप-पुण्यमिश्रित कर्म। जो बाह्य साधनों का आश्रय लेकर किये जाते हैं, चाहे वे शुभकर्म ही हों, उनमें किसी न किसीको पीड़ा होती ही है। जैसे खेती अच्छा कर्म है, परन्तु हल चलाते समय कितने कीड़े-मकोड़ों का हिंसन होता है। फसलों की रक्षा में कितने ही पशु-पक्षियों को अनिच्छित पीड़ा होती है। साधारण जनता द्वारा ऐसे कर्म होते हैं। इसलिये

ये कर्म शुक्ल-कृष्ण मिले हुए होते हैं। जो कर्म बाह्य साधनों से—जाया, पुत्र, पशु, यज्ञादिकों से—साध्य हों वे शुक्ल-कृष्ण श्रेणी में आते हैं। वे कौन हैं ? जो परपीड़ा अथवा अनुग्रह से, क्लेशबहुलता से साध्य हों वे कर्म कृष्ण और शुक्ल होते हैं। (४) अशुक्ल-अकृष्णकर्म—संन्यासियों के, जिनका अन्तिम जन्म होता है, कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं। अशुक्ल इसलिये होते हैं कि उन्होंने कर्मफल त्याग दिये हैं। अकृष्ण इसलिये होते हैं कि उन्होंने कर्मफल ईश्वर को समर्पण कर दिये हैं। उनके पल्ले फल नहीं बँधते। उनके क्लेश क्षीण हो गये हैं। कर्मशय क्लेशमूल होता है। संन्यासियों के कर्म प्रारब्धकर्मफल-भोग भोगने के लिये होते हैं। उनके कर्म नवीन जन्मोत्पादक नहीं होते। उनके कर्मशयों में नूतन कर्मसंस्कार संगृहीत नहीं होते। ज्ञानियों के कर्म अकर्म ही होते हैं। राग-द्वेष से कर्म में प्रवृत्ति बनती है। संन्यासियों के रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं। अतः उनके कर्म न शुक्ल, न कृष्ण श्रेणी में आते हैं। गीताजी के वचन देते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४.२० ॥

निराशीर्यत्तच्चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४.२१ ॥

—जिसने कर्म और उसके फल में आसक्ति त्याग दी है, जो आत्मदर्शन से तृप्त है, जो द्वैत के आश्रय से रहित है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष वैदिक अथवा बहुविक्षेपकारी लौकिक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होकर भी अपनी दृष्टि से वह कुछ भी नहीं करता। ज्ञानाग्नि से कर्म दग्ध होने के कारण उसका कर्म अकर्म ही है। यत्ति के भिक्षाटनादि कर्म से पाप नहीं लगता। सर्वतृष्णा-रहित, चित्त और देह को जीतनेवाले, सर्वपरिग्रह त्यागनेवाले को शरीर-रक्षामात्र के लिये भिक्षाटनादि कर्म करते हुए जीवन्मुक्त पुरुष को पाप प्राप्त नहीं होता है।

परन्तु जो असंन्यासी हैं, यानी अयोगी हैं, उनके कर्म तीनों प्रकार के होते हैं।

क्योंजी ! कर्मफल तो अविनाशी होता है। ज्ञानवानों के देह से जो पुण्यापुण्य कर्म होते हैं, उनके फल कहाँ जाते हैं ? श्रवण करो। ज्ञानियों के पुण्यकर्मफल उनके सेवकों, भक्तों को मिलते हैं। उनके पापकर्मफल उनके

निन्दकों, द्वेषियों को मिलते हैं। उनकी सम्पत्ति पुत्र को मिलती है। शास्त्रों में इस प्रकार विधान दिया है ॥ ७ ॥

कर्माशय की विवेचना करके अब कर्मराशि की गति बताते हैं—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

ततः = उन (तीन प्रकार के कर्मों) से; तद्विपाकानुगुणानाम् = उनके फलभोगानुकूल; वासनानाम् = वासनाओं की; एव = ही; अभिव्यक्तिः = अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है।

व्याख्या : इन तीन प्रकार के कर्मों से—शुक्ल-कृष्ण-शुक्लकृष्णमिश्रित कर्मों के फलों के अनुरूप ही चित्त में वासनायें प्रकट होती हैं। यह बात योगियों पर लागू नहीं होती, क्योंकि उनके कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। मान लो, किसीने देवयोनि-उचित, मनुष्योचित और पशुयोनि-उचित नाना प्रकार के नाना कर्म नाना जन्मों में किये हैं। इन कर्मों के संस्कार कर्माशय में संचित रहते हैं। जो कर्म सद्योभोगोन्मुख होने के लिये जोर लगाते हैं, उन्हींके कर्मफलभोग के अनुरूप ही वासनाएँ प्रकट होती हैं। जब कर्मों का फल मनुष्य-जन्म होता है, तो स्मृति मनुष्य-जाति, आयु और भोगवाली वासनाओं की, जो जन्म-जन्मान्तरों से चित्त में संस्काररूप से पड़ी हैं, जगा देती है। देवयोनि-उचित तथा मनुष्ययोनि-उचित संस्कार दबे रहते हैं। इसी प्रकार यदि कर्मों का फल कोई पशुयोनि हो तो उसी जाति, आयु तथा भोग देनेवाली वासनाओं की स्मृति जगा देती है और वे अपना फल देने लगती हैं। क्योंकि ! कर्मविपाक के अनुरूप वासनाएँ क्यों उदित होती हैं ? क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप होते हैं। 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'—संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्मृति कहते हैं। 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं अनुभवः'—विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुभव कहते हैं ॥ ८ ॥

क्योंजी ! वासनायें तो सैकड़ों जन्म पूर्व की होती हैं। इन जन्मों में देश-काल का भी बड़ा अन्तर होता है। तब आप बतायें कि एक जन्म देने के लिये भिन्न-भिन्न जन्मों, देशों तथा कालों में चित्त में संचित वासनायें एक काल में कैसे प्रकट होती हैं ? श्रवण करो—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेक- रूपत्वात् ॥ ९ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानाम् = जाति, देश और काल--इन तीनों का व्यवधान रहने पर; अपि = भी; आनन्तर्यम् = कर्म के संस्कारों में व्यवधान नहीं होता है; स्मृतिसंस्कारयोः = क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का; एकरूपत्वात् = एक ही स्वरूप होता है ।

व्याख्या : मान लो, कोई आदमी मरकर बिल्ली योनि में जन्म पाता है । स्वाभाविक ही यह आशा होती है कि मनुष्य-जाति के संस्कार प्रकट होने चाहिये थे, क्योंकि मनुष्य-जन्म एकदम नजदीक है । बिल्ली जन्म से पहले मनुष्य-योनि ही तो थी । यह नहीं कहा जा सकता कि पिछले दिन का अनुभव तो याद नहीं रहेगा और शत वर्ष पहले का याद रहेगा । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि संस्कारों का सम्बन्ध दूसरी जाति, दीर्घकाल, भिन्न देश आदि से टूटता नहीं । संस्कारों की एकपरता सौ जन्मों के, सैकड़ों वर्षों के, अन्य दूर देशों के व्यवधान से खंडित नहीं होती । क्योंकि संस्कारों की और स्मृति की एकरूपता होती है । अनुभव ही संस्कार है । वही स्मृतिरूप में परिणत होता है । इसलिये जैसा संस्कार, वैसी स्मृति । मान लो, कोई सौ जन्म पहले अमरीका में बिलाव था । बिलाव-जन्म के पश्चात् सौ जन्म तक वह मनुष्य-योनि में जन्म लेता रहा । एक सौ एकवें जन्म में उसका फिर बिलाव-योनि में भारत में जन्म है । शत मनुष्य-जन्म का फासला तथा अमरीका से भारत, मनुष्य से बिल्ली-योनि, यानी जन्म की भिन्नता, देश का दूरत्व, काल की दीर्घता आदि व्यवधान, रुकावटें होने पर भी बिल्ली-जन्म-वासना क्षणभर में उदित होती है । उसका बिडाल-जाति प्रापक कर्म पूर्व में अनुभव किये बिडालयोनि कर्मसंस्कारों को तत्क्षण आकर्षित कर लेगा । स्मृति और संस्कार एकरूप होते हैं । जैसा अनुभव, वैसे संस्कार भी होते हैं । वे कर्मवासना के अनुरूप होते हैं । जैसी वासनायें, वैसी ही स्मृति भी होती है । जैसी-जैसी स्मृति, वैसी ही वासना । उत्तररामचरित्र नाटक में सीताजी ने रामजी से कहा, हे देव, मुझे वन-दृश्यों को देखने की फिर इच्छा होती है । उसके पश्चात् गुप्तचर ने दुर्मुख धोबी द्वारा सीतामाता पर दोषारोपण का समाचार दिया । रामजी ने अगले ही दिन लक्ष्मण को आदेश देकर सतीश्वरोमणि सीताजी का निष्कासन कर दिया ॥ ९ ॥

क्योंजी ! जब वासनाओं के अनुसार जन्म होता है और कर्म के अनुसार वासनायें, तब यह बतायें कि प्रथम जन्म कौनसी वासनाओं से हुआ ? आरम्भिक जन्म कौनसे कर्मफल भोगने के लिये हुआ ? इस शंका को दृष्टि में रखकर कहते हैं—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासाम् = उन वासनाओं की; अनादित्वम् = अनादिता है; आशिषः नित्यत्वात् = क्योंकि प्राणी में (अपने) बने रहने की इच्छा नित्य अर्थात् अनादिकाल से; च = ही है ।

व्याख्या : वासनायें अनादि हैं । कोई नहीं कह सकता कि अमुक दिन, अमुक तिथि को वासना उत्पन्न हुई । जहाँ चित्त है वहीं वासना है । क्योंजी ! वासनाओं का अनादि होने में क्या प्रमाण है ? श्रवण करो । सभी प्राणियों की यह इच्छा होती है कि 'मा न भूवं भूयासम्' इति ।—'मेरा अभाव न हो । मैं रहूँ ।' यह आत्माशीः (अपने रहने की इच्छा) स्वाभाविक नहीं है । क्योंकि सद्योजात प्राणी, जिसने मरणत्रास अनुभव नहीं किया है, को मरने से भय लगता है । बच्चा यदि माँ की गोद से गिरता है तो भय से काँप जाता है । मरणभय की उत्पत्ति के लिए पूर्वानुभूत मरण-दुःख स्वीकार करना पड़ेगा । स्वाभाविक वस्तु में निमित्त कारण नहीं होता । अतः यह चित्त अनादि वासना से युक्त है । यह चित्त निमित्तवश किसी वासना का आलम्बन लेकर पुरुष को भोग देता है । अपनी स्थिति की चाह नित्य होने से किसी काल में उसका व्यभिचार नहीं होता, अतः सब वासनाएँ अनादि हैं ॥ १० ॥

यदि वासना अनादि है, तो अनन्त भी होगी । यदि वासना का अन्त नहीं है तो अमोक्ष का प्रसंग आ जायगा । इस पर कहते हैं कि वासना अनादि तो है, पर अनन्त नहीं है । इसका अन्त होता है ।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहोत्तत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः = हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन—इनसे; संगृही-
तत्वात् = वासनाओं का संग्रह होता है, इसलिये; एषाम् = इन (चारों) का;

अभावे = अभाव होने से; तदभावः = उन (वासनाओं) का भी (सर्वथा) अभाव हो जाता है ।

व्याख्या : यदि वासना का निवास-स्थान मिल जाय तो उस पर आक्रमण करके दुर्ग को नष्ट किया जा सकता है, वही खोजना चाहिए । सूत्रकार यही बात बताते हैं । यदि वासना का हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चारों का अभाव कर दिया जाय तो वासना का अभाव भी किया जा सकता है । अब वासना का हेतु श्रवण करो । वासनाओं का हेतु अविद्यादि क्लेश हैं तथा शुक्लकृष्ण और मिश्रित सकाम कर्म हैं । धर्म से सुख, अधर्म से दुःख; सुख से राग और दुःख से द्वेष होता है । राग-द्वेष से प्रयत्न अर्थात् मन, वाणी या शरीर के परिस्पन्दन (चेष्टा) से पुरुष किसी दूसरे पर अनुग्रह करता है या निग्रह (पीडन) करता है । उससे फिर धर्माधर्म कर्म, सुख दुःख और राग-द्वेष होते हैं । इस प्रकार छः अरों (धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष) से युक्त यह संसार-चक्र प्रवर्तित हो रहा है । इस निरन्तर चलनशील संसार-चक्र की नायिका (Leader नेत्री) अविद्या है । वही सब क्लेशों की मूल है, यही वासना का हेतु है । अब फल श्रवण करो । वासनाओं का फल जाति, आयु और भोग है । साधिकार मन वासनाओं का आश्रय है । अतृप्त वासनार्यें मन में संगृहीत रहती हैं । चरिताधिकार मन में, निराश्रय होने के कारण, वासना नहीं ठहर सकती । कर्माश्रय वासना का व्यञ्जक होता है । त्रह शब्दादि विषयों के साथ जाति-आयु-भोगरूप में व्यक्त होता है । शब्दादि विषयसमूह वासना के आलम्बन होते हैं ।

हेतु-फल-आश्रय-आलम्बन में वासनार्यें संगृहीत होती हैं । अविद्यामूलक चित्तवृत्ति वासनाओं का हेतु है । जाति, आयु तथा भोग से जनित जो अनुभव होता है, उसीका संस्कार वासना होता है । वासना का फल स्मृति है । स्मृति के फल का संस्कार वासना कहा जाता है । वासनाजनित जाति-आयु-भोगरूप में आकारित स्मृति का आश्रय लेकर धर्माधर्म कर्म अभिव्यक्त होते हैं । इस प्रकार स्मृति से फिर वासना होने के कारण स्मृति द्वारा वासना संगृहीत होती है । वासना का आश्रय साधिकार चित्त है । विवेकख्याति द्वारा अधिकार समाप्त होने पर उस चित्त में विवेकप्रत्ययमात्र रहता है । इसलिये अज्ञानवासना नहीं रह सकती । साधिकार चित्त अथवा विवेकख्यातिशून्य चित्त ही वासना का आश्रय है । अविद्या के अभाव होने से वासना का अभाव होता है । अविप्लवा विवेकख्याति अविद्यादि के अभाव का कारण है ॥ ११ ॥

क्योंजी ! असत् वस्तु का जन्म नहीं हो सकता और सत् वस्तु का विनाश नहीं हो सकता, तो आप बतायें कि वासना का अभाव कैसे हो सकता है ? उत्तर देते हैं—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

धर्माणाम् = धर्मों में; **अध्वभेदात्** = काल का भेद होता है, इसलिये; **अतीतानागतम्** = जो धर्म (कार्य, अविद्या, वासना, चित्तवृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं तथा जो अनागत हैं (जो अभी प्रकट नहीं हुए हैं) वे; **स्वरूपतः अस्ति** = स्वरूप से विद्यमान रहते हैं ।

व्याख्या : जो धर्म भविष्यत् काल में प्रकट होगा, उसे अनागत कहते हैं। जो धर्म प्रकाश में आ चुका है और पुनः अपने कारण में छिप गया है, उसे अतीत कहते हैं। कालमार्ग के भेद से धर्मों का भेद होता है। जो वासना प्रकट हो चुकी है, वह फिर अतीत काल में चली जाती है। जो वासना अभी प्रकट नहीं हुई है, वह अनागत काल में विद्यमान रहती है, क्योंकि सिद्धान्त यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का विनाश नहीं हो सकता। अतः वासना स्वरूप से अर्थात् धर्मरूप से विद्यमान रहती है। वस्तु-तत्त्व अपनी सत्ता को कभी नहीं खोता। कालभेद से वस्तु अतीत, वर्तमान तथा अनागत मार्ग का आश्रय लिये रहती है। कालभेद से धर्मों का ही परिणाम देखा जाता है। इसलिए अपवर्ग तक चित्त धर्मरूप से धर्मों में अनु-गत रहता है। जो असत् वस्तु है उसका अतीत अथवा अनागत रूप में कथन अथवा व्यवहार नहीं किया जा सकता ।

तात्पर्य यह है कि अतीत और अनागत भाव वस्तुतः सूक्ष्मरूप से रहते हैं, केवल कालभेद का आश्रय लेकर हम सोचते हैं कि अतीत और अनागत नहीं हैं। सर्वज्ञ के सामने अतीत अनागत नहीं रहते, सभी वर्तमान रहते हैं। जिसे सूक्ष्मता के कारण हम नहीं जान पाते, वही अतीत अनागत है ।

पूर्व सूत्र में वासना का अभाव कहा है। इसका अर्थ है वासना का अपने कारण में प्रलीनभाव। प्रलीन होने पर वे कभी ज्ञानपथ में नहीं आते, पुरुष के द्वारा उपदृष्ट नहीं होते। वासना के अभाव का अर्थ सदा के लिए अव्यक्त में स्थिति ।

क्योंजी ! यदि वासनाएँ स्वरूप से रहती ही हैं, तो मोक्ष कैसे होगा ? क्योंकि सत्ता तो केवल ब्रह्म की है। वासना की सत्ता मानने पर दो सत्ताएँ हो जायेंगी—एक ब्रह्म की, एक वासना की। श्रवण करो। वासना का निवास-स्थान मन है। मनोनाश होने पर वासना-नाश होगा, अर्थात् वासना को उद्दिष्ट होने का अवसर ही नहीं रहेगा। मनोनाश और वासनाक्षय से कैवल्य-स्थिति प्राप्त होती है। समस्त वासनाजाल का क्षेत्र प्रकृति ही है। वह एक है। पुरुषज्ञान होने पर प्रकृति पुरुष के सामने नहीं आती। सारे विकारसमूह नश्वर और तुच्छ हैं ॥ १२ ॥

योग का लम्बा-चौड़ा पोथा सुनाकर अब रहस्य की बात कहते हैं कि ये सब त्रिमार्गी धर्म गुणमात्र ही हैं, अन्य कुछ नहीं हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

ते = वे (समस्त धर्म) ; व्यक्तसूक्ष्माः = व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में (सदैव) ; गुणात्मानः = गुणस्वरूप ही हैं।

व्याख्या : क्योंजी ! यह नाना प्रकार का धर्मी-धर्म-अवस्था परिणाम-रूप विश्वभेद-प्रपञ्च केवल एक प्रकृति से कैसे हो सकता है, क्योंकि अविलक्षण कारण से सलक्षण कार्यभेद संभव नहीं हो सकता। इस शंका को देखकर सूत्रकार कहते हैं। ये सब त्रिमार्गी (अतीत, वर्तमान तथा अनागत अवस्थावाले) धर्म जब वे वर्तमान अवस्था में होते हैं तो व्यक्त कहे जाते हैं। जब वे अतीत और अनागत भाव में होते हैं तब वे सूक्ष्म कहे जाते हैं। इन सबका त्रिगुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। विश्वरूप प्रधान से यह अद्भुत परिणाम है। व्यक्त धर्म-पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा एक मन ये सोलह विशेष कहलाते हैं। सांख्यकारिका में इनका नाम विकार है। इनके स्थूल-सूक्ष्मरूप, कालमार्ग भेद से इनकी तीन अवस्थाएँ हैं। ये सब गुणरूप हैं। यह सारा धर्मसमूह सत्त्वादि गुणों के संयोग से उत्पन्न है। गुणों के विलीन होने पर ये भी विलीन हो जाते हैं। जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं होती और केवल मध्यावस्था में होती है, वह असत् होती है। भगवान् वेदव्यास ने वार्षांगण्य आचार्य के वचनों का अपने भाष्य में प्रमाण दिया है—

‘तथा च शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

—गुणों का परम (नित्य) रूप दिखाई नहीं पड़ता । जो दृष्टिगोचर होता है वा माया-सा है और अतितुच्छ है । योगाचार्य वार्ष्णेय के मत से यह प्रपञ्चप्रसार, इन्द्रियों और मन से ग्राह्य, अत्यन्त तुच्छ, अल्पसार है, स्थिरांश के अभाव से । तात्पर्य यह है कि दृश्यमान जगत् असत् है । इस कथन का प्रयोजन संसार से वैराग्य उत्पन्न करना है ॥ १३ ॥

क्योंजी ! जब व्यक्तसूक्ष्म धर्म, पदार्थ, गुण ही हैं, तो पदार्थों को अलग-अलग धर्मरूप कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामैकत्वात् = परिणाम की एकता से; वस्तुतत्त्वम् = वस्तु का वैसा होना सम्भव है ।

व्याख्या : अनेक कारणों से मिलकर जो कार्य प्रकट होता है, वह स्वरूप से एक होता है । जैसे मृत्तिका, जल, दण्ड, कुलाल-चक्र से निर्मित घट एक होता है । अनेक कारण होने पर भी उनका जो परिणाम होता है वह एक होता है । वही वस्तु है । दीपक, तैल, बत्ती, अग्नि, ये सब मिलकर एक परिणाम दीपशिखा को प्रकट करते हैं । कारण बहुत होने पर परिणाम में एकता है । यद्यपि सब दृश्यवर्ग त्रिगुणात्मक हैं, तो भी वे गुण परस्पर मिल-जुलकर काम करते हैं । कहीं सत्त्वगुण अंगी है अर्थात् प्रधान है और रजोगुण तथा तमोगुण गौण हैं । कहीं रजोगुण प्रधान है और सत्त्वगुण और तमोगुण गौण हैं, परन्तु उनके परिणाम की एकता से वस्तु की एकता कही जाती है । परिणाम की भिन्नता से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मवाली होती हैं; जैसे प्रकृति का परिणाम महत्तत्त्व, महत्तत्त्व का परिणाम अहंकार, अहंकार का परिणाम पञ्चतन्मात्रा इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्यों का मूल गुणत्रय है, परन्तु इन गुणों को आप विभाजित नहीं कर सकते । रज और तम के बिना सत्त्वगुण कार्य नहीं कर सकता, और न ही पहचाना जा सकता है । इसी प्रकार दूसरे गुणों को जानना । अतः ये तीनों गुण प्रत्येक परिणाम में अवश्य रहेंगे । गुण तीन होने

पर भी मिलित भाव से परिणाम को प्राप्त होते हैं। इसीलिये परिणत वस्तु एक ही है ॥ १४ ॥

क्योंजो ! यदि यह कहा जाय कि चित्त ही दृश्यस्वरूप है, क्योंकि चित्त के अभाव में दृश्यवर्ग नहीं रहता। सुषुप्ति में जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था के पदार्थ नहीं रहते। अतः चित्त ही वस्तु है। यह पक्ष ठीक नहीं। अगले सूत्र में विशद करते हैं।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुसाम्ये = वस्तु की एकता में (भी); चित्तभेदात् = चित्त का भेद प्रत्यक्ष है, इसलिये; तयोः = (चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु) इन दोनों का; पन्थाः = मार्ग; विभक्तः = अलग-अलग है।

व्याख्या : मान लो, कोई एक साधारण वस्तु है। बहुत से चित्त उसे देखते हैं। वह वस्तु एक चित्त द्वारा कल्पित नहीं है और न वह बहुत चित्त द्वारा कल्पित है। वह स्वप्रतिष्ठित है। वस्तु एक होने पर भी चित्तभेदों के कारण उसका भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है। एक स्त्री है। पुत्र के चित्त में मातृभाव है। पति उसको पत्नी जानता है, पिता पुत्रीभाव से देखता है। सिंह को वह मांसपिण्ड दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि चित्त और वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। यदि वस्तु को एकचित्त कल्पित कहें तो यह प्रश्न उठेगा कि कौन से चित्त से परिकल्पित है ? एक चित्त द्वारा कल्पित वस्तु दूसरे चित्त को उपरंजित कैसे करेगी ? अतः वस्तु और चित्त का सांकर्य सम्भव नहीं। उनके मार्ग भिन्न हैं ॥ १५ ॥

इसी पक्ष के समर्थन में दूसरा सूत्र देते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

च = इसके सिवा; वस्तु = दृश्य वस्तु; एकचित्ततन्त्रम् = किसी एक चित्त के अधीन; न = नहीं है (क्योंकि); तदप्रमाणकम् = जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी; तदा = उस समय; किं स्यात् = वस्तु का क्या होगा ?

व्याख्या : वस्तु एकचित्ततन्त्र (तन्त्र-कल्पित) नहीं होती । यदि वस्तु एकचित्तकल्पित होती, तो यदि वह चित्त व्यग्र हो, यानी विषयान्तर में लगा हो, घट छोड़कर पट में संलग्न हो, अथवा निरुद्ध हो गया हो, तो उस वस्तु का अभाव होना चाहिए, परन्तु वस्तु तो विद्यमान रहती है । अतः वस्तु एकचित्त-तन्त्र नहीं है । यदि वह पुनः उस वस्तु के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहे तो वह कहाँ से उत्पन्न होगी ? इसलिये वस्तु, विषय, पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है । प्रत्येक पुरुष में चित्त भी स्वतन्त्र हैं । दोनों में स्वतन्त्र शब्द भी आपेक्षिक ही है ॥ १६ ॥

क्योंजी ! यदि पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है, तो उसका ज्ञान सदा बना रहना चाहिये, परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि कभी तो वस्तु ज्ञात होती है, कभी अज्ञात । इसमें क्या कारण है ? अगला सूत्र कहते हैं—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तस्य = चित्त; **तदुपरागापेक्षित्वात्** = वस्तु के उपराग (अपने में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने) की अपेक्षावाला है, इस कारण (उसके द्वारा); **वस्तु** = वस्तु; **ज्ञाताज्ञातम्** = कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है यह सर्वथा उचित है ।

व्याख्या : चित्त का विषयों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है । वह विषयों को इन्द्रियों के माध्यम से जानता है । जब विषय को ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सामने उपस्थित करती हैं, तो उसका प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ता है । इसी-का नाम चित्त का उपरंजन होना है । जब विषय की छाया से चित्त रंगा जाता है, तब चित्त को विषय का ज्ञान होता है । विषय के सामने उपस्थित होने पर भी, चित्त के उपराग बिना, विषय का ज्ञान नहीं होता है । इसीलिये चित्त को कभी वस्तु का ज्ञान होता है, कभी वस्तु अज्ञात रहती है ।

क्योंजी ! विषय तो जड़ होता है । उसमें चित्त पर प्रकाश डालने का सामर्थ्य नहीं होता, तब वह चित्त को किस प्रकार उपरक्त करेगा ? श्रवण करो । यद्यपि विषय जड़ है तो भी इन्द्रियों के माध्यम से चित्त को उपरंजित करता है । सभी विषय चुम्बक पत्थर के समान हैं, वे चित्त को लोहे को भाँति उपरंजित करते हैं । विषय चित्त को देह से बाहर खींचकर नहीं लाता; बल्कि

विषय चित्त को वृत्ति द्वारा बहिर्मुख करता है। तब चित्त विषय का अनुभव करता है, अन्यथा नहीं। क्योंजी ! चित्त तो स्वयं जड़ है, वह कैसे अनुभव करेगा ? श्रवण करो। सूक्ष्मभूतों के सत्त्वांश से चित्त बना है। वह दर्पण की भाँति स्वच्छ है। वह आत्मा के प्रकाश से चेतनवत् हो जाता है, जैसे कि अग्नि में तप्त लोहपिण्ड दाहकवत् हो जाता है। चितिशक्ति से चेतनी-भूत होकर विषय से उपरंजित चित्त अनुभव करता है कि यह विषय मुझे ज्ञात है। जो विषय चित्त को उपरंजित नहीं करता, वह विषय चित्त के लिए अज्ञात रहता है ॥ १७ ॥

बाह्य जगत् को चित्त से भिन्न बताकर अब आत्मा और चित्त का भेद बताते हैं—

**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-
परिणामित्वात् ॥ १८ ॥**

तत्प्रभोः = उस (चित्त) का स्वामी; पुरुषस्य = पुरुष; अपरिणामित्वात् = परिणामी नहीं है, इसलिये; चित्तवृत्तयः = चित्त की वृत्तियाँ (उसे); सदा ज्ञाताः = सदा ज्ञात रहती हैं ।

व्याख्या : चित्त को विषयों का ज्ञान होता है, कभी नहीं भी होता है, परन्तु यह बताना चाहिये कि चित्त किसका विषय है ? श्रवण करो। पुरुष (आत्मा) को चित्तवृत्तियों का सदा ज्ञान रहता है। चित्तवृत्तियाँ पुरुष को कभी ज्ञात रहती हों, कभी अज्ञात रहती हों, ऐसा नहीं हो सकता। इसमें कारण बताते हैं। पुरुष अपरिणामी है। अपरिणामी पुरुष ही परिणामी चित्त को जान सकता है। चित्त चाहे जिस अवस्था में हो, क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्त-एकाग्रता किसी भी अवस्था में हो निरोधावस्था तक, वह वृत्तिसहित सदा पुरुष से अनुभूयमान होता है। पुरुष अपरिणामी होता है। वह चित्त का स्वामी है। चित्त से भिन्न और चित्त का द्रष्टा है ॥ १८ ॥

क्योंजी ! क्या चित्त स्वयंप्रकाश है तथा अन्य विषयों का भी प्रकाशक है ? अगले सूत्र में उत्तर देते हैं—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

तत् = (वह चित्त); स्वाभासम् = स्वप्रकाश (प्रकाशस्वरूप); न = नहीं है; दृश्यत्वात् = क्योंकि वह दृश्य है ।

व्याख्या : आत्मा के प्रकाश से सारा जगत् प्रकाशित है । उसका प्रकाशक कोई नहीं । वह स्वयंप्रकाश है, परन्तु चित्त स्वयंप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है । पुरुष का विषय है, वह पुरुष के प्रकाश से प्रकाश्य है और पुरुष का ज्ञेय है । अग्नि का दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता । दृष्टान्त इस प्रकार है । अग्नि अपने को प्रकाशित करता है तथा आसपास को वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है । ऐसे ही चित्त भी स्वाभास है तथा विषयों को भी प्रकाशित करता है । दृष्टान्त के दोष देखो । अग्नि जड़ है, उसको अपना ज्ञान नहीं । वह दूसरे का दृश्य है । उससे प्रकाशित वस्तुएँ भी जड़ हैं, उनका द्रष्टा भी दूसरा है । तात्पर्य यह है कि चेतन पुरुष ही स्वप्रकाश है । स्वप्रकाश वस्तु एक ही होती है । पुरुष चित्त के भाव को जाग्रत और स्वप्नावस्था में साक्षी-रूप से जानता है तथा सुषुप्ति में चित्त के अभावरूप को जानता है । जो-जो दृश्य है, वह-वह द्रष्टा से प्रकाश्य है । चित्त भी दृश्य है, इसलिये स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता । 'पुरुषो विषयी नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः' (अनुगीता) । पुरुष सदा विषयी रहता है और चित्त सदा उसका विषय होता है ॥ १९ ॥

यदि मान लिया जाय कि चित्त अपना भी ज्ञान रखता है तथा विषयों का भी ज्ञान रखता है, तो इसमें क्या दोष हो सकता है ? अगले सूत्र में इस शंका का निवारण करते हैं—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

च = तथा; एकसमये = एक काल में; उभयानवधारणम् = (चित्त और उसका विषय)—इन दोनों के स्वरूप को जानना भी नहीं हो सकता ।

व्याख्या : चित्त को स्वप्रकाश मानने में दूसरा दोष दिखाते हैं । एक ही क्षण में चित्त को अपना ज्ञान तथा चैत्य यानी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता । जब चित्त विषय की ओर जाता है, तो उसे अपनी विस्मृति हो जाती है । जब चित्त को अपना ज्ञान होता है, तब वह विषयाभिमुख नहीं हो

सकता । एक ही क्षण में चित्त अपना ज्ञान तथा विषय का ज्ञान नहीं धारण कर सकता । इसलिये चित्त को स्वाभास कहना अप्रामाणिक है । चित्त को विषय करनेवाला, स्वयंप्रकाश द्रष्टा, चित्त से भिन्न, चित्त का प्रभु है ॥ २० ॥

क्योंजी ! यदि यह मान लिया जाय कि एक चित्त तथा उसके विषय को दूसरा चित्त ग्रहण कर सकता है, तब एक ही काल में चित्त और उसके विषय का अवधारण हो सकता है अर्थात् द्रष्टा पुरुष की अपेक्षा नहीं पड़ेगी । चित्त से सब कार्य सिद्ध हो जायेंगे । इस पक्ष का दोष अगले सूत्र में बताते हैं—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

चित्तान्तरदृश्ये = एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मान लेने पर; बुद्धिबुद्धेः अतिप्रसङ्गः = वह चित्त फिर दूसरे चित्त का दृश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था दोष होगा; च = और; स्मृतिसंकरः = स्मृतियों का मिश्रण होगा ।

व्याख्या : इस सूत्र में एक बार चित्त पद तथा दो बार बुद्धिपद आया है । प्रथम बुद्धि पद यहाँ चित्त के अर्थ में आया है । दूसरा बुद्धि पद ज्ञान के अर्थ में आया है ।

यदि एक चित्त चित्तान्तर से प्रकाशित हो तो उस चित्त का प्रकाशक-चित्त किस अन्य चित्त से प्रकाशित होगा ? तब तो यह कहना पड़ेगा कि वह चित्त भी फिर अन्य चित्त से प्रकाशित होगा, फिर वह चित्त भी अन्य चित्त से प्रकाश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था या अतिप्रसंग दोष होगा । दूसरा दोष स्मृतिसांकर्य होगा । चित्तप्रकाशक जितने चित्तों का अनुभव होगा, उतनी ही स्मृतियाँ होंगी । उनके सांकर्य (मेल) से किसी एक स्मृति का शुद्ध रूप से अवधारण न हो सकेगा ।

बुद्धि और पुरुष का विवेक ही हानोपाय है । इनके भेद को गुरु और शास्त्रमुख से जानकर फिर समाधिबल से उनकी भिन्नता का सम्यक् साक्षात्कार करने पर ही सम्यक् विवेकख्याति उत्पन्न होती है । सूत्रकार ने इसी प्रयोजन से चित्त और पुरुष का भेद युक्ति से दिखाया है ॥ २१ ॥

क्योंजी ! यदि चित्त स्वप्रकाश नहीं है तथा दूसरा चित्त उसको प्रकाशित भी नहीं कर सकता तब आप बतायें कि आत्मा चित्त का अनुभव

किस प्रकार कर सकता है ? आत्मा, स्वप्रकाश होने पर भी, निष्क्रिय ही है। क्रियारहित होने से वह कर्ता भी नहीं हो सकता। आत्मा असंग होने से चित्त से सम्बन्धरहित है। तब आप बतायें कि आत्मा चित्त का अनुभव किस प्रकार कर सकता है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं। यह महान् रहस्योद्घाटन है।

चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

चित्तेः अप्रतिसंक्रमायाः = यद्यपि चेतन-शक्ति (पुरुष) क्रिया से रहित और असंज्ञ है, तो भी; **तदाकारापत्तौ** = तदाकार हो जाने पर; **स्वबुद्धि-संवेदनम्** = (उसे) अपनी बुद्धि का (चित्त का) ज्ञान होता है।

व्याख्या : चित्तिशक्ति या आत्मा अप्रतिसंक्रमा यानी अन्यत्र संचार-शून्या है। क्यों ? इसलिये कि वह अनन्त है। उसने सब देश-काल-वस्तु को पूरित कर रखा है। कोई रिक्त स्थान नहीं है जहाँ उसे जाना हो। वह अखण्ड-एकरस है यानी अपरिणामी है। परन्तु वह बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसको चेतन की भाँति कर डालती है। बुद्धि आत्मा के अत्यन्त समीप है। वास्तव में चित्तिशक्ति बुद्धि में संक्रान्त नहीं होती है। परन्तु भ्रान्तिवश संक्रान्त-सी प्रतीत होती है, आत्मा के स्वरूप के अज्ञान के कारण। आत्मा की चेतनता से युक्त बुद्धिवृत्ति के अनुकारमात्र-सा आत्मा हो जाता है। चित्तिशक्ति का स्वबुद्धिसंवेदन क्या होता है ? श्रवण करो। चित्ति को अपनी बुद्धि का ज्ञान तब होता है, जब बुद्धि के साथ उसकी तदाकारता-सी हो जाती है। चेतन का प्रकाश पाकर बुद्धि अपने को चेतन होने का अहंकार करती है। तभी 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार बुद्धिवृत्ति उदित होती है। आत्मा के साथ तादात्म्य-सा हुए बिना यह बुद्धि उत्थित नहीं हो सकती। जो १.४ सूत्र में कहा है कि 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।' व्युत्थान-दशा में आत्मा वृत्तियों के समान रूपवाला-सा प्रतीत होता है। वही बात यहाँ भी कही है। बुद्धि में चेतन की छाया पड़ने से बुद्धि आत्माकारवत् हो जाती है। बुद्धि की अनुकारमात्रता के कारण बुद्धिवृत्ति के साथ अविशिष्टा (तादात्म्यता-सी प्राप्त हुई) चित्तिशक्ति ज्ञानवृत्ति कही जाती है। सूत्र २.२० में भी ऐसा ही उक्त हुआ है। 'ब्रष्टा

बुद्धिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।' द्रष्टा (आत्मा) केवल दर्शनशक्ति है, अनुभवरूप है, परन्तु शुद्ध होता हुआ भी वृत्तियों के अनुसार देखनेवाला है। जैसी बुद्धिवृत्ति वैसा ही आत्मा हो जाता है, वास्तव में नहीं।

दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अमल जल में पड़ने पर वह चन्द्रमावत् भासित होता है। जल के हिलने-डुलने से चन्द्र-प्रतिबिम्ब भी हिलता-डुलता है। यद्यपि चन्द्रमा में कोई हिलन-डुलन नहीं है, तो भी अविवेकी जन प्रतिबिम्ब की चंचलता चन्द्रबिम्ब में आरोपित करते हैं कि चन्द्रमा हिलता है। इसी प्रकार आत्मा में कोई क्रिया नहीं है, तो भी बुद्धिवृत्ति, जिसमें आत्मा के प्रतिबिम्ब का संचार है, अपने परिणाम को आत्म-बिम्ब में, मूर्खों के लिये दिखाती है, क्योंकि वास्तव में आत्मा में कोई क्रिया नहीं है, केवल बुद्धिवृत्ति में क्रिया है। इस सम्बन्ध में भगवान् भाष्यकार ने यह श्लोक कहा है—

‘न पातालं न च विवरं गिरीणां
नेवान्धकारं कुक्षयो नोदधोनाम् ।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां क्वयो वेदयन्ते ॥’

—जिस गुफा में शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित है, वह गुफा न तो पाताल है, न पर्वतों की गुफा है, न अन्धकार है, न समुद्रों में छिपे हुए अन्तराल विवर हैं, किन्तु प्रतिबिम्बित चेतन से चेतनीभूत हुई, चेतन से अभिन्नता का अहंकार करती हुई जो बुद्धिवृत्ति है, उसीको कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगुहा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बुद्धि में अहंभाव ही ब्रह्मगुफा है। स्वभावतः प्रकाशशीला परन्तु परिणामी यह अहंबुद्धि, अपरिणामी आत्मा (ज्ञाता) की शक्ति से प्रकाशित है। अहंभाव का विश्लेषण करने पर शुद्ध ज्ञाता आत्मा और परिणामी ज्ञेय इन दो भावों का लाभ होता है। ज्ञाता के द्वारा अहंभाव प्रकाशित होने के कारण ‘मैं ज्ञाता हूँ, भोक्ता हूँ’ ऐसा अभिमानभाव होता है। यही चैतन्य की बुद्धिसादृश्यता ‘तदाकारापत्ति’ कही जाती है। चेतन में इस बुद्धि का ज्ञान ही स्वबुद्धिसंवेदन है। पिछले आठ सूत्रों में चित्त को जगत् और दृश्य से भिन्न बताया है ॥ २२ ॥

क्योंजी ! किसीको यह भ्रान्ति होती है कि चित्त स्वयंप्रकाश है, किसीको यह भ्रान्ति होती है कि चित्त ही जगदाकार है। आप यह बतायें कि इस भ्रान्ति का क्या कारण है ? सूत्रकार अगले सूत्र में इस शंका का निवारण करते हैं—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तम् = द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों से रंगा हुआ; चित्तम्=चित्त; सर्वार्थम् = सब अर्थवाला हो जाता है ।

व्याख्या : चित्त द्रष्टा यानी पुरुष से उपरक्त होता है । साथ ही दृश्य से भी उपरक्त होता है । द्रष्टा से उपरक्त होने का अर्थ है कि चेतन पुरुष के सान्निध्य में चित्त पुरुषरूपता-सी को प्राप्त होता है, यानी चैतन्यवत् प्रकाशवान् होता है । जैसे सूर्यबिम्ब के समक्ष दर्पण सूर्यवत् प्रकाश फैकता है वैसे ही चित्त यद्यपि जड़ है, तो भी सत्त्वगुण के अतिरेक से पुरुषप्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है । दृश्य से उपरक्त होने का अर्थ है कि बाह्य विषय इन्द्रिय-प्रणाली के द्वारा भीतर चित्त पर प्रतिबिम्बित होता है । तब चित्त विषयाकार हो जाता है यानी विषयाकार में परिणत हो जाता है । इस प्रकार द्रष्टा, पुरुष तथा दृश्य, शब्दादि विषय, इन दोनों से उपरंजित होकर सर्व अर्थवाला यानी पुरुष को भोग और अपवर्ग देनेवाला होता है । तब यह चित्त आत्मवृत्तिद्वार से पुरुष के सम्बन्ध से द्रष्टा से उपरक्त होता है । 'मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ' इत्यादि प्रकार से स्फुरित होता है । वह दृश्य, जैसे नील-पीत गौ से भी उपरंजित होता है । मैं नीली-पीली गाय देखता हूँ, इस प्रकार का चित्त पुरुष नहीं हो सकता । चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब, यद्यपि जल में स्वतंत्रता से देखा जा सकता है, तो भी वह चन्द्रमा नहीं होता । जो सर्वार्थक चित्त को आत्मा से भिन्न जानते हैं, उनको विवेकख्याति सिद्ध हो जाती है । जिसका चेतन-अचेतन अर्थ विषय हो, वह चित्त सर्वार्थ होता है ।

सरलता से इस प्रकार समझना चाहिये । एक तो चित्त का अपना स्वरूप । दूसरा, विषय से उपरंजित चित्त । तीसरा, पुरुष की समीपता से पुरुष प्रतिबिम्ब से रंगा हुआ चित्त ।

चित्त का अपना स्वरूप—चित्त-तत्त्व तीनों गुणों का पहला और प्रधानतः सात्त्विक परिणाम है । सात्त्विक होने के कारण स्फटिक मणि की भाँति पारदर्शी (Transparent) है । यह चित्त का अपना रूप है ।

जब कोई बाह्य पदार्थ चित्त के सम्मुख, इन्द्रिय-माध्यम से, आता है तो चित्त उसके रंग में रंगा जाता है, यानी तदाकार हो जाता है । इसलिये पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है ।

पुरुष के सान्निध्य में यह चित्त द्रष्टा चेतन पुरुष के रंग में रंगा हुआ

प्रतीत होता है। इसलिये तदाकार हुआ चित्त द्रष्टा-सा प्रतीत होता है। वास्तव में चित्त, दृश्य विषय से तथा द्रष्टा पुरुष से सर्वथा भिन्न है। तो भी कुछ विद्वान् चित्त की सर्वार्थता के कारण चित्त को ही चेतन द्रष्टा मानने लगते हैं और कहते हैं कि चित्त से भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है। कुछ अन्य विद्वान् कहते हैं कि चित्त से भिन्न कोई दृश्य विषय नहीं है। चित्त ही दृश्य है। ये दोनों भ्रान्त मान्यतायें हैं। चित्त विषय से तथा द्रष्टा से भिन्न है। ये भ्रम, समाधि में पुरुष के अपने स्वरूप में स्थिर होने पर, नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

द्रष्टा परिणामशून्य है। चित्त से ही सब व्यवहार चलते हैं। चित्त ही सब वासनाओं का आश्रय है। तब क्यों न चित्त को ही चेतन पुरुष मान लिया जाय। इस शंका का समाधान करते हैं—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तत् = वह (चित्त); असंख्येयवासनाभिः = असंख्येय वासनाओं से; चित्रम् अपि = चित्रित होने पर भी; परार्थम् = दूसरे के लिये है; संहत्य-कारित्वात्=क्योंकि यह संहत्यकारी (मिल-जुलकर कार्य करनेवाला) है।

व्याख्या : अनादिकाल से चली हुई असंख्य वासनाओं से यह चित्त चित्रित है। अनन्त वासनाओं के संस्कार इस चित्त में रहते हैं। तो भी यह चित्त परार्थ यानी पुरुष, अपने स्वामी के भोग तथा अपवर्ग के लिये है। क्यों ? इसलिये कि यह चित्त संहत्यकारी है। देहेन्द्रियादि के मेल से पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये कार्य करता है। जो भी कोई वस्तु मिल-जुलकर कार्य करती है, पर परार्थ होती है, जैसे घर। घर बनाने में ईंट, मिट्टी, लोह, चूनादि का संयोग होता है। घर घर में नहीं बसता, कोई दूसरा ही बसता है। अतः चित्त भोक्ता नहीं है, भोग्य है और परार्थ है।

संहति से यानी प्रकृति के तीन गुणों से निर्मित चित्त, तीनों गुणों के मेलजोल से कार्य करता है, अतः वह चित्त स्वार्थ के लिये नहीं हो सकता। सुखाकार चित्त अपने सुख (भोग) के लिये नहीं हो सकता, ज्ञानाकार चित्त अपने अपवर्ग के लिए नहीं हो सकता। यह दोनों प्रकार का भोगार्थ और ज्ञानार्थ चित्त परार्थ ही हो सकता है। जो भोग तथा अपवर्गरूप अर्थ द्वारा अर्थवान् है, वही परम पुरुष है, वही असंहत केवल पुरुष है। इस लोक में

कोई भी संहत्यकारी वस्तु स्वार्थ के लिये नहीं देखी गई है । पुरुष संहत्यकारी नहीं है ॥ २४ ॥

अब अगले दश सूत्रों में कैवल्य (जो कि सारे शास्त्र का फल है) के निर्णय के लिए उपक्रम करते हैं—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेषदर्शिनः = विशेषदर्शी की; आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः = आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है ।

व्याख्या : क्योंजी ! विशेषदर्शी किसको कहते हैं ? श्रवण करो । जैसे वर्षाकाल में फास-फूस उगा हुआ देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि अवश्य ही इनके बीज थे, उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मोक्षसंबन्धी ज्ञानवार्ता सुनकर रोमांचित हो जाता है और हर्षातिरेक से अश्रुपात हो जाता है, उससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस व्यक्ति ने पूर्वजन्मों में योग के अष्टांगों का अनुष्ठान किया है, क्योंकि योगसाधन विवेकज्ञान के बीज और अपवर्ग के साधन होते हैं । क्रियायोग के अभ्यास से तथा वैराग्य और तत्त्व-अभ्यास से भी यही स्थिति प्राप्त होती है । इन साधकों में विशेषदर्शन की योग्यता होती है । जिन्होंने युक्ति से पुरुष और चित्त का भेद जान लिया है और तत्पश्चात् विवेकख्याति से पुरुष (आत्मा) और चित्त (अनात्मा का) के भेदज्ञान का साक्षात्कार कर लिया है, वे विशेषदर्शी होते हैं । उनकी आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है ।

क्योंजी ! आत्मभाव-भावना क्या होती है, और किसको होती है ? श्रवण करो । जिसने योगांगों का अभ्यास पूर्वजन्मों में कर लिया, जिनको मोक्ष-सम्बन्धी ज्ञान सुनकर अपार हर्ष होता है, उन व्यक्तियों को आत्मभाव-भावना यानी आत्मजिज्ञासा स्वाभाविक होती है । 'मैं कौन था ? मैं मनुष्य था कि पशु था ? मैं कैसा था ? सुखी था कि दुःखी था ? यह देह क्या है ? यह कैसे बना ? आगे मेरा क्या होगा ?' इत्यादि प्रकार के गवेषणात्मक प्रश्न, आत्मभाव की चिन्ता, उनके मन में उठते ही हैं । जिन्होंने पूर्वजन्मों में योगाभ्यास नहीं किया है उनको आत्मभावभावना नहीं उठती, उनको आत्मज्ञान-सम्बन्धी उपदेश में रुचि नहीं होती । उनको ब्रह्मज्ञान का उपदेश नहीं देना

चाहिये। आत्मभावभावना की निवृत्ति किस प्रकार होती है ? उनको विवेक-ख्याति से यह निश्चय हो जाता है कि ये भावरूप विचित्र परिणाम चित्त के घर्म हैं। चित्त में सुख-दुःख हैं, बन्धमोक्ष हैं, ये सब अविद्याजनित हैं। पुरुष (आत्मा यानी मैं स्वयं) अविद्याशून्य होने से शुद्ध, पापपुण्यविवर्जित हूँ। जन्म-मरण-सुख-दुःखादि चित्तघर्मों से मैं आत्मा असंस्पृष्ट हूँ। इस प्रकार कुशल विवेकदर्शी को आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है। मुण्डक श्रुति में कहा है कि जीव और ईश्वर दो पक्षी समान पंखोंवाले हैं, परस्पर सखा हैं, एक समान वृक्ष (देह) पर बैठे हैं। उनमें से एक तो (जीव) स्वादु फलों को (कर्मभोगफलों को) खाता है। दूसरा बिना खाये ही केवल साक्षीरूप से देखता है। पहला पुरुष मोहवश अपनी शक्तिहीनता का शोक करता है, परन्तु जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वह दूसरा पक्षी वह स्वयं ही है तब वह 'वीतशोक' हो जाता है। अपने को अनुभव से आत्मा जानकर संसार के सब उपद्रवों से मुक्त होकर साधक मोद मनाता है। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्व-मनुष्यतः। ('ईशावास्य')—जिस स्थिति में ज्ञानी के लिये समस्त भूत आत्मरूप ही हो जाते हैं, उस स्थिति में उस एकात्मदर्शी को क्या मोह और क्या शोक रह सकता है, अर्थात् उसके मोह और शोक निवृत्त हो जाते हैं।

आत्मभावभावना को आत्मजिज्ञासा कहते हैं। जब ब्रह्मजिज्ञासा उदित होती है, तब यह समझ लेना चाहिये कि इसके दुष्कर्म शेषप्राय हो गये हैं। तब वह जिज्ञासु इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर की खोज में रहता है। श्रीशंकर-भगवत्पाद अपने ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में इस प्रकार बताते हैं—

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य विद्यते ।

उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥ १२ ॥

—'मैं कौन हूँ ? यह संसार किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? इस जगत् का कर्ता कौन है ? इस सृष्टि का उपादान कारण क्या है ?' आत्मजिज्ञासा-सम्बन्धी यह विचार इस प्रकार का होता है। ये चार प्रश्न हैं। इनका उत्तर जान लेने पर मुक्त हो जाता है। अपरोक्षानुभूति ग्रन्थ में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर हैं।

† वा सुपर्णा सयुजा सखाया,

समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्-

नक्षन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ३.१.१ ॥ (मुण्डक)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽजीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ३.१.२ ॥ (मुण्डक)

विशेषदर्शन से आत्मजिज्ञासा समाप्त हो जाती है। क्यों ? श्री शंकर-भगवत्पाद अपने ग्रन्थ ब्रह्मानुचिन्तन में कहते हैं—

अहं विष्णु-रहं विष्णु-रहं विष्णु-रहं हरिः ।

कर्तृ-भोक्त्रादिकं सर्वं तदविद्योत्थमेव हि ॥ १२ ॥

मैं ही विष्णु (आत्मा) हूँ, मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही हरि (अज्ञानहर्ता) हूँ। कर्तापन-भोक्तापन तो अविद्या में ही उत्पन्न होता है। अविद्या नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। मैं अविद्या से रहित आत्मा हूँ। इस प्रकार के ज्ञान से आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

विशेषदर्शन के उदित होने पर चित्त की कैसी स्थिति होती है ? अगले सूत्र में श्रवण करो—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तदा = उस समय (योगी का); चित्तम् = चित्त; विवेकनिम्नम् = विवेक में झुका हुआ; कैवल्यप्राग्भारम् = कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या : भगवान् भाष्यकार ने १.१२ सूत्र के भाष्य में जो कहा था उसका स्मरण कराते हैं। भोगाभिमुख व्यक्तियों की चित्तवृत्ति का प्रवाह संसार-सागर की ओर जाता है। मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों की धारा विवेकमार्ग में बहती है।

संसारधारा को बन्द करने के लिए विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बंध लगाया जाता है। तब वह प्रवाह रुक जाता है और जल का स्तर ऊँचा उठता है, तब उसका सम्बन्ध कल्याणधारा की नीची नाली से कर दिया जाता है। तब चित्तवृत्तियों का समस्त प्रवाह कल्याणधारा में बहकर कल्याण-सागर में चला जाता है।

यहाँ वैराग्य की करामात दिखाई है। विषयों से विरक्ति होने पर जो पहले के द्वैतसंस्कारों का भार था, वह भार वैराग्य की कुशलता से हट जाता है। तब पहले के जो मोक्षसंस्कार थे वे अब सबल होकर, भारयुक्त होकर चित्तवृत्तियों को कैवल्यभिमुख कर देते हैं। भोगभार अब कैवल्यभार बन गया। उस भार से झुककर चित्तवृत्तियाँ मोक्षोन्मुख हो गईं। अब 'अहं

ब्रह्मास्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार चित्तवृत्तियाँ ब्रह्माकार होने लगीं। यानी अब सही ब्रह्माभ्यास होने लगा। वैराग्य के उपरान्त विवेक अपना कार्य करने लगा ॥ २६ ॥

क्योंजी ! विवेकप्रवाही चित्त में कभी-कभी व्युत्थानसंस्कार कहाँ से आते हैं ? श्रवण करो—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

तच्छिद्रेषु = उस (समाधि) के अन्तराल में; प्रत्ययान्तराणि = दूसरे पदार्थों का ज्ञान; संस्कारेभ्यः = पूर्वसंस्कारों से होता है।

व्याख्या : विशेषदर्शन के उत्पन्न होने मात्र से कृतार्थता नहीं मिलती है, क्योंकि विवेकी चित्त के अन्तरालों में व्युत्थानसंस्कार छिपे रहते हैं, वे कभी-कभी उत्पात करते हैं। जैसे विवेकशील संन्यासी के भिक्षाटन-काल में व्युत्थानसंस्कार उदित होते हैं।

जिससे प्रतीति हो उसे प्रत्यय कहते हैं, यानी चित्तसत्त्व। विवेकनिम्न चित्त अर्थात् चित्त और पुरुष की अन्यताख्याति मात्र से प्रवहणकारी चित्त के विवेकछिद्रों में यानी विवेक के बीच-बीच में अन्य वृत्तियाँ उठती रहती हैं, जैसे 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मेरा अमुक कर्तव्य है', 'मैं जानता हूँ', 'मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इसमें क्या कारण है ? श्रवण करो।

ये दूसरे प्रत्यय, यानी समाधि से भिन्न व्युत्थानवृत्तियाँ इसलिये बीच में उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति यानी विशेषदर्शन अभी अत्यन्त परिपक्व नहीं हुआ है। अनादिकाल से प्रवृत्त व्युत्थानसंस्कार यद्यपि क्षीण हैं, तो भी नष्ट नहीं हुए हैं। जब तक पुरुष और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्रबलता से रहता है तब तक उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर रहती है। जब इसमें शिथिलता आती है तो द्वैतसंस्कार या अहंकार जाग उठता है। इसलिये साधक को सावधान रहना चाहिये ॥ २७ ॥

क्योंजी ! इनके त्याग का क्या उपाय है ?

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

एषाम् = इन संस्कारों का; हानम् = विनाश; क्लेशवत् = क्लेशों की भाँति; उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या : जिस प्रकार प्रसंख्यानरूप अग्नि से अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि से क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं और नये अंकुर-उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रसंख्यान अग्नि से पूर्व के जन्मों के व्युत्थानसंस्कार दग्धबीज होकर व्युत्थान की वृत्तियों को नहीं उत्पन्न करते। ज्ञान-संस्कार चित्त की अधिकार-समाप्ति तक रहते हैं। अधिकार के समाप्त होने पर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के संस्कार से अविवेकसंस्कार दग्धबीजवत् होता है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा को ज्ञान-संस्कार कहा जाता है।

जिन उपायों से क्लेशों के नाश की बात २.१० योगसूत्र में कही थी, इन संस्कारों को भी ठीक उन्हीं उपायों से नष्ट करना चाहिये। जिनका विवेकज्ञान अपरिपक्व है, उनके अनष्ट व्युत्थानसंस्कार प्रत्ययान्तर यानी अन्य चित्तवृत्तियों को उत्पन्न कर सकते हैं। जिनका विवेकज्ञान यानी पुरुषान्यताख्याति परिपक्व है, उनके क्षीण व्युत्थानसंस्कार पुनः प्रत्ययान्तर नहीं उत्पन्न कर सकते। जैसे विवेकछिद्रों में भी उत्पन्न क्लेश संस्कारान्तरों को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसमें कारण सुनो। ये क्लेश विवेकज्ञान से दग्धबीज-भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार व्युत्थानसंस्कार भी जान लेना। इसलिये व्युत्थानसंस्कारों को विवेकज्ञानसंस्कारों से निरोध करना चाहिए। विवेकसंस्कारों को निरोधसंस्कारों से रोकना चाहिए। निरोधसंस्कारों की चिन्ता न करें। ज्ञानसंस्कार तो परवैराग्यसंस्कार होते हैं। अधिकार समाप्त होने पर चित्त के साथ ही निरोधसंस्कारों का नाश होता है। इसके लिए साधनचिन्ता की अपेक्षा नहीं ॥ २८ ॥

व्युत्थान के निरोध का उपाय विवेक-अभ्यासरूप प्रसंख्यान बताकर अब प्रसंख्यान के निरोध का उपाय धर्ममेघ समाधि का स्वरूप कहते हैं—

प्रसंख्यानोऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः

समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्याने अपि कुसीदस्य = जिस योगी का विवेकज्ञान में भी वैराग्य हो जाता है, उसका; सर्वथा विवेकख्यातेः = विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको; धर्ममेघः समाधिः = धर्ममेघसमाधि प्राप्त होती है।

व्याख्या : प्रसंख्यान—आत्मा-अनात्मा के भेदज्ञान का नाम प्रसंख्यान है। वेदान्त में इसे आत्मानात्माविवेक कहते हैं। 'जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूपवाले हैं उनका यथाक्रम विचार प्रसंख्यान कहलाता है।' (भोजवृत्ति) विवेकख्यातिजनित सर्वज्ञता सिद्धि को (३.५४) यहाँ पर प्रसंख्यान कहा है। विवेकख्याति की ओर झुके हुए अन्तःकरणवाला ब्राह्मण विवेकख्याति से उत्पन्न सर्वज्ञता, सर्वस्वामित्वादि सिद्धियों से भी विरक्त हो जाता है, उनके उपभोग से भी प्रयोजनरहित हो जाता है। अकुसीद कहते हैं विरक्त को। कुसीद का अर्थ होता है व्याज। व्याज से धन की वृद्धि करना। इसका विपरीत अकुसीद, अवृद्धिकार, विरक्त। सिद्धियों के प्रसाद को भी न चाहनेवाला ज्ञानी। सब काल में उसकी विवेकख्याति उदित रहती है। प्रत्ययान्तरों को उठने का अवकाश ही नहीं मिलता। जिसके विवेकछिद्रों में द्वैतभावनाएँ उठती रहती हैं, उस ब्राह्मण को सर्वथा विवेकख्याति नहीं होती। जब प्रत्ययान्तर, आत्मभाव से भिन्न चित्तवृत्तियाँ नहीं उठतीं तब वह ब्राह्मण, ज्ञानी सर्वथा विवेकख्यातिवाला होता है। तब उसको धर्ममेघसमाधि होती है। 'अति उत्तम, पुण्यपापरहित, परमपुरुषार्थसाधक धर्म' को जो मेघ वर्षा करता है, उसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं।'।

विद्यारण्यमुनि अपने ग्रन्थ पञ्चदशी में धर्ममेघ समाधि के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं—

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।

अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ १.५९ ॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधि योगवित्तमाः ।

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ १.६० ॥

—जिस संसार का आदि न हो, वह अनादि संसार। इस अनादि संसार में मनुष्य के पुण्यापुण्य कोटि-कोटि संचित कर्म होते हैं। इस समाधि से वे सब नष्ट हो जाते हैं। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे' (मुण्डक २.२८) ।

उस आत्मा का साक्षात्कार होने पर उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, पुनर्जन्म देने में असमर्थ हो जाते हैं। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माग्निः भस्मसात्कुर्वते' (गीता ४.३७) — ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं। क्योंजी ! क्या प्रारब्धकर्म भी ? हाँ, ज्ञानी की दृष्टि में दग्ध हो जाते हैं, अज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्धकर्म रह जाते हैं और सुखदुःखरूप फल देकर क्षीण होते हैं। ब्रह्म-साक्षात्कारी अतिथय योगज्ञजन इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ कहते हैं, क्योंकि यह समाधि धर्मलक्षणा सहस्रों अमृतधाराओं की वर्षा करता है।

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।

समूलोन्मूलिते पुण्यपापख्ये कर्मसंचये ॥ (१.६१)

—इस समाधि से अशेष वासनाजाल, अहंकार-ममांकार-कर्तृत्वाभिमान आदि विनष्ट होते हैं। पापपुण्यनामक कर्मसंचय निर्मूलित हो जाते हैं और 'करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते।' (१.६२) — हाथ पर रखे हुए आमलक फल की भाँति स्पष्ट प्रत्यक्ष ब्रह्मबोध उदित होता है।

ज्ञान की परिपक्व अवस्था को धर्ममेघसमाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति या प्रसंख्यान है। विवेकख्याति की परिपक्व स्थायी अवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा का नाम ज्ञानप्रसादनामक परवैराग्य है ॥ २९ ॥

अब धर्ममेघसमाधि का फल क्लेशकर्मनिवृत्ति बताते हैं—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

ततः = उस (धर्ममेघसमाधि) से; क्लेशकर्मनिवृत्तिः = क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

व्याख्या : धर्ममेघसमाधिलाभ से अविद्यादि पंचक्लेश तथा शुक्ल-शुक्ल कर्माश्रयसमूह समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्म की निवृत्ति होने पर विद्वान् जीवित रहते हुए भी विमुक्त होता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान, विपर्यय ही जन्म का कारण होता है। भगवान् अक्षपाद, गौतमाचार्य ने कहा है, बीतरागजन्मादशं नात्—जिसका राग-द्वेष नष्ट हो गया है, ऐसे किसी भी पुरुष का, कभी भी, किसी से भी जन्म नहीं देखा गया है। विवेकख्याति पुरुष का

जन्म असम्भव है, क्योंकि उसके कर्म दग्धबोजभाव प्राप्त होते हैं। वे नवीन अंकुर नहीं उठा सकते ॥ ३० ॥

धर्ममेघसमाधि प्राप्त होने पर चित्तज्ञान की कैसी स्थिति होती है ? अगले सूत्र में श्रवण करो—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तदा = उस समय; सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य = जिसके सब प्रकार के परदे और मल हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान; आनन्त्यात् = अनन्त (सीमारहित) हो जाता है, इस कारण; ज्ञेयम् अल्पम् = ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।

व्याख्या : धर्ममेघसमाधि से जब उत्तम धर्म की सहस्रों अमृतधाराएँ बरसती हैं, तब प्रकाशशील चित्तसत्त्व के सर्व आवरण दूर हो जाते हैं। क्योंजी ! चित्त के आवरण क्या होते हैं और वे ज्ञानशक्ति को कैसे संकुचित करते हैं ? क्लेशकर्म चित्त के आवरणक मल हैं। उन मलों के दूर होने पर चित्त की ज्ञानशक्ति अपरिमित, अनन्त, सीमारहित हो जाती है। जैसे शरद् ऋतु में बादल सूर्य को घेर लेते हैं और सूर्य-प्रकाश बादलों में से छन-छनकर जाता है। तब वह प्रकाश क्षीण रहता है। बादलों के हटने पर सूर्य का प्रचण्डप्रकाश पूरे यौवन से चमकता है और उसके प्रकाश में सब वस्तुएँ स्पष्ट भासित होती हैं। घटपटादि उस प्रकाश के सामने नगण्य, अल्प दिखाई पड़ते हैं। प्रकाश की अनन्तता से प्रकाश्य वस्तुएँ अल्प हो जाती हैं। चित्तरूप में परिणत सत्त्वगुण के आवरण रजोगुण, तमोगुण होते हैं। रजोगुण की क्रियाशीलता, चञ्चलता तथा तमोगुण की जड़ता चित्तसत्त्व के प्रकाशक ज्ञान को मर्यादित कर देते हैं। शरीरेन्द्रिय के संकीर्ण अभिमान से ज्ञानशक्ति में जड़ता तथा चञ्चलता से अस्थिरता आती है। इन सीमाओं से बद्ध ज्ञानशक्ति संकुचित हो जाती है। सम्यक् स्थिर तथा जड़तारहित ज्ञानशक्ति की सीमा अनन्त हो जाती है। ज्ञानशक्ति के असीम होने पर ज्ञेय अल्प हो जाता है। प्रचण्ड भास्कर के तेज के सामने जैसे खद्योत-प्रकाश अगणनायोग्य हो जाता है।

क्योंजी ! मान लो कि धर्ममेघसमाधि ने क्लेशकर्मों की निवृत्ति कर दी, तो भी त्रिगुणात्मक चित्त तो रहता है। तब प्राणी का पुनर्जन्म क्यों नहीं

होता ? श्रवण करो । अदग्धसंचित कर्म अगले जन्म के कारण हैं । इनके निवृत्त होने पर भी यदि तुम कहो कि जन्म होना ही चाहिए तब तो इसका यह अर्थ होगा कि कारण के बिना ही कार्य होता है, तब तो भगवान् वेदव्यास द्वारा अपने भाष्य में उद्धृत श्रुति का उदाहरण भी सम्भव होगा । श्रुति इस भाँति है—

‘अन्धो मणिमविध्यत्तम-नङ्गुलिरावयत् ।

अग्नीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तम-जिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥’

(तैत्तिरीय आरण्यक, १.११)

—अन्धे ने मणियों में छेद किया है । अंगुलिहीन ने उसे गूँथा है, ग्रीवाहीन पुरुष ने उस माला को गले में धारण किया है । गूँगे ने (बिना जीभवाले ने) उसकी प्रशंसा की है ।

जैसे ऊपर लिखा उदाहरण असम्भव है उसी प्रकार क्लेशकर्म से निवृत्त योगी का पुनर्जन्म भी असम्भव है ॥ ३१ ॥

क्योंजी ! धर्ममेघसमाधि की पराकाष्ठा ज्ञानप्रसादमात्र परवैराग्य होता है । परवैराग्य व्युत्थानसमाधि-संस्कारों को तथा क्लेशकर्माशयों को समूल नष्ट कर देता है । तब गुण तो स्वयं ही विकारकरणशील हैं । वे इस प्रकार के पुरुष को भी देहेन्द्रियादि क्यों नहीं आरम्भ करते ?

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

ततः = उसके बाद; कृतार्थानाम् = अपने काम को पूरा कर चुकनेवाले; गुणानाम् = गुणों के; परिणामक्रमसमाप्तिः = परिणामक्रम यानी परिणाम-सम्बन्धी सिलसिले की समाप्ति हो जाती है ।

व्याख्या : ऊपर उठाई हुई शंका का इस सूत्र में उत्तर देते हैं । धर्ममेघ-समाधि का फल है—क्लेशकर्म की निवृत्ति, ज्ञान का चरम उत्कर्ष तथा गुणों के अधिकार या परिणामक्रम की समाप्ति । धर्ममेघसमाधि के उदित होने पर पुरुष (साधक) कृतार्थ हो जाता है । उसके जो करने के लिए कर्तव्य थे वे पूरे हो जाते हैं । ऐसे पुरुषों के प्रति गुणों का परिणाम होनेवाला चक्र बन्द हो जाता है । कृतार्थपुरुषों के प्रति भोग-अपवर्ग परिणाम नहीं होता । अखिल गुण परिणाम की समाप्ति नहीं होती, क्योंकि २.२२ सूत्र में कहा है ‘कृतार्थं प्रति

नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।'—जिस पुरुष का भोग-अपवर्गरूप कार्य पूर्ण हो गया है, उस पुरुष के प्रति नष्ट-से हुए भी गुण (दृश्यवर्ग) अकृतार्थ पुरुष के लिए नष्ट नहीं होते हैं ।

पुरुष को भोग और अपवर्ग देकर सत्त्वादि गुण अपना कार्य पूर्ण कर लेते हैं । गुणों का यह स्वभाव है कि कृतार्थ पुरुष के प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं होती । जिन गुणों का परिणामक्रम, चक्र, प्रवाह पूरा हो गया है, यानी जिन्होंने पुरुष को भोग और अपवर्ग देकर अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है, वे गुण क्षणभर भी अधिक टिकने को उत्साहित नहीं होते ।

यह बात भी दृष्टिभेद से कही गई है । विद्यार्थी-काल में शास्त्रीजी (संस्कृत-अध्यापक) व्याध और शृगाल का सम्वाद सुनाया करते । एक व्याध ने शृगाल पर बाण का सन्धान किया । शृगाल बोला—'हे भाई व्याध ! बाण मत छोड़ देना । जग-प्रलय हो जायेगा ।' व्याध हतबुद्धि-सा होकर बोला—'किस प्रकार जगत् का प्रलय होगा ?' 'मुझे अपने बिल में प्रवेश कर लेने दो, फिर बताऊँगा ?' शृगाल ने कहा । व्याध राजी हो गया । शृगाल ने बिल के भीतर से कहा—'यदि मैं मर जाता तो मेरे लिये तो जगप्रलय हो ही जाता । जो पुरुष मुक्त हो जाता है, उसके लिए तो संसार रहता नहीं । जो अमुक्त हैं, उनके प्रति मुक्त पुरुष की दृष्टि नहीं जाती ॥ ३२ ॥

क्योंजी ! यह परिणामक्रम क्या होता है ? अगले सूत्र में श्रवण करो—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणप्रतियोगी = जो क्षणों का प्रतियोगी है (और); परिणामापरान्त-निर्ग्राह्यः = जिसका स्वरूप परिणाम के अन्त में समझ में आता है, वह; क्रमः = क्रम है ।

व्याख्या : अब पूर्वसूत्र में कथित क्रम का शब्दार्थ कहते हैं । सबसे छोटे कालांश का नाम क्षण है । यह परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है, परन्तु वह पकड़ में नहीं आता । क्षणों की लगातार परम्परा को क्रम कहते हैं । परिणाम होते-होते एक ऐसी अवस्था आती है जब परिणाम होना बन्द हो जाता है, तब क्रम पकड़ में आता है । वेदव्यास भगवान् ने यह बात उदाहरण से इस प्रकार समझाई है । प्रतिक्षण होनेवाला परिणाम जब अन्त में स्थूल-

रूपता को प्राप्त होता है, तब ग्रहण होता है, परन्तु वह परिणाम एक क्षण में नहीं हुआ है। इससे अनुमान द्वारा जाना जाता है कि वह परिणाम सूक्ष्मरूप से प्रतिक्षण होते-होते अन्त में स्थूलरूप हुआ है। जैसे कोई वस्त्र कितना ही सुरक्षित क्यों न रखा जाय, वह एक समय पर ऐसा जीर्ण हो जायगा कि हाथ लगाते ही चूर-चूर हो जायगा। यह परिणाम एक क्षण में नहीं हुआ है, परन्तु प्रतिक्षण होते-होते बहुत से परिणामों का स्थूलरूप में होने पर वह दिखाई देने लगा है। परिणामों की एक धारा, बहाव या सिलसिला परिणाम का क्रम है। जब कोई नई वस्तु बनती है, तभी परिणाम आरम्भ हो जाता है। परिणाम के पहले क्षण को, जहाँ से क्रम आरम्भ होता है, पूर्वान्त कहते हैं। जिस क्षण में यह समाप्त होता है उसे अपरान्त क्षण कहते हैं।

यह क्रम धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम तीनों में पाया जाता है। यह परिणामक्रम गुणों में सदा होता रहता है। क्योंकी ! यदि ऐसी बात है तो नित्यगुणों में कैसे परिणाम होगा ? श्रवण करो। नित्यता दो प्रकार की है—(१) कूटस्थ नित्यता तथा (२) परिणामी नित्यता। कूटस्थ नित्यता-स्वरूप से सदा एक बना रहना। पुरुष यानी आत्मा की कूटस्थ नित्यता, अविचल नित्यता है। पुरुष अपरिणामी है। परिणामी नित्यता-स्वरूप से एक बने रहना, अवस्था में परिणाम होते रहना। गुणों की परिणामी नित्यता होती है। धर्मी गुणों की कोई अन्तिम सीमा नहीं है। परिवर्तन को प्राप्त होते हुए भी गुण नष्ट नहीं होते, परन्तु गुणों के परिणामों का (जैसे ज्ञानकर्मन्द्रिय, बुद्धि, शरीरादि का) अन्त देखा जाता है।

भगवान् भाष्यकार ने एक सुन्दर प्रश्न अपने भाष्य में उठाया है—‘सृष्टि और प्रलय के प्रवाहरूप गुणों में वर्तमान जो संसार है, इसके परिणामक्रम की समाप्ति होती है कि नहीं ?’ यह प्रश्न उत्तर देने के योग्य नहीं है। क्यों ? प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं—(१) एकान्त वचनीय ऐसा प्रश्न होता है जिसका उत्तर ‘हाँ’ या ‘ना’ में दिया जा सके, जैसे, ‘क्या जिसका जन्म हुआ है, वह मरेगा ?’ इसका उत्तर है, ‘हाँ’। (२) विभज्य वचनीय ऐसा प्रश्न होता है जिसका जवाब विभाग करके दिया जाय, जैसे, ‘क्या जो मरेगा, वह उत्पन्न भी होगा ?’ इसका उत्तर विभाग करके दिया जायगा—‘जिसका विवेकज्ञान उदित हो गया है और जो तृष्णारहित हो गया है, वह उत्पन्न नहीं होगा, अन्य उत्पन्न होगा।’ ‘क्या मनुष्य-जाति उत्तम है या नहीं ?’ उत्तर—‘मनुष्य-जाति पशु-जाति से उत्तम है, परन्तु देवताओं और ऋषियों की अपेक्षा से नहीं।’ (३) अवचनीय प्रश्न वह है जिसका उत्तर ‘हाँ’, ‘ना’ में देने योग्य न

हो, जैसे, 'यह संसार अन्तवान् है या अनन्त है ?' अवचनीय प्रश्न है, क्योंकि दोनों पक्षों में से कोई एक विशेष कहने योग्य नहीं है। परन्तु आगम प्रमाण से इसका उत्तर इस प्रकार है—ज्ञानियों का संसार अन्त को प्राप्त होता है, अज्ञानियों का संसार अनन्त है ॥ ३३ ॥

यहाँ यह कहा गया है कि गुणों का अधिकार समाप्त होने पर कैवल्य कहा जाता है, परन्तु अभी उस कैवल्य का स्वरूप बताना है, अतः अगला सूत्र कहते हैं—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा
वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥**

पुरुषार्थशून्यानाम् = जिनका पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे; गुणानाम् = गुणों का; प्रतिप्रसवः = अपने कारण में विलीन हो जाना; कैवल्यम् = कैवल्य है; स्वरूपप्रतिष्ठा = यही द्रष्टा की स्वरूपप्रतिष्ठा है; वा चितिशक्तिः इति = इसीको चितिशक्ति कह सकते हैं।

व्याख्या : जिन गुणों ने पुरुष के लिये भोग और अपवर्ग सम्पादन कर दिये हैं, और यह कार्य करके पुरुष के प्रयोजन से शून्य हो गये हैं, उन गुणों का जो प्रतिप्रसव है, यानी उदगम-स्थान की ओर संचार है, अर्थात् अपने कारणप्रधान या प्रकृति में लय होना कैवल्य कहा जाता है। क्योंजी ! कार्य से कारण में जाने का क्या क्रम है ? श्रवण करो। गुणों के व्युत्थान संस्कार, समाधिसंस्कार तथा निरोधसंस्कार मन में लीन हो जाते हैं, मन अस्मिता में और अस्मिता प्रकृति या प्रधान में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार गुणों का अपने घर में चला जाना, यानी जहाँ से सर्ग, जन्म हुआ था, उसी सर्ग यानी योनि (जन्म-स्थान) के प्रति चला जाना कैवल्य है। इसीको स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। फिर पुरुष का बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध नहीं होता। तब पुरुष की केवला चितिशक्ति रहती है। इसी प्रकार के अवस्थान को कैवल्य कहते हैं।

क्योंजी ! यह कैवल्य किसका कहा जाये, प्रकृति का या आत्मा का ? श्रवण करो। आत्मा तो अपरिणामी है। उसमें न कभी परिणाम हुआ, न होता है, न होगा, न हो सकता है, न किसी देश, काल में परिणाम होना संभव है। प्रकृति में ही परिणामक्रम होता है, उसीमें सर्ग और उसीमें प्रतिसर्ग, उसीमें

कैवल्य । बन्धमोक्ष बुद्धि के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं । क्योंजी ! प्रकृति तो जड़ है । जड़ वस्तु का क्या बन्धमोक्ष ? मान लो, सामने एक पाषाण-शिला पड़ी है । उसका क्या तो बन्ध, और क्या मोक्ष होगा ? श्रवण करो । यह ठीक है कि प्रकृति जड़ है, परन्तु आत्मा के सान्निध्य से जब प्रकृति चेतन-सी हो उठती है, तब वह क्रियाशील होती है । सृष्टि रचती है, बंधमोक्ष की व्यवस्था करती है, प्रलय करती है । गीता-वचन उद्धृत करते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ (९.१०)

—हे अर्जुन ! मेरी समीपता से यह मेरी प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत् की रचना करती है । इस हेतु से यह संसार परिणामशील है ।

आत्मा का, जिसे योगशास्त्र में पुरुष कहा है, जब बुद्धि के साथ अविद्या-संयोग से तादात्म्यभाव-सा होता है तब वह अपने को जीव समझने लगता है । उसे भी पुरुष (गौण आत्मा) ही कहते हैं । वह संसार से भयभीत होकर मुक्ति के लिये योग-साधना करता है । तब गुरु-कृपा से उसे विवेकख्याति प्राप्त होती है और वह आत्मा-अनात्मा का भेद जानने लगता है । प्रकृति का कैवल्य कहने से ऐसे बद्ध पुरुष (जीव) का कैवल्य समझना । क्योंजी ! आत्मा तो कभी बद्ध होता नहीं । हाँ, ठीक है; परन्तु अध्यासवश आत्मा अपने को भ्रांति से बद्ध समझने लगता है । पुरुष का प्रकृति से नितान्त अलग हो जाना मोक्ष है ।

क्योंजी ! पुरुष से अलग होकर प्रकृति कहाँ जाती है ? यह बात योगसूत्रों में नहीं बताई है । राजयोग यह बात बतायेगा । प्रकृति पुरुष के साथ अभिन्न हो जाती है । 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते सः आत्मा स विज्ञेयः ।' (माण्डूक्य श्रुति, ७) जहाँ सब प्रपञ्च शान्त हैं, जो मंगल-मय, अद्वैत है, (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की अपेक्षा से) जो चतुर्थ है, वह आत्मा है, उसे ही जानना चाहिये ।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं । पहले बताया था कि गुणों का प्रधान में लय होना कैवल्य है । अथवा इसे दूसरे प्रकार से भी कह सकते हैं । अपने स्वरूप में अवस्थित होना पुरुष का मोक्ष, कैवल्य है । क्योंजी ! महा-प्रलय में भी तो स्वरूपप्रतिष्ठा या चिति होती है । होती है, लेकिन यह पुरुष का मोक्ष नहीं है, क्योंकि मोक्ष की अवस्था में पुरुष का पुनः बुद्धि के सत्त्वगुण के साथ कभी सम्बन्ध नहीं होता । दधि से मक्खन अलग होने के

पश्चात् फिर दधि से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता । पुरुष को केवला चित्ति-शक्ति ही रहती है । उस चित्तिशक्ति का सदा ही केवला रहना कैवल्य है । चित्ति का स्वरूप अवाच्य है । कैवल्य-मोक्ष बुद्धि का होता है ।

क्योंजी ! दूसरों को यह कैसे पता लगेगा कि अमुक पुरुष की कैवल्य-स्थिति है ? यह स्वसंवेद्य विषय होने से दूसरों को नहीं पता लगेगा । वे अनुमान और लक्षणों से जान सकेंगे, साक्षात् नहीं ।

सारे योगसूत्रों में यही कहा है कि योग तो चित्तवृत्तिनिरोध होता है, परन्तु उसका फल कैवल्य है । वह फल कैसे मिलेगा ? विवेकख्याति के पश्चात् राजयोग की शरण में जाना होगा, तब उस आत्मा को निजस्वरूप जानेगा । पंचदशी से—

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक् परोक्षावभासिते ।

करामलकवद्-बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥ (१.६२)

—समाधि के प्रभाव से महावाक्य (अहं ब्रह्मास्मि) बन्धनरहित होकर (कर्मवासना के बन्धनों से छूटकर) आत्मा का, हाथ पर रखे आवले की भाँति, प्रत्यक्ष बोध करा देगा । पहले जिस ब्रह्म का गुह्यशास्त्र से परोक्षज्ञान हुआ था, उसका अब महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान करा देगा ।

क्योंजी ! कैवल्यप्राप्त योगी की कितनी लम्बी समाधि लगती है, अथवा कितने दिन के बाद समाधि से उठता है ? श्रवण करो । कैवल्यप्राप्त योगी समाधि से उठता ही नहीं । सूर्य उसके शरीर के रस शोषण कर लेता है । वायु उसके कर्ण-विवरों में वेणु बजाता है । वह ब्रह्म की प्रतिष्ठा महापवित्र देहविग्रह होता है । यह अवस्था ज्ञान की सप्तमभूमि है । उसके समस्त व्युत्थानसंस्कार चित्त के साथ ही नष्ट हो चुकते हैं । इस काल में विश्वभर में शायद ही कतिपय योगी कैवल्यावस्था प्राप्त हों । ऐसे विश्वाभरण ब्रह्ममूर्ति महामानवों को यह शरीरधारी करबद्ध होकर, पाँव टेककर प्रणाम करता है ।

क्योंजी ! क्या भगवान् वेदव्यास भी कैवल्यावस्थाप्राप्त योगी नहीं हैं ? श्रवण करो । भगवान् वेदव्यास त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के तेज से युक्त हैं । ये महामुनि सर्वज्ञ हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं । इनकी वाणी से साधकों को ज्ञान होता है । इनके ज्ञान का क्या ठिकाना ? ये सृष्टि के सब रहस्यों को जाननेवाले हैं । नारायण ने इन महर्षि को ज्ञानरक्षण का अधिकार दिया है । ये महात्मा कल्पजीवी हैं । अधिकार-समाप्ति तक ये वसुधा पर विचरते ही रहेंगे । ये सर्वकाल में मुक्त हैं । इनकी सहजसमाधि रहती है ।

ये जानते हैं कि कैवल्यावस्था में स्थिर होने पर फिर चित्तवृत्ति उठ नहीं सकेगी। इनके प्रबल ज्ञान से दीप्त सभी अवस्थाएँ इनको समान हैं, चाहे कर्मरत रहें, चाहे ज्ञानरत रहें, चाहे समाधिरत रहें—सब अवस्थाओं में ये जीवन्मुक्त हैं। ऐसे ही भगवान् सूर्य, भगवान् यमराज अधिकारयुक्त नियुक्त हुए हैं। ये सब ज्ञानमूर्ति हैं। उपचार से इनको कैवल्यावस्थाप्राप्त योगी कह सकते हो।

कैवल्यावस्था के अनुभव को कोई नहीं बता सकता। असल बात यह है कि चित्त स्वयं गुणों में मिल जाता है। चित्त अचित्त हो जाता है। तब कैवल्यावस्था प्राप्त होती है। कैवल्यस्थिति में न प्रकृति रहती है, न चित्त रहता है, न वृत्ति। उस अवस्था का अनुभव कौन बतायेगा ? ज्ञान की पंचमी भूमि के अनुभव को चौथी भूमि का ज्ञानी नहीं जान सकता। ज्ञान की छठी भूमि के अनुभव को पाँचवीं भूमि का ज्ञानी नहीं जान सकता। इसी प्रकार ज्ञान की सप्तमी भूमि के अनुभव को छठी भूमि का ज्ञानी भी नहीं जान सकता। सप्तमी भूमि का ज्ञानी ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति होता है। वह अवाच्य मौनपद है। कैवल्यस्थिति में योगी अधिक काल तक नहीं जी सकते, क्योंकि उनका व्युत्थान तो होता ही नहीं है।

ब्रह्मज्ञान तो चौथी भूमि में ही प्राप्त हो जाता है। इस भूमि के ज्ञानी का नया जन्म नहीं होता है। उसके संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं, परन्तु उसको जीवन्मुक्ति का आनन्द नहीं मिलता। ज्ञान की पाँचवीं, छठी तथा सप्तमी भूमियाँ जीवन्मुक्ति की भूमियाँ कहलाती हैं। योगिक शब्दावली में धर्ममेघ-समाधि को आप ज्ञान की चौथी भूमि कह सकते हो। ब्रह्मानन्द की दीर्घता और दृढ़ता से ज्ञानभूमियाँ उन्नत होती हैं। जीवन की सफलता तो धर्ममेघ-समाधि प्राप्त होने पर हो जाती है। ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!! ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर

महावेवान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी ओंकारा-

श्रमजो महाराज दण्डी के शिष्य तथा हरियाणानिवासी ब्रह्म-

कुलभूषण पण्डितप्रवर हेमराज शर्मा एवं महायश

मोहरली देवी के सुपुत्र पण्डित मनोहरलाल शर्मा

एम० ए० 'गुरुभक्त' 'अभिनव जनक'

द्वारा पातञ्जलयोगसूत्र कैवल्यपाद पर

ब्रह्मतरङ्गिणी प्रदीपिका समाप्ता ॥ ४ ॥





